भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ

भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ

[परिवर्तित एवं परिवर्द्धित]

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य भवन प्रा० लि०

इलाहाबाद

नवीन संस्करण : १९६२ ईसवी

पाँच रुपये मात्र
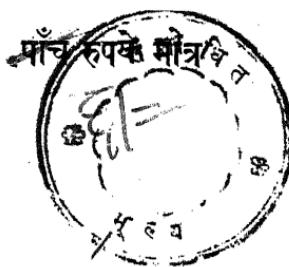
मुद्रक—यू० पी० प्रिंटिंग प्रेस, ४२, एडमॉन्स्टन रोड, इलाहाबाद ।

दृष्टिकोण

आज हम अपने राष्ट्र की जीवन-यात्रा के पथ पर एक महत्वपूर्ण स्थल तक आ पहुँचे हैं। हमारे सामने कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित हैं। आज हमें ऐसा लग रहा है कि हमारा भविष्य जो रूप ग्रहण करने जा रहा है वह हमारे पूर्व परिचित आदर्शों से कुछ विलक्षण भी हो सकता है। आधुनिक युग की भौतिक उन्नति ने जहाँ कई पिछड़े हुए देशों को अधिक आगे ला दिया है, वहाँ वह उन्नत देशों को सबके साथ पैर मिला कर चलने को बाध्य कर रही है। आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक्-पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित् ठीक उनके पूर्व रूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति वा समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी, अब किसी 'सार्वभौम तुला' पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी संबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिए केवल उसी को अपनाना होगा जो उसके अनुकूल हो। हमारी सभी बातें भावी मानव के आदर्शों का अनुसरण करेंगी और उसी दशा में उनका मूल्य सदा के लिए ठहर भी सकता है।

—लेखक

विषय-क्रम

आजीवकों का नियतिवादी संप्रदाय

'आजीवक' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में सभी विद्वान् लेखक एक ही मत व्यक्त करते हुए नहीं दीख पड़ते। बुर्नो (Burnonf) को इसका मूल रूप 'अजीव' शब्द जान पड़ा है जिसका अर्थ "किसी जीविका का अभाव" हो सकता है और इस आधार पर उन्होंने आजीवक उस व्यक्ति को बतलाया है जो दूसरों के दान पर निर्भर रहता हो। किन्तु लासेन (Lassen) ने भी, प्रायः इसी व्युत्पत्ति के अनुसार, आजीवक उस संन्यासी को कहा है जो किसी प्राणी का मांस नहीं खाया करता। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये लोग 'जीव' शब्द के पहले 'अ' उपसर्ग लगाकर उसकी वृद्धि कर देते हैं और इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि उस शब्द का एक पर्याय 'जीवक' भी हुआ करता है।[1] इसके विपरीत होर्नले (Hoernley) 'आजीवक' शब्द को 'अजीव' से ही सिद्ध करते हैं जिसका अर्थ वे कोई भी ऐसी जीवन-पद्धति वा जीविका ठहराते हैं जो न केवल गृहस्थ की, अपितु किसी धार्मिक साधु की भी हो सकती है। इसी कारण, आजीवक होना भी उनके अनुसार ठीक उसके उपयुक्त आचरण करने की ओर ही संकेत करता है। इस मत के प्रमाण में वे इस बात की ओर भी हमारा ध्यान दिलाते हैं कि आजीवक गोशाल

---

१. डा० ए० एल० बाशम : 'हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिन्स ऑफ दि आजीवकाज' (लूजक ऐंड कंपनी लिमिटेड, लंडन, सन् १९५१), पृ० १०१।

तथा उसके अनुयायियों को लोग 'व्यवसायी' वा 'पेशेवर' भी कहा करते थे। परन्तु इतिहास से पता चलता है कि 'आजीवक' शब्द के अर्थ की व्यापकता पहले केवल गोशाल और उनके अनुयायियों की ही उपाधि तक सीमित नहीं थी। इसके सिवाय 'पण्डरजातक' की कथा से प्रकट होता है कि एक बार पाँच सौ व्यापारी नौका लेकर समुद्र में उतरे, किन्तु सातवें दिन तक भी उन्हें कोई किनारा नहीं मिला। उनकी नौकाएँ टूट गईं और एक को छोड़कर अन्य सभी मच्छों के पेट में जा पहुँचे और वह भी हवा के वेग से किसी करम्बिय-पत्तन पर जा लगा। उसके पास कोई वस्त्रादि भी नहीं थे, इसलिए वह उस पत्तन में नंगा ही भिक्षा माँगने लगा और वहाँ के लोगों ने उसे अल्पेच्छ श्रमण समझ उसका सत्कार किया। अतएव, उसने सोचा कि नंगा रहना ही भला "मेरी जीविका का एक अच्छा साधन मिल गया है" और तदनुसार उसने किसी से वस्त्र लेना अस्वीकार भी कर दिया। फिर तो उसकी प्रतिष्ठा वहाँ पर और भी अधिक बढ़ गई और वह 'करम्बिय अचेल' के नाम के प्रसद्धि हो गया।[१] उस व्यक्ति ने "मेरी जीविका का साधन मिल गया" वाक्य को "लद्धो मे जीविकोपायो" रूप में प्रकट किया था जिस कारण इसे भी उपर्युक्त मत के समर्थन में ही उद्धृत किया जाता है।

एक अन्य मत इस आशय का भी दीख पड़ता है कि 'आजीवक' शब्द का 'आजीव' संभवतः और 'यावज्जीवम्' अर्थात् 'जीवन भर' का बोधक है। इसके प्रमाण में भी बौद्ध ग्रंथ 'दीघ निकाय' की एक कथा कही जाती है जिसके अनुसार भगवान बुद्ध को वैशाली में एक ऐसा भिक्षु मिला था जो सात 'आजन्म व्रतों' का पालन करता था। उसका नाम कंडर मासुक था और उसका पहला व्रत इस प्रकार

---

१. पण्डर जातक (५१८) 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' (भा० ५) पृ० १६३।

का था "यावज्जीवं अचेलको अस्सं, नवत्थं परिडहेयं" अर्थात् जब तक जीऊँगा कोई वस्त्र नहीं पहनूँगा नग्न रहा करूँगा। परन्तु स्पष्ट है कि कंडर मसुक को यहाँ पर 'अचेल' (वस्त्रहीन) मात्र कहा गया है, उसे आजीवक भी नहीं बतलाया गया है जिसके नगन बनकर रहने के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी हो सकते हैं। फिर भी, इस कथा में आये हुए 'यावज्जीवम्' शब्द से संकेत पाकर, डॉ० बाशम ने 'आजीवक' को 'आजीवात्' जैसे किसी शब्द के आधार पर सिद्ध करना कहीं अधिक उचित हो सकता है जिसकी ओर सबसे पहले हमारा ध्यान डॉ० केर्न ने दिलाया था। 'आ' उपसर्ग का प्रायः 'तक' वा 'तब तक' जैसा कोई सीमा वा अवधि का सूचक अर्थ होता है जिस कारण, उसके 'जीव' के पहले आ जाने से, जीवन पर्यंत का अभिप्राय असंभव नहीं है। डॉ० बाशम ने इस सम्बंध में 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' (३-१४) में आये हुए 'यावज्जीविक' शब्द को भी उद्धृत किया है और कहा है कि न केवल वे सूत्र अत्यंत प्राचीन हैं और वे गोशाल के पहले के भी हो सकते हैं, अपितु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि वहाँ पर भी उस शब्द का प्रयोग तपश्चर्या के लिए किये गए व्रत की अवधि के ही निमित्त हुआ है। इसके सिवाय उन्होंने इसी शब्द के प्राकृत रूप 'जावज्जीवाए' के प्रयोग का जैन ग्रंथ 'भगवती सूत्र' (३-१३३) में भी होना बतलाया है। अतएव, उन्होंने यह परिणाम भी निकाला है कि "यह किसी प्रकार असंभव नहीं कि 'आजीवक' शब्द का भी अभिप्राय, इसका प्रयोग करने वाले किसी धार्मिक वर्ग के लिए वैसा ही हो सकता है और इससे प्रकट होता है कि मंक्खलि गोशाल के अनुयायियों तथा अन्य प्रकार के आजीवकों ने भी इसका प्रयोग, अपने व्रतों के आजीवनव्यापी होने के कारण, किया था।"[१] यह संभवतः उन व्रतों से भिन्नता सिद्ध

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ दि आजीवकाज', पृ० १०३।

करने के लिए भी हो सकता था जो बौद्ध संघों के अंतर्गत केवल अल्पकालिक मात्र ही हुआ करते थे। डॉ० बाशम का यह मत, कदाचित् उन सभी मतों से अधिक समीचीन सिद्ध किया जा सके जिनकी चर्चा पहले की गई है, किन्तु फिर भी इसे हम अभी सर्व-सम्मत नहीं कह सकते।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने सन् ६५० ई० पू० से लेकर सन् ३२५ ई० पू० तक के उत्तरी भारत की धार्मिक दशा का वर्णन करते हुए 'अंगुत्तर निकाय' के आधार पर बतलाया है कि उस युग में भिक्षुओं के अनेक संप्रदाय थे और उनमें से बौद्धों से इतर ऐसे वर्गों में से, उन्होंने १० संप्रदायों के नाम लिये हैं जिनमें से पहला 'आजीविक' कहा गया है तथा इसके अनुयायियों के लिए बतलाया गया है कि वे "नंगे रहा करते थे और आहार-वृत्ति के सम्बंध में अत्यन्त कठोर नियमों का पालन करते थे।"[1] इसी प्रकार 'दीघ निकाय' के 'सामञ्ञ सुत्त' से भी पता चलता है कि जिस समय भगवान गौतम बुद्ध मगध की राजधानी राजगृह में वास कर रहे थे उन दिनों राजा अजात-शत्रु ने अपने लिए आध्यात्मिक पथप्रदर्शन की आवश्यकता का अनुभव किया और इसके लिए उसके ६ मंत्रियों ने क्रमशः ऐसे ६ धार्मिक नेताओं के नाम लिये जो उसका संदेह दूर कर सकते थे। ये ६ धर्म प्रचारक विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी थे और इनके नाम क्रमशः पूरणकस्सप, मंक्खलि गोशाल, अजित केस कम्बलि, पकुध कच्चायन, संजय बेल-ट्ठिपुत्त एवं निगंठ नातपुत्त थे तथा इनके लिए यह भी समझा जाता था कि ये किसी न किसी पंथ के प्रसिद्ध संस्थापक हैं, 'साधु सम्मतो' (संत) है तथा बहुत दिनों से प्रव्रजित एवं वृद्ध भी हैं। डॉ० बाशम का अनुमान है कि इन छहों में से पूरण कस्सप, मंक्खलि गोशाल एवं

---

१. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : 'हिन्दू सभ्यता' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सन् १९५५), पृ० २१५।

पकुध का सम्बंध आजीवक मत के साथ रहा हो सकता है और इसे उन्होंने सिद्ध करने की भी चेष्टा की है [१] 'सामञ्ञ फल सुत्त' के उल्लेखों से यह भी पता चलता है राजा अजातशत्रु ने इन नामों को सुन कर मौन ग्रहण कर लिया और जीवक के आग्रह पर उसने भगवान बुद्ध से भेंट की। वास्तव में बौद्ध ग्रन्थों एवं जैन ग्रन्थों के भी अंतर्गत आजीवकों को किसी प्रतिष्ठा वा सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया है और उनकी तीव्र आलोचना तक भी की गई है। इसके सिवाय संस्कृत के कुछ पुराने ग्रन्थों से भी प्रकट होता है कि इनके विषय में, कदाचित् सर्व-साधारण की धारणा बहुत पीछे तक भी अच्छी नहीं रही होगी। कौटिल्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में आता है कि "जो गृहस्थ देवपितरों के कृत्यों के उपलक्ष में शाक्यों (बौद्धों), आजीवकों आदि नीच प्रव्रजितों को खिलाता है उसे १०० पण दंड देना होगा"।[२] इसी प्रकार 'वायु पुराण' के अंतर्गत भी 'आजीवो' को 'अधार्मिक' कहा गया है [३] तथा कुमार दास की प्रसिद्ध रचना 'जानकी हरण' में भी आता है कि सीता ने रावण को अपनी ओर आते समय, किसी "दंभ आजीवक, उत्तुंग जटाधारी तथा मस्करी के रूप में देखा"। [४] परन्तु, इस प्रकार के अनेक अवतरणों के भी आधार पर, अभी तक यह निश्चित रूप से बतलाना संभव नहीं कि आजीवक संप्रदाय का आरम्भ वस्तुतः किस काल में एवं किसके द्वारा हुआ था तथा किस समय से उसके अनुयायियों को बुरा-भला कहा जाने लगा।

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ दि आजीवकाज' पृ० १७,२३५, ८०-१, ३०।

२. "शाक्याजीवकादीन् वृषल प्रव्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः सत्यो दण्ड्यः" (३०२०)।

३. "अधार्मिका जनाते वै आजीवा विहिताः सुरैः" (६६-२८५)।

४. "दम्भ आजीविकमुत्तुंग जटामण्डित मस्तकं कञ्चिन्मस्करिणं सीताददर्श आश्रममागतम्" (१०-७६)।

इतना स्वीकार कर लेने में कदाचित् कोई भी आपत्ति नहीं की जा सके कि आजीवक संप्रदाय भगवान बुद्ध एवं महावीर के समय अवश्य विद्यमान था। यह उन परिव्राजकों का एक विशिष्ट वर्ग था जिनकी रहन-सहन एवं क्रिया-कलापादि का रूप उस समय प्रचलित अन्य संप्रदायों से बहुत कुछ भिन्न था और जिनके मतवाद से भी दूसरों का कोई मेल न था। यही कारण है कि बौद्धों, ब्राह्मणों एवं जैनों के ग्रन्थों में उन्हें अधिकतर नीच, विधर्मी एवं हेय तक ठहराने के यत्न किये गए हैं और उनकी हँसी तक भी उड़ायी गई है। ऐसे कई परिव्राजकों ने अपने-अपने अनुयायियों को संगठित करके कुछ संघों की भी स्थापना कर दी थी जिनमें आपस में बहुत मतभेद नहीं था। उस समय मगध की ओर ऐसे कुछ व्रात्यों का भी एक वर्ग था जो प्रचलित आर्यधर्म के के विरुद्ध मत रखते थे और जिनमें विचार स्वातंत्र्य की भावना भी बहुत प्रबल थी। वे भी अधिकतर भ्रमणशील हुआ करते थे और यज्ञादि कृत्यों का घोर विरोध करते तथा स्वकल्पित विविध साधनाओं में निरत रहा करते थे। उनका प्रमुख केन्द्र मगध का प्रदेश था जहाँ विरोचित लोकगीतों के गाते फिरने वाले 'मागधों' की कमी नहीं थी। कुछ लोगों का अनुमान है कि आजीवक संप्रदाय का प्रचारक मक्खलि गोशाल पहले एक 'मंख' था जिस शब्द को हेमचंद्र ने, 'अभिधान चिंतामणि' की टीका लिखते समय, उक्त 'मागध' शब्द का समानार्थ सिद्ध करने की भी चेष्टा की है।[1] जैन धर्म के ग्रन्थ भगवती सूत्र (१५-५४०) से पता चला है कि भगवान महावीर ने अपने अनुयायी इन्दभूइ गोयम को बतलाया था कि 'मंक्खलिपुत्त" का पिता मंक्खलि नाम का था और उसकी माता भद्दा कहलाती थी। अभयदेव के अनुसार, 'मंख' उस परिव्राजक को कहते थे जो अपने हाथ में कोई चित्र फलक लिये फिरता था।

---

१. 'अभिधान चिंतामणि' (५-७६५)।

अतएव यह असंभव नहीं कि 'मंख' शब्द द्वारा सूचित किया जाने वाला व्यक्ति धार्मिक चित्रों का प्रदर्शन किया करता था तथा धार्मिक गीतों का गान करता फिरा करता था।[१] प्राचीन भारत में में इस प्रकार के व्यक्तियों के होने का एक संकेत विशाखदत्त की प्रसिद्ध रचना 'मुद्राराक्षस' में भी मिलता है जहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार कोई गुप्तचर प्रच्छन्नवेश में, अपने हाथ में, एक 'यमपट्ट' लिये हुए द्वार-द्वार घूमा करता था और यमचित्र प्रदर्शित कर धार्मिक गीत भी गाता था। डॉ० बाशम ने इस प्रकार के छिटपुट उल्लेखों के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि आजीवक मत के नियतिवाद का प्रचार सर्वप्रथम संभवतः मगध प्रदेश की ही किसी बोली में हुआ होगा और उसके प्रमुख आचार्यों में मंक्खलि गोशाल, पूरण कस्सप तथा पकुध कच्चायन के नाम लिये जा सकते हैं।[२]

(२)

मंक्खलि गोशाल को प्रायः सभी लोगों ने आजीवक संप्रदाय का सर्वश्रेष्ठ प्रचारक माना है। 'मंक्खलि गोशाल' नाम केवल पालि ग्रंथों में मिलता है। बौद्ध धर्म के ही संस्कृत ग्रन्थों में यह शब्द 'मस्करिन गोशाल' के रूप में पाया जाता है। अथवा 'महावस्तु' जैसे कतिपय ग्रंथों में 'गोशालिका पुत्त' अथवा 'गोशालि पुत्त' तक हो जाता है। फिर इसी नाम का एक रूप जैन ग्रंथों के अंतर्गत 'गोशाल मंक्खलि पुत्त' होकर दीख पड़ता है और तमिल भाषा की रचनाओं में इसका एक अन्य रूप 'मड्कलि' भी मिलता है। इसी प्रकार, 'महाभारत' के 'शान्ति पर्व' में आये हुए 'मंकि' शब्दों को भी यदि इसी ओर सूचित करता हुआ मान लिया जाय

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ दि आजीवकाज' पृ० ३५।

२. वही, पृ० २६।

तो, वह इसका एक और भी नया रूप हो सकता है। इसके सिवाय बुद्धघोष ने अपनी 'सामञ्ञ फल सुत्त' की टीका में किसी एक घटना का भी उल्लेख किया है और बतलाया है कि गोशाल एक दास था और जब वह एक तेल का बर्त्तन लिये हुए कीचड़ से होकर जा रहा था उसके मालिक ने उसे डाँटकर कहा "अरे भई, गिर न पड़ना" (तात, मा खल इति)। परन्तु गोशाल अपने को सँभाल न सका और उसके फिसल कर तेल गिरा देने पर, उसके मालिक ने दौड़कर उसका वस्त्र पकड़ लिया जो इसी कारण, खुल गया। फलतः गोशाल अपनी जान बचा कर नंगा ही भाग खड़ा हुआ और उक्त "मा खल इति" के आधार पर उसका नाम ही 'मंक्खलि' पड़ गया। परन्तु यह घटना कोरी कल्पना मात्र ही जान पड़ती है और यह प्रत्यक्षतः, 'मंक्खलि गोशाल' नाम के आधार पर ही गढ़ी गई प्रतीत होती है। होर्नले का अनुमान है कि 'मंक्खलि' शब्द किसी व्यक्ति के नाम का सूचक न होकर वस्तुतः, वर्गवाचक हो सकता है और वह मूलतः, साधुओं के 'मंक्खलि' अथवा 'मस्करिन' शब्द का एक रूपांतर होगा। पाणिनि ने 'मस्करिन' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे साधु के लिए किया है जो बाँस का एक दंड लिये रहा करता था।[1] इस बात का समर्थन 'तित्तिर जातक' में आये हुए एक प्रसंग से भी होता है जहाँ पर (संभवतः किसी आजीवक परिव्राजक के ही विषय में) उसका 'वेत्ताचारो सकुं पथोपि चिरणों" होना बतलाया गया है।[2] यहाँ पर 'वेत्त' शब्द का अर्थ बाँस किया गया है और इस प्रकार, उस वाक्य का अर्थ "बाँस का दंड लेकर जंगल में घूमने

---

१. "मस्कर मस्करिणौ वेणु परि ब्राजकयो :" ('अष्टाध्यायी', ६-१-१५४)।

२. 'तित्तिर जातक' (४३८)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (भा० ४) पृ० २०१।

वाला" समझ लिया गया है। इस प्रकार, यदि यह ठीक हो तो 'मस्करिन' वा 'मक्खलि' अथवा 'मंक्खलि' शब्द गोशाल की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त होता था और वही पीछे उसके मुख्य नाम का बोधक बन गया। यों तो बौद्ध एवं जैन ग्रंथों में उसे कभी-कभी 'तीर्थंकर', 'जिन', 'अर्हत' और 'केवलिन' भी कहा गया मिलता है तथा तमिल में 'मड्कलि' के लिए किसी 'आप्तण' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (जो कदाचित्, उसके आप्त पुरुष होने का भी सूचक हो) किन्तु, साधारणतः वह बराबर 'मंक्खलि' कहला कर ही प्रसिद्ध रहा है।

मंक्खलि के साथ प्रायः पाये जाने वाले 'गोशाल' शब्द के लिए भी कहा जाता है कि उसका प्रयोग साभिप्राय किया गया है। 'भगवती-सूत्र' में किये गए उल्लेखों से जान पड़ता है कि जिस समय मंक्खलि की माता भद्दा गर्भवती थी उस समय वह अपने पति मंक्खलि के साथ किसी 'सरवण' ग्राम में गई। वहाँ पर कोई गोबहुल नाम का धनी गृहस्थ रहा करता था जिसकी गोशाला में मंखलि ने भद्दा और अपने सब सामान को कुछ समय के लिए छोड़कर कोई स्थान ढूँढना निश्चित किया। परन्तु बहुत यत्न करने पर भी जब उसे उस ग्राम के भीतर कोई दूसरा अधिक उपयुक्त स्थान नहीं मिल सका तो वे दोनों पति-पत्नी उस गोशाले के ही किसी कोने में ठहर गए। तत्पश्चात् भद्दा के गर्भ से वहीं पर शिशु मंक्खलि का जन्म हुआ और उसके माता-पिता उसे जन्म-स्थान के नाम पर ही 'गोशाल' कहने लग गए। इस प्रसंग की प्रामाणिकता में संदेह किया जा सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि 'गोशाल' शब्द के आधार पर ही इसकी कल्पना कर ली गई होगी, किन्तु हम इसे सोलहों आने असत्य भी नहीं कह सकते। 'बाइबिल' वाले सेंट ल्यूक-रचित वृत्तान्त से भी जान पड़ता है कि ईशु ख्रीष्ट का जन्म लगभग ऐसी ही स्थिति में हुआ था। डॉ० बाशम ने तो उक्त 'सरवण' ग्राम के नाम पर भी विचार किया है और उनका

कहना है कि यह शब्द 'शरवन' का रूपांतर मात्र है जिसका अर्थ 'सर वा सरपत का सरकंडा नाम की घास की झाड़ी' किया जा सकता है। अतएव, उनका यह अनुमान है कि वस्तुतः, 'सरवण' नाम का कोई ग्राम न होगा और मंक्खलि के 'सरवण' वा 'सरवन' में उत्पन्न होने की कथा आजीवकों ने पीछे, स्वामी कार्त्तिकेय की जन्मकथा के आधार पर गढ़ ली होगी, क्योंकि सर वा सरपत की घास में उत्पन्न होने के कारण उस वीर देव सेनानी को भी कभी-कभी 'शरवनभव' वा 'शरवनोद्भव' कहा जाता है।[1] तथ्य जो भी रहा हो, 'भगवती सूत्र' से यह भी पता चलता है कि गोशाल अपने प्रारम्भिक जीवन में, मंख की जीविका करते थे और अपने हाथ में चित्रपट लिये रहते थे। जब भगवान महावीर 'रायगिह' (राजगृह) के निकटवर्ती नालंद के किसी जोलाहे के घर (तंतुवायसाला) में कुछ दिनों के लिए ठहरे हुए थे उस समय गोशाल भी वहाँ पहुँच गए, ये वहीं पर ठहर भी गये और जब एक मास का उपवास व्रत समाप्त कर के भगवान महावीर रायगिह (राजगृह) में भिक्षार्थ गये तो, वहाँ के नागरिकों ने उनका बड़ा स्वागत किया और उन पर पुष्प-वर्षा भी की गई जिसे सुनकर गोशाल बहुत प्रभावित हुए और उनके लौटने पर इन्होंने उनकी प्रदक्षिणा कर के उनका शिष्य भी होना चाहा। परन्तु जब भगवान महावीर ने इनकी प्रार्थना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और उनकी प्रतिष्ठा भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई तो ये उनकी ओर भी अधिक आकृष्ट हुए और जब वे उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले गए और उनसे इनकी भेंट न हो सकी तो इन्होंने अपने सभी वस्त्र, बर्तन, जूते और चित्रपट ब्राह्मणों को दे डाला। अपने सिर एवं दाढ़ी के बाल मुँड़ा लिये और वहाँ से चल कर कोल्लाग स्थान के बाहर पणीय भूमि में इन्होंने उनसे भेंट की और वहाँ पर इन्होंने उन्हें राजी भी कर लिया। तबसे ये बराबर उन्हीं के साथ पाँच

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ़ दि आजीवकाज', पृ० ३७।

वर्षों तक सर्वत्र शिष्यवत् घूमते रहे और उनके अनेक चामत्कारिक कार्यों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होते हुए भी चले गए।

जिनदास नाम के किसी जैन लेखक ने 'आवश्यक सूत्त' की चूर्णी के अंतर्गत, गोशाल एवं महावीर की भ्रमण-यात्राओं के विषय में कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है। उन्होंने वहाँ पर वतलाया है कि किस प्रकार भगवान महावीर के, इनसे किये गए बहुत से कथन भविष्य में ठीक सिद्ध होते चले गए जिस पर इन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके साथ ही मंक्खलि को बराबर इस बात का भी अनुभव होता चला गया कि जहाँ भगवान महावीर की अलौकिक शक्तियों का परिचय मिलता जा रहा है तथा जहाँ उनका स्वागत सत्कार भी एक महान पुरुष एवं धर्म-प्रचारक के रूप में हो रहा है, वहाँ स्वयं उन्हें लोग न केवल साधारण कोटि का समझते हैं, प्रत्युत अपमानित भी कर देते हैं। जिनदास ने अनेक ऐसे प्रसंगों की भी चर्चा की है जिनमें लोगों ने मंक्खलि को न केवल तिरस्कार की दृष्टि से देखा, अपितु इन्हें कभी कभी मारपीट भी दिया। इसी सम्बंध में कहा गया है कि एक बार जब ये दोनों 'वैशाली' की ओर जा रहे थे तो मंक्खलि ने भगवान महावीर से बिगड़ कर कहा कि जब मेरे ऊपर कभी दुष्ट लोग आक्रमण कर देते हैं तो तुम क्यों नहीं मेरी सहायता किया करते? और जव उन्होंने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया तो इन्होंने उनका साथ भी छोड़ दिया। परन्तु जब अकेले घूमते समय इन्हें ५०० डाकुओं ने घेरा और इन्हें उन्होंने तंग भी किया तो इन्होंने फिर लौटकर भगवान महावीर की शरण ली। फिर भी लोगों द्वारा किया जाने वाला इनके प्रति दुर्व्यवहार कभी कम नहीं हुआ और ये बराबर कष्ट ही झेलते रहे। एक बार जब ये दोनों 'पुरिमताल' में थे तो इन्होंने उधर से जाती हुई बारात के दूल्हे और दुलहिन को देखकर, उनकी कुरूपता का उपहास किया जिससे चिढ़कर बारातियों ने इन्हें बहुत पीटा। फिर दूसरी बार, किसी गोभूमि नामक स्थान पर जब इन्होंने वहाँ के ग्वालों को 'म्लेच्छ' कह

दिया तो उन्होंने भी इनकी खूब मरम्मत की। 'भगवती सूत्र' में कहा गया है कि स्वयं भगवान महावीर ने ही अपने शिष्य इन्दभूई से यह बतलाया कि मंक्खलि और उनसे किस कारण पार्थक्य हुआ था। उन्होंने कहा कि जब ये दोनों बिहार को छोड़कर कुम्भार गाम की ओर जा रहे थे तो मार्ग में इन्हें कोई तिल की हरी-भरी झाड़ी मिली जिसे देखकर मंक्खलि ने भगवान महावीर से पूछा 'इस तिल की झाड़ी के इन सातों फूलों का क्या होगा, कोई फल भी लगेगा या नहीं?' और इस प्रकार, इन्होंने उनकी भविष्यवाणी की परीक्षा करनी चाही, फिर जब भगवान महावीर ने बतलाया कि "अभी यह झाड़ी और भी बढ़ेगी और सातों फूलों के एक ही गुच्छे में सात ढेढ़ियाँ भी तैयार हो जायेंगी।" और मंक्खलि के उसे तोड़ताड़ देने पर भी उसमें फिर नये पौधे निकल आए तथा जैसा कहा गया था, वैसा ही दृश्य देखने को मिला तो ये आश्चर्य-चकित हो गए और पुनर्जन्म का जन्मांतर की धारणा हो जाने पर उनका संग छोड़ देना चाहा। कहते हैं कि एक दूसरे से पृथक् होकर फिर ये दोनों सोलह वर्षों तक प्रचार करते फिरे, मंक्खलि की प्रतिष्ठा बढ़ चली और इन्होंने श्रावस्ती में अपने अनेक अनुयायी भी बना लिए।

(३)

मंक्खलि गोशाल के व्यक्तिगत जीवन की प्रामाणिक बातें चाहे न भी मिल सकें और हमें उनके विषय में केवल बौद्धों, जैनियों अथवा अन्य विपक्षी दलों के ग्रन्थों में उपलब्ध निरी काल्पनिक एवं अपमान-जनक बातों पर ही संतोष क्यों न करना पड़े, इसमें संदेह नहीं कि आजीवक संप्रदाय के वे कदाचित्, सर्वश्रेष्ठ प्रचारक थे। कहते हैं कि उन्होंने स्वयं भी अपने को प्रचलित 'अवसर्पिणी' काल का चौबीसवाँ तीर्थङ्कर कहा था जिससे अनुमान होता है कि उस संप्रदाय के कुछ और भी नेता रह चुके होंगे। 'अंगुत्तर निकाय' के अनुसार पूरण कस्सप ने मनुष्यों के छह वर्ग

माने थे[1] जिनमें से सर्वप्रथम को 'परमसुक्क' वा सबसे अधिक उज्जवल कहा था और ऐसे लोगों में भी उन्होंने केवल तीन के ही नाम लिये थे जो नंदवच्छ, किस संकिच्च एवं मंक्खलि गोशाल कहलाकर प्रसिद्ध हैं। परन्तु नंदवच्छ एवं किस संकिच्च के विषय में कुछ पता नहीं चलता। 'सरभंग जातक' से विदित होता है कि बोधिसत्व ने एक बार सरभंग के रूप में भी जन्म लिया था। वे गोदावरी के तीर पर कुटी बनाकर रहते थे और उनका एक शिष्य किस वच्छ था[2]। यहाँ पर सरभंग के विषय में कुछ भी निश्चित ऐतिहासिक संकेत नहीं है और 'किसवच्छ' शब्द भी 'नंदवच्छ' एवं 'किस संकिच्च' के दो अंशों से बना हो सकता है। 'थेरगाथा' के अंतर्गत किसी तपस्वी सरभंग की चर्चा अवश्य मिलती है जो सरकंडों की कुटी बनाकर रहा करते थे।[3]

---

१. वास्तव में, आजीवकों, तापसों एवं परिब्राजकों की, अंतिम निष्ठा वा अभीष्ट आदर्शानुसार, ६ कोटियाँ मानी जाती थी जिनके नाम, ६ वर्णों वा रंगों के आधार पर निश्चित किये गए थे और जिन्हे 'कराह' (कृष्ण), नील, लोहित (रक्तवर्ण), हलिद्द (हरिद्रावर्ण), सुक्क (शुक्ल) एवं परमसुक्क (परम शुक्ल) कहते थे तथा जिन्हें हम क्रमशः आतुर, कुटीचक, वहूदक, हंस, परमहंस एवं तुरीयातीत परमहंस, भी कह सकते हैं—जो कोटियाँ उपनिषदों के आधार पर मानी जाती हैं (दे० B. C. Law: India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism pp 230-1)

२. 'सरभंग जातक' (५२२) हिंदी साहित्य सम्मेलन (भा० ५), पृ० २१५।

३. 'थेरगाथा' (निपात ७ वर्ग २२)—महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५५, पृ० १३७।

उपर्युक्त 'सरवण' ग्राम तथा इस 'सरकंडों' की कुटी का कोई बादरायण-सम्बंध भले ही जुट जाय, किन्तु यहाँ किसी 'किस वच्छ' का भी पता नहीं चलता। एक 'संकिच्च' नामक अन्य जातक से यह सूचित होता है कि उस नाम का भी कोई तपस्वी था जिसने काशी नरेश के प्रश्न करने पर, उससे नरक की यातनाओं के दृश्यों का वर्णन किया। इसी प्रसंग में उसने यह भी बतलाया कि दण्डकी नाम का कोई राजा, निर्दोष 'वच्छ किस' की अवमानना करने के कारण, समूल नष्ट हुआ था।[१] इसी प्रकार 'थेरगाथा' के अंतर्गत भी किसी 'संकिच्च' परिव्राजक की कथा की ओर संकेत किया गया मिलता है जिसे जंगलों में रहना बहुत पसंद था।[२] किन्तु इससे भी कोई सहायता नहीं मिलती। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार के नाम निरे नये नहीं हैं, न आजीवकों ने इन्हें गढ़ लिया होगा। हो सकता है कि इस नाम के धर्म-प्रचारक रहे भी हों। यह असंभव नहीं कि ऐसे अनेक परिव्राजकों से मंक्खलि गोशाल को पूरी प्रेरणा मिली होगी तथा उनमें से कोई न कोई इनके पथ-प्रदर्शक भी रह चुके होंगे। मंक्खलि गोशाल ने अपने जीवन के चौबीस वर्ष परिव्राजक रूप में व्यतीत किये जिनमें छह वर्षों तक वे भगवान महावीर के साथ रहे और सोलह वर्षों तक श्रावस्ती की किसी हालाहला नामकी कुंभारिन के घर में निवास तथा आजीवक संप्रदाय के सिद्धान्तों की व्याख्या एवं प्रचार करते रहे। कुंभारों के प्रति उनके हृदय में पूरा स्नेह-भाव रहा करता था। अपना प्रचार-कार्य करते समय वे प्रायः लोक-कथाओं की सहायता लिया करते थे और उनकी कल्पन-शैली भगवान बुद्ध की उपदेश-शैली से बहुत कुछ मिलती जुलती थी।

---

१. 'संकिच्च जातक' (५३०) पृ० ३५२ (अरजं रजसा वच्छं किसं अवकिरिय दण्डकी)।

२. 'थेरगाथा' (नि० ११ वर्ग २६) पृ० १६१।

कहा जा चुका है कि पीछे भगवान महावीर तथा मंक्खलि गोशाल में बहुत अनबन हो गई थी और मंक्खलि गोशाल उन पर बहुत रुष्ट थे। अतएव, एक बार ये उनके यहाँ कोट्ठग चैत्य में, अपने बहुत से अनुयायियों के साथ गये और उनसे बिगड़ कर बोले कि मैं वह मंक्खलि नहीं हूँ जो कभी तुम्हारे साथ रहा, मैं उदाइ कुंडियायनी हूँ और उनसे "नियति के नियमानुसार मेरा जन्मांतर हो गया है" यह बात पूरी व्याख्या और प्रमाणों के साथ कहने लग गए तथा भगवान महावीर को इन्होंने शाप तक दे दिया। वहां से लौटने के अनंतर ये फिर हालाहला के घर में रहते रहे, किन्तु, अंत में, इन्हें जैसे कोई सन्निपात का रोग हो गया। ये कभी-कभी कोई आम की गुठली अपने हाथ में लेकर उसे मुट्ठी में दबाते थे, नशीली चीजें पीने लगते थे, लगातार गाते थे, नाचते थे और हालाहला के सामने सिर झुका उसके अंगों पर कुंभारों की मिट्टी वाला पानी छिड़कने लगते थे। मरने के पहले इन्होंने अपने अनुयायियों से कहा था कि मेरे शव को सुगंधित पानी से नहलाकर उस पर चंदन लगाना, उसे अच्छे कपड़े पहनाना और जितने भी आभूषण हों उनसे भूषित कर देना। फिर अरथी पर उसे लेकर, एक सहस्र आदमियों के साथ, श्रावस्ती की गलियों में उसका जुलूस निकालना और घोषित करना कि अवसर्पिणी के चौबीसवें अथवा अंतिम तीर्थङ्कर 'जिन' गोशाल मंक्खलि पुत्त का देहान्त हो गया। यह कथन 'भगवती सूत्र' में दिया गया है जिसके आगे यह भी लिखा है कि विक्षिप्त होने की सातवीं रात जब समाप्त हो रही थी और इन्हें संज्ञा हो गई तो इन्होंने इस प्रकार आदेश दिया—"मेरे बायें पैर को तुम लोग किसी रस्सी से बाँध देना, मेरे चेहरे पर तीन बार थूकना और मेरे शव को श्रावस्ती की गलियों में घसीट कर ले जाते समय घोषित करना कि मंक्खलि 'जिन' न होकर एक महाधूर्त्त रहा और केवल भगवान महावीर सच्चे 'जिन' हैं।[1] स्पष्ट है कि उक्त सभी

---

१. 'भगवती सूत्र' (१५-५५४ और १५-५५५)।

बातें बनावटी होंगी। तथ्य केवल इतना हो सकता है कि मंक्खलि अपने जीवन का अंत होने के पहले कुछ न कुछ विक्षिप्त हो गए थे। इनकी मृत्यु का सन् ४८४ ई० पू० में होना अनुमान किया गया है।[1]

मंक्खलि गोशाल के अनंतर उनके किसी प्रमुख शिष्य वा अनुयायी का नाम नहीं लिया जाता। परन्तु आजीवक संप्रदाय के प्रचारकों में ही पूरण कस्सप भी गिने जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'संयुत्त निकाय' में पूरण कस्सप का नाम मंक्खलि गोशाल के साथ 'मंक्खलि पूरणासे' करके ठीक उसके अनंतर ही आता है और 'पकुधको कातियानो' तथा "निगंठो' के रूपों में दो अन्य धर्म-विरोधियों के नाम पृथक्-पृथक् आते हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि पूरण कस्सप, संभवत: मंक्खलि के अनंतर तथा उन्हीं की परंपरा में भी हुए होंगे। इसके सिवाय जैनों के तमिल ग्रन्थ 'नीलकेशी' से प्रकट है कि नीलकेशी जैन धर्म में धर्मान्तरित हो गई थी और वह, रहस्यपूर्ण प्रश्नों का समाधान कराने के उद्देश्य से एक शिक्षक से दूसरे के यहाँ भ्रमण करती थी। इस सम्बंध में वह स्वयं भगवान बुद्ध के यहाँ गई थी और मौद्गलायन के यहाँ गई थी जो दोनों बौद्ध धर्म के प्रचारक थे और इसी प्रकार, वह सांख्य दर्शन के विद्वान पराशर तथा आजीवक संप्रदाय के आचार्य पूरण के भी यहाँ गई थी और उनसे पृथक्-पृथक् विचार-विमर्श किया था। पूरण कस्सप को उसने आजीवकों के कुक्कुट नगर वाले मठ का स्वामी कहा है और यह भी बतलाया है कि "भगवान पूरण अपनी प्रतिभा में अतुलनीय थे।" नीलकेशी का उन्होंने स्वागत किया और कहा कि मड्कलि आजीवकों का भगवान है। इस प्रकार यदि मड्कलि, वास्तव में, मंक्खलि गोशाल को ही कहा गया है तो, वे निःसंदेह उस संप्रदाय के सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे और पूरण भी उनके अनंतर आ सकते थे। एक अन्य संस्कृत ग्रन्थ 'तर्क रहस्य दीपिका' से (जो हरिभद्र के

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ़ दि आजीवकाज', पृ० ७४।

'षड्दर्शन समुच्चय' पर भाष्य के रूप में लिखी गई पुस्तक है) पता चलता है कि बौद्धमतवाले जहाँ जगत को "विज्ञप्ति मात्रम्" अर्थात् केवल विशुद्ध भावना मात्र समझते हैं, वहाँ पूरण ने उसे "नियति जनितम्" अर्थात् नियति से उत्पन्न ठहराया है। परन्तु बुद्धघोष ने पूरण के भी विषय में लिखते समय कहा है कि वह दास था और अपने स्वामी के घर में सौवाँ होने के कारण, उसे 'पूर्ण' कह कर अभिहित किया गया था। उन्होंने यह भी बतला दिया है कि एक बार वह अपने स्वामी के घर से भाग गया और चोरों ने उसके सभी कपड़े चुरा लिये जिससे वह नंगा रहने लग गया। ये बातें पूरण कस्सप को हेय ठहराने के लिए गढ़ी गई हो सकती हैं और इन्हें अधिक महत्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूरण कस्सप कदाचित्, मंक्खलि से अवस्था में कुछ बड़े थे, किन्तु इन्होंने उन्हें अपने से अधिक योग्य मान लिया था। इनका देहांत भी उनसे कुछ दिन पूर्व, संभवतः सन् ५०० अथवा सन् ४६६ ई० पू० में आत्महत्या से हुआ है।[1]

पकुध कच्चायन के लिए भी कहा जाता है कि आजीवक संप्रदाय के अभी तक ज्ञात प्रचारकों में उनका भी बहुत बड़ा हाथ रहा। किन्तु, उपलब्ध सामाग्रियों के आधार पर उनके व्यक्तिगत जीवन का परिचय उतना भी नहीं दिया जा सकता जितना पूरण कस्सप के लिए किया जा सकता है। बुद्धघोष ने अपनी 'सामञ्ञ सुत्त' वाली टीका के अंतर्गत इनके विषय में इतना ही कहा है कि ये अपने को ठंडे पानी से बचाया करते थे और मलमूत्र विसर्जन करने पर भी ये तब तक नियमित स्नानादि नहीं करते थे, जब तक इन्हें गर्म जल वा चावल का माँड़ नहीं मिल जाता था। बुद्धघोष का तो यह भी कहना है कि किसी पानी के सोते या नदी को न नाँघने का इन्होंने व्रत ले रखा था और इसके लिए इन्होंने, प्रायश्चित के रूप में कोई बालू की मेड़ भी

१. 'हिस्ट्री ऑफ दि आजीवकाज', पृ० ८६।

बना रखी थी। यहाँ पर इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि कुछ दक्षिणी आजीवकों में यह प्रथा थी कि माँड़ वा कांजी का उपयोग भोजन के समय किया करते थे और जैसा कि 'तित्तिर जातक' में आये हुए एक प्रसंग से भी सिद्ध होता है,[१] वे किसी लाल चूर्ण का प्रयोग भी अपने धार्मिक कृत्यों के समय करते रहे होंगे। 'तित्तिर जातक' वाली कथा में आये हुए व्याघ्र के कथन से यद्यपि यह बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु उसकी टीका से इसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है।[२] जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इनकी भी गणना उन ६ धर्माचार्यों में की गई है जो राजा अजातशत्रु के समय 'गणाचारियो' (संप्रदाय वा धार्मिक वर्ग का आचार्य), 'तित्थकारो' (तीर्थङ्कर) 'साधु सम्मतो' (संतवत् प्रतिष्ठित) एवं 'चिर पब्बजितो' (चिरकालीन परिव्राजक) के रूपों में श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। इन्हें संस्कृत में रचित कतिपय बौद्ध ग्रंथों में, 'ककुध' भी कहा गया है जिस कारण डॉ० बरुआ का अनुमान है कि ये संभवतः उन छह ऋषियों में है जिन्होंने पिप्पलाद ऋषियों से प्रश्न किये थे।[३] 'प्रश्नोपनिषद्' में कथा आती है कि भरद्वाज पुत्र सुकेशा, शिबिपुत्र सत्यकाम, गर्ग गोत्रीय सौर्यायणी, कोसलदेशीय आश्वलायन, विदर्भनिवासी भार्गव तथा कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी—ये छहों ब्रह्म ऋषि एक बार पिप्पलाद ऋषि के यहाँ पहुँचे और उन्होंने इनसे कई महत्वपूर्ण प्रश्न किये।[४] डॉ० बरुआ ने उनमें से कबन्धी कात्यायन को ही ककुध कात्यायन मान लिया है क्योंकि इन दोनों शब्दों—'कबन्धी' एवं 'ककुध' का अर्थ कुबड़ा भी होता है। परन्तु यह स्वीकार कर लेने पर एक प्रश्न यह भी उठ

---

१. 'तितिर जातक' (४३८), पृ० २०१।

२. 'हिस्ट्री ऑफ दि आजीवकाज' पृ० ११२–३।

३. ''प्रश्नोपनिषद' (१,१)

४. डॉ० बरुआ : प्री बुद्धिष्ट इंडियन फिलासफी', पृ० २८१।

सकता है कि क्या ये ककुध इतने प्राचीन रहे होंगे कि इनकी ऐसी चर्चा, 'प्रश्नोपनिषद्' जैसी प्राचीन रचना में भी की गई होगी ? इसके सिवाय ककुध कच्चायन के लिए यह प्रसिद्ध है कि ये परमाणुवादी आजीवक थे और दक्षिणी आजीवकों में, इसीलिए इनका एक उप-संप्रदाय भी रहा है। ऐसी दशा में इनका पिप्पलाद ऋषि से यह प्रश्न करना कि "भगवन्, जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपों में उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है ?" और इसका उत्तर पा लेने पर कि प्रजापति ही सभी कुछ है तथा अपने अन्य साथियों के भी ऐसे ही प्रश्नों के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाने पर, उन सभी के साथ इनका पिप्पलाद ऋषि को पिता कह कर उन्हें बारबार नमस्कार करना [1] उक्त मत के विषय में कुछ संदेह उत्पन्न कर देता है। इसके विपरीत 'मज्झिम-निकाय' में इन्हें मंक्खलि गोशाल के साथ नियति-वादी होना कहा गया है और इसका समर्थन 'सामञ्ञ सुत्त' के एक चीनी संस्करण से भी हो जाता है। [2] डॉ० उई का तो यह भी कहना है कि भारतीय परमाणुवाद के ये कदाचित् अति प्राचीन वा सबसे प्राचीन आचार्य भी कहे जाने योग्य हैं।[3]

(४)

आजीवक संप्रदाय का सर्व प्रमुख वाद 'नियतिवाद' है जिसके प्रवर्त्तक मंक्खलि गोशाल समझे जाते हैं। परन्तु इसके प्रतिपादन में किसी ग्रन्थ विशेष की रचना की गई नहीं जान पड़ती, न कोई ऐसी सुव्यवस्थित अन्य सामग्री ही उपलब्ध है जिसके आधार पर उसकी समुचित व्याख्या की जा सके। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि आजी-

१. डॉ० बरुआ : प्री बुद्धिष्ट इंडियन फिलासफी (४–१६)।

२. 'हिस्ट्री ऑफ़ दि आजीवकाज़', पृ० ६१।

३. उई : 'वैशेषिक फिलासफी', पृ० २५।

वकों के प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ मी थे जिनमें से कुछ की सूचियाँ भी उनमें दी गई मिलती हैं। इनके अनुसार उनके आठ 'महाणिमित्त' थे जिनके नामों से प्रकट होता है कि उनमें कई गूढ़ विषयों के प्रतिपादन रहे होंगे और दो 'मग्ग' भी थे जिनका विषय क्रमशः 'गीतमार्ग' तथा 'नृत्यमार्ग' नामों के अनुसार गीत एवं नृत्य बतलाया गया है। इसी प्रकार दक्षिणी आजीवकों के कतिपय तमिल ग्रंथों में भी कहीं किन्ही ऐसे धर्म ग्रन्थों की चर्चा आ गई दीख पड़ती है जो उक्त दस ग्रन्थों से भिन्न रहे होंगे। इसके सिवाय जैन एवं बौद्ध ग्रथों में से कई में इस प्रकार की रचनाओं के विविध उदाहरण आये हैं जो संभवतः किन्हीं आजीवक ग्रन्थों से ही लिये गए होंगे। ये उद्धरण या तो पालि वा प्राकृत में है अथवा संस्कृत में भी हैं जिनसे कभी-कभी आजीवकों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। एक ऐसा सबसे प्रसिद्ध श्लोक जिसे शीलांक ज्ञान विमल एवं अभयदेव ने एक ही ढंग से उद्धृत किया है और जिससे नियतिवाद के रहस्य की एक झाँकी मिल जाती है, इस प्रकार है—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्तिनाशः॥

(शीलांकः 'सूत्र कृतांग' १–२–२ एवं १–२६; ज्ञान विमलः 'प्रश्न-व्याकरण ७ और अभयदेवः 'उवासग दसाओ' ६–१६५)

अर्थात् मनुष्य के लिए जो कुछ भी शुभ वा अशुभ, नियति के बल पर होने वाला है वह होकर ही रहेगा, प्राणी चाहे कितना भी बड़ा यत्न कर ले जो कुछ नहीं होने वाला होगा, नहीं होगा और इसी प्रकार, जो होने वाला होगा, उसका नाश भी नहीं हो सकेगा। और अभयदेव ने अपनी 'उवासग दशाओ' की टीका में एक यह श्लोक भी दिया है—

नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं बिनापि यत्नेन ।
करतल गतमपि नश्यति, यस्यतु भवितव्यतानास्ति ॥ [१]

—'उवासग दसाओ' ६–१६५

अर्थात् जो कुछ न होने वाला होगा, नहीं होगा और जो होने वाला होगा वह बिना किसी यत्न के भी होगा, किन्तु जिस व्यक्ति के लिए उसकी भवितव्यता नहीं, उसकी हथेली में आकर भी वह नष्ट हो जायगा।

यह तो स्वयं आजीवकों की ही रचनाओं के दूसरों द्वारा उद्धरण देने की बात रही, इन्हें देकर उन लोगों ने इन पर विविध प्रकार की टिप्पणियाँ भी की हैं। उन टिप्पणियों द्वारा नियतिवाद की निःसारता प्रदर्शित की गई है तथा उसकी समीचीनता में स्पष्ट संदेह प्रकट करते हुए उसका बलपूर्वक विरोध भी किया गया है। फिर भी ऐसे उद्धरणकर्त्ताओं का कार्य उतना बुरा नहीं लगता जितना उन लेखकों का जिन्होंने आजीवकों के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण देते समय उन्हें, अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार, मनमाने रूप भी दे डाले हैं तथा उसी के आधार पर, उनकी हँसी भी उड़ायी है। उदाहरण के लिए बौद्धों के 'सामञ्ञ सुत्त' में जो मंक्खलि गोशाल के नियतिवाद का परिचय दिया गया है, उसमें किसी प्रकार के सैद्धांतिक विवेचन की कोई चेष्टा नहीं की गई है, न कदाचित् उसमें गोशाल के मूल सिद्धांतों का भरसक उन्हीं के शब्दों में दिया गया कोई पर्याप्त उल्लेख वा संकेत तक दीख पड़ता है। उस ग्रन्थ के प्रसंगों तथा उस पर की गई बुद्ध घोष की 'सुमंगला विलासिनी' नामक टीका से भी

---

१ तुलनीय : अरक्षितं तिष्ठक्ति दैव रक्षितं, सुरक्षितं दैव हतं विनश्यति ।
जीवस्यनाथोऽपिवने विसर्जितः, कृतप्रयत्नेऽपि गृहे विनश्यति ॥

—सुभाषित

यह बात स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि गोशाल के सिद्धांतों को यदि कहा भी गया है तो वह कम से कम अपने शब्दों एवं शैली में ही बतलाया गया है। इसके सिवाय उस वर्णन में किसो प्रकार की दार्शनिक प्रणाली प्रयोग भी लक्षित नहीं होता, प्रत्युत वह सरासर व्यावहारिक रूप की ही अभिव्यक्ति जँचती है। जैसे, "जीवों के पाप कर्मों का कोई कारण नहीं, न उनका कोई आधार ही हो सकता है और न, इसी प्रकार किसी जीव के पुण्यों का ही कोई कारण अथवा उनका आधार हो सकता है। कोई भी अपने से वा दूसरों द्वारा किया गया ऐसा कार्य नहीं जिसका प्रभाव उसके भावी जीवन पर पड़ सकता है, कोई मानवीय कार्य, शक्ति, साहस, सहनशीलता वा मानवीय बल नहीं जो उसके इस जीवन की नियति को प्रभावित कर सके। सभी प्राणी, सभी जीवधारी, सभी जन्म लेने वाले, सभी श्वास-प्रश्वास वाले बिना किसी शक्ति के हैं; उनमें बल नहीं, न कोई गुण ही रहा करता है तथा उनका विकास केवल नियति, संयोग और स्वभाव द्वारा परिचालित होता है और वे तदनुसार छह प्रकार के वर्गों में रह कर सुख वा दुख अनुभव किया करते हैं।" यहाँ पर, स्पष्ट है कि न तो नियति की कोई परिभाषा दी गई है, न उसके स्वरूप का ही कोई परिचय दिया गया है, प्रत्युत केवल उसके द्वारा होने वाले कतिपय परिणामों की ही ओर इंगित करके उससे अपना काम निकाल लिया गया है। संभव है कि ऐसा, केवल पर्याप्त सामग्री के अभाव से ही किया गया हो, किन्तु जो कुछ इस समय ऐसा आधार उपलब्ध है उसके अनुसार भी, हम नियतिवाद को उतनी सरलता के साथ नहीं उड़ा सकते।

छिटपुट अवतरणों के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलंब नहीं लगता कि मंक्खलि गोशाल के उक्त नियतिवाद में सारतत्व की कमी नहीं है। उनकी मान्यता की आधारशिला यह प्रतीत होती है कि 'नियति' किसी सुव्यवस्था के सिद्धांत का एक व्यापक एवं सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एवं प्रत्येक दृश्य को मूलतः शासित किया

करता है जिस कारण मनुष्य के कर्मस्वातंत्र्य को कोई स्थान नहीं, न उसकी क्रियाशक्ति का ही कोई परिणाम संभव है। वास्तव में यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक एवं विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वयं भगवान बुद्ध एवं महावीर ने भी स्वीकार किया है। उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद में भी एक सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियंत्रित एवं शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी संभावना है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के परिणामवाद में भी हमें नियतिवाद के तत्व दीख पड़ते हैं, किन्तु वहाँ पर भी आजीवकों की जैसी कठोरता का पता नहीं चलता। नियति की चर्चा* करते समय मंक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि "जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लम्बाई तक एक ही प्रकार बढ़ती जाती है, उसी प्रकार चाहे मूर्ख हो, चाहे कोई पंडित ही क्यों न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दुख का अंत करना है।" मंक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियों ने कुछ और भी विकसित किया। उन्होंने, कदाचित्, पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को 'अविचलित नित्यत्वम्' जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है। इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा 'नित्य स्थायी' (Static) सा बन जाता है जिससे किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुंजायश नहीं रहती। किसी भी प्रगति का प्रत्येक अंश उसमें बराबर विद्यमान रहा करता है, जिस प्रकार सूर्य के उदित हो जाने पर भी, तारे बराबर बने रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का मोक्ष हो जाने पर भी, उसके सांसारिक जन्मादि पूर्ववत् कायम रहते हैं, कोई वस्तु न तो उत्पन्न होती है, न वह नितांत नष्ट ही हो पाती है और कालतत्व भी केवल भ्रामक मात्र है। एक तमिल ग्रंथ के अनुसार "धन एवं

निर्धनता, पीड़ा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशों में भ्रमण—ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गए रहते हैं और यह सारा जगत किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है" जिस कथन पर, संभवतः कर्मवाद एवं जन्मांतरवाद का भी प्रभाव स्पष्ट है। उक्त तमिल ग्रन्थ पीछे रचा गया है, जब मंक्खलि गोशाल एवं पकुध कच्चायन के नियतिवाद पर इधर के अनेक प्रभाव पड़ चुक रहे होंगे।

स्वयं मंक्खलि गोशाल का नियतिवाद भी कोई अभूतपूर्व घटना के रूप में नहीं प्रकट हुआ होगा। प्राचीन देशों की विविध जातियों का इतिहास पढ़ने से जान पड़ता है कि नियति का एक न एक रूप उनके यहाँ भी सदा वर्तमान रहा। वैदिक साहित्य में इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु 'महाभारत' के समय में हमें बड़े से बड़े वीर तक नियति द्वारा प्रभावित प्रतीत होते हैं। कर्ण ऐसे वीर का यह कहकर ही युद्धोद्यत होना कि मरना तो निश्चित है ही तथा भगवान् श्री कृष्ण का 'गीता' में यह उपदेश देना कि शरीरधारी सदा अपने शरीर को पुराने वस्त्र सा बदलता रहा करता है इसी ओर संकेत करते हैं। यहाँ के बौद्ध, जैन एवं सांख्य दर्शनों की मान्यताओं की ओर इसके पहले कहा जा चुका है। चीन के प्रमुख धर्म के अंतर्गत भी नियति को विश्वव्यापी नियम के रूप में तथा निर्वैयक्तिक भी स्वीकार किया गया है और इस दृष्टि से वहाँ पर भी मनुष्य उसकी क्रीड़ा वा लीला का एक साधन मात्र ही रहता है। परन्तु वहाँ पर नियति वस्तुतः किसी अन्य अलौकिक शक्ति से उत्पन्न मानी जाती है जो इस नियतिवाद की नियति के लिए संभव नहीं है। ईसाई धर्म में भी नियति को बहुत महत्व देकर फिर उसे ईश्वरेच्छा के आधीन कर दिया गया है और इस प्रकार ईश्वरीय शक्ति उससे बड़ी हो जाती है। ईसाइयों में कदाचित् सबसे पहले सेंट ऑगस्टाइन ने दिष्ट या Predestination का प्रचार किया था और वह जीव को 'भवितव्यता का दास' भी बत-

लाया करते थे। उनके अनुसार नियति के नियमों में कहीं थोड़ी सी भी गुंजायश नहीं जिस बात को पीछे, किसी रूप में, ईसाई प्रचारक कैलविन (Calvin) ने भी स्वीकार कर लिया था। ग्रीक लोग ऐसी दैवी शक्ति से अत्यन्त भयभीत रहा करते थे और वहाँ के नाटकों में तो नियति-जन्य प्रभाव के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कर्ण के समान यहाँ पर भी 'ईलियड' के हेक्टर एवं एचिलीज़ नामक वीरों को हम भाग्य और दैव की बातें कहते देखते हैं और यहाँ कभी-कभी देवता भी सहायक होते हैं। यहूदी एवं फैरीसी जाति के लोगों के लिए भी यह कहा जाता है कि वे लोग मनुष्य की कार्य-सम्बंधी स्वाधीनता को स्वीकार नहीं करते थे और भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों के ही कर्मों तथा घटनाओं तक को पूर्व निर्दिष्ट मानकर चला करते थे। किन्तु यहूदी भी, फिर परमेश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता को ही बढ़ावा देने लग गए। यही बात मुसलमानों में भी पायी जाती है, जहाँ क़िस्मत, तक़दीर, नसीब एवं बख्त जैसे शब्दों के प्रयोग किये जाते हैं, किन्तु फिर भी वे ख़ुदा को नियंता मान लेते हैं। मंक्खलि गोशाल की विशेषता है कि उन्होंने नियति को एक अत्यन्त व्यापक एवं कठोर-कर्म स्वरूप प्रदान कर उसके अनुसार, स्वभावतः, अन्य अनेक बातें भी घटा दीं। फिर उसके अनुयायियों में से कुछ लोगों ने नियतिवाद के अंतिम छोर तक पहुँचने की चेष्टा की। इस प्रकार, उनके संप्रदाय के हो रूप में सुधार हो गया। बहुत से आजीवकों ने पीछे वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर एक प्रकार की भक्ति-साधना तक स्वीकार कर ली।

(५)

मंक्खलि-गोशाल एवं अन्य आजीवकों द्वारा प्रचारित नियतिवाद के साथ ही विभिन्न देशों में भी प्रचलित नियति-सम्बंधी धारणाओं पर एक बार इस प्रकार, सिंहावलोकन कर लेने पर हमें इस प्रश्न के महत्वपूर्ण होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता और स्वभावतः इसका

कारण जानने की हमारी प्रवृत्ति भी हो पड़ती है। परन्तु "यह किस प्रकार सम्भव है ?" ऐसा एक प्रश्न स्वतंत्र रूप से भी उठ सकता है जिसका कुछ समाधान, कदाचित् इस सम्बंध में प्रयुक्त कतिपय शब्दों के आधार पर भी किया जा सके, उदाहरण के लिए यदि केवल हिन्दू-समाज में अधिकतर प्रचलित शब्दों पर भी एक साधारण दृष्टि डाली जाय तो, इस पर कुछ न कुछ प्रकाश पड़ने की गुंजायश हो सकती है। ऐसा करने के पूर्व यदि हम उनकी एक संक्षिप्त सूची तैयार कर लें तो पता चलेगा कि यहाँ इस सम्बंध में, बहुधा भाग्य, दिष्ट, अदृष्ट, काल, भावी, भवितव्यता, कर्म, विधि, विधाता, भागधेय, प्रारब्ध, दैव, अंक, होनी, होनहार, हठ एवं संयोग जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग हुआ करते हैं जिनका एक साथ अध्ययन आवश्यक है। इन शब्दों के अतिरिक्त कभी-कभी किसमत, तक़दीर, नसीब, मुकद्दर, बख्त, सितारा तथा Fate, Lot, Destiny, Fortune, Luck, Chance, जैसे अन्य अनेक शब्द भी प्रायः व्यवहृत होते रहते हैं, किन्तु ये अधिकतर उनके पर्याय रूपों में ही आया करते हैं और इनके कारण, मूल धारणा में भी कोई परिवर्तन अनिवार्य न होगा। अब, यदि उपर्युक्त शब्दों पर कुछ विशेष ध्यान देकर उनका वर्गीकरण भी कर लिया जाय तो, जान पड़ेगा कि उनमें से कुछ अर्थात् भाग्य, भागधेय, प्रारब्ध, अंक, दिष्ट, भावी, भवितव्यता, विधि, होनी, होनहार, कर्म और दैव जहाँ कोई कार्य या कार्यफल मात्र कहला सकते हैं वहाँ, अदृष्ट, काल, विधाता, हठ, संयोग एवं नियति ही ऐसे शब्द हैं जिन्हें हम किसी न किसी प्रकार के कर्ता का बोधक भी ठहरा सकते हैं। यों तो साधारण प्रयोगों में उक्त 'भाग्य' आदि शब्दों को भी प्रायः कर्त्ता जैसा मान लिया जाता है। फिर, यदि केवल प्रथम वर्ग के शब्दों का ही एक बार और भी विश्लेषण किया जाय तो, पता चलेगा कि भाग्य, भागधेय, विधि, अंक दिष्ट, एवं दैव जहाँ किसी न किसी वाह्यकर्त्ता का भी अस्तित्व सूचित करते हैं, वहाँ कर्म, प्रारब्ध, भावी, भवितव्यता, होनी एवं होन-

हार ऐसे हैं जिनके लिए ऐसा कोई अनुमान करना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार, दूसरे वर्ग के शब्दों का भी विश्लेषण कर लेने पर हमें पता चलता है कि इनमें से भी 'अदृष्ट' शब्द जहाँ न दीख पड़ने वाले की 'काल' समय की और 'हठ' एवं 'संयोग' किसी अज्ञात कर्त्ता की ओर संकेत करते हैं वहाँ केवल विधाता एवं नियति ही ऐसे दो शब्द हो सकते हैं जिनसे क्रमशः किसी स्पष्ट कर्त्ता और कर्तव्य शक्ति मात्र का बोध हो सके और इनमें से भी केवल विधाता का ही प्रयोग सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के लिए भी हुआ करता है।

इस प्रकार कह सकते हैं कि विधाता, सृष्टि का निर्माण करते समय, प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई न कोई 'भाग्य' (उसके भाग में वा भोगने के लिए फल का) निर्णय कर दिया करता है जो उस व्यक्ति का 'भागधेय' अथवा भाग्यांश बन जाता है और उसके ऐसा करने को कोई 'विधि' भी होती है जिसका विधायक भी स्वयं विधाता है। इसके सिवाय यह भी कह सकते हैं कि अपने इस कार्य को सूचित करने के लिए विधाता उस पर कोई 'अंक' वा छाप भी लगा देता है जिसे 'दिष्ट' (नियुक्त वा निश्चित) कह लेंगे और वही देवता विहित होने के कारण 'दैव' नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। वही भागधेय उस व्यक्ति के भविष्य के लिए पीछे भावी, होनी, होनहार वा भवितव्यता भी हो जाता है जिसे भोगने के लिए उसे विवश होना पड़ता है और इस प्रकार उस विधाता के कर्त्तव्य का पूर्ण समाधान किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार सोचने पर फिर उस 'विधाता' के भी निर्माता और निर्माता के सम्बंध में कुछ न कुछ उधेड़ बुन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसलिए विवश होकर हमें फिर उस अन्य, कर्त्ता सी समझ पड़ने वाली नियति पर विचार करना पड़ जाता है जो, केवल किसी निश्चित एवं सुव्यवस्थित नियम-पद्धति के रूप में ही, अनुभवगम्य समझी जा सकती है, जिसे अज्ञात होने के कारण, हम 'हठ' वा 'संयोग' कह सकते हैं, समय के प्रवाह में कार्यशील होती

जान पड़ने के कारण 'काल' कह सकते हैं तथा इसी प्रकार जिसे हम कभी दीख न पड़ने वाली होने के कारण 'अदृष्ट' भी ठहरा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर केवल एक प्रश्न और भी रह जाता है जिसका कोई समाधान, इस प्रकार नियति को सर्वेसर्वा बना देने मात्र से नहीं चलता और यह 'कर्म' एवं 'प्रारब्ध' शब्दों के भी प्रयोग होते रहने का है। 'कर्म' शब्द निश्चित रूप से इस प्रसंग में, केवल उन कामों की ओर ही संकेत करना है जो उपर्युक्त व्यक्ति द्वारा किसी पूर्व जन्म में अर्जित किये जा चुके हैं, जिनका एक अंश 'संचित' वा भोगने के लिए सुरक्षित कहलाता है, दूसरा 'क्रियमाण' अथवा प्रस्तुत समय में भोगा जाने वाला कहा जाता है और केवल उस तीसरे को ही प्रारब्ध का नाम देते हैं जिसका भोग्य वा क्रियमाण में परिणित होने के लिए आरम्भ कर दिया जा चुका है, किन्तु जिसका कुछ अंश अभी तक, स्वभावतः, शेष भी रह गया है। 'कर्म' एवं 'प्रारब्ध' शब्द, इस प्रकार उस कर्मवाद की ओर भी निर्देश करते हैं जो किसी न किसी न रूप में हिंदुओं, बौद्धों एवं जैनों को भी मान्य है तथा जिसके विरुद्ध कभी मंक्खलि गोशाल को अपने नियतिवाद का प्रचार भी करना पड़ा था।

नियतिवाद एवं कर्मवाद के सम्बंध में विवाद उठाने का श्रेय केवल मंक्खलि गोशाल मात्र को ही दिया भी नहीं जा सकता। यह तो प्रायः सभी के लिए एक व्यक्तिगत समस्या भी है और यह "नियति बनाम पुरुषकार" के रूप में प्रायः तभी उपस्थित होती है जब हम किसी कार्य में अपनी पूरी शक्ति लगाकर तथा सभी प्रकार के साधनों का उपयोग भी करके हाथ पर हाथ रख बैठ जाया करते हैं तथा अपनी असफलता को किसी प्रत्यक्ष कारण का अनुमान न कर सकने के कारण, कभी-कभी संदेह करने लग जाते हैं कि इसमें किसी अन्य का हाथ होगा। फिर तो हमारे भीतर इस प्रकार के तर्क-वितर्क भी होने लगते हैं कि वह शक्ति कौन तथा कैसी हो सकती है? और उसकी क्रिया-पद्धति के नियम का निर्धारण भी हमारा एक लक्ष्य हो जाता है। इस प्रकार की प्रश्न, कहते

हैं, एक बार भगवान् श्रीरामचन्द्र के भी सामने कभी आया था जिसका समाधान करने के लिए 'योगवाशिष्ठ' ग्रन्थ की रचना हुई थी और उसके द्वारा महर्षि वशिष्ठ ने इस बात को बड़ी योग्यता के साथ प्रति-पादित करने के यत्न किये थे कि पुरुषकार को दैव से कहीं अधिक महत्व देना चाहिए। उनका कहना था कि—

प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषम्।[1]

अर्थात् "पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन (पुराना) और ऐहिक (प्रस्तुत काल का) अर्थात् पिछले जन्म का किया हुआ तथा इस जन्म में किया हुआ" और यह भी कि,

प्राक्तनं पौरुषं यत्तद् दैवशब्देन कथ्यते।[2]

अर्थात् पिछले जन्म के पौरुष को ही 'दैव' शब्द द्वारा अभि-हित किया जाता है। इस प्रकार इन युक्तियों द्वारा उन्होंने दोनों मतों के बीच एक सामंजस्य बिठा देने की भी चेष्टा की तथा एक स्थल पर उन्होंने यह भी स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

पौरुषं सर्वकार्याणां कर्तृ राघव, नेतरत्।
फलभोक्तृ च सर्वत्र न दैवं तत्र कारणम्॥[3]

अर्थात् हे रामचंद्र, वस्तुतः पौरुष ही सर्वत्र कार्य का कर्त्ता और भोक्ता है, दैव को हम किसी प्रकार उसका कारण नहीं ठहरा सकते। इसी प्रकार, नियति के विषय में अन्यत्र, काश्मीर शैवमत के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रसंग में भी कहा गया है—

---

१. 'योगवाशिष्ठ' (मुमुक्षु प्रकरण ४-१६)।

२. वही, (६—३५)।

३. वही, (६—२)।

नियते शिव एवैकः स्वतंत्रः कर्त्तृतामियात्।
कुम्भकारस्य या संवित् चक्रदण्डादि योजने ॥[१]

अर्थात् शिव ने सारे सृष्टि-कार्य आदि को नियति से स्वतंत्र रहकर ही, किया और वह जैसे कुम्भार के चक्र-दंडादि की योजना में केवल एक साधन मात्र ही रही। तथा—

नियतेर्महिमा नैव फले साध्ये निवर्त्तते।[२]

अर्थात् साध्य फलकी उपलब्धि में नियति का कुछ भी महत्व नहीं है। परन्तु वहीं एक स्थल पर यह भी कहा गया है—

नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले।[३]

अर्थात् नियति विश्व के विशिष्ट कार्यकलापों की योजना सँभाला करती है जिससे उनका महत्व तो सूचित होता है, किन्तु वह सभी कुछ नहीं है।

उपनिषदों के अंतर्गत किसी नियतिवाद का कोई उदाहरण नहीं पाया जाता, किन्तु मनु के समय से इसका महत्व कुछ न कुछ बढ़ता ही चला जाता जान पड़ता है। 'महाभारत' के एक स्थल पर आता है "सारा विश्व अपने सृष्टिकर्त्ता के नियमानुसार चलता है, किन्तु यह नियति के शासन द्वारा प्रभावित रहता है। यह स्वतंत्र नहीं है।"[४] फिर, इसी प्रकार, यह भी उसी ग्रन्थ में दीख पड़ता है, "मनुष्य को सुख वा दुख या तो भगवान की इच्छा से वा नियति के कारण

---

१. 'तन्त्रालोक' की टीका में उद्धृत।

२. 'तन्त्रालोक' (आह्निक १३, श्लोक १४८)।

३. वही, भा० ६ पृ० १६०।

४. 'महाभारत' (२—५७—४)।

अथवा अपने ही कर्मफल से हुआ करता है ।"[1] 'योग वाशिष्ठ' में भी एक प्रसंग में आता है "दैव एवं पुरुषकार दोनों भेड़ों की भाँति परस्पर एक दूसरे से लड़ा करते हैं, जो जिस अवसर पर बलवान पड़ता है वह दूसरे को पछाड़ देता है।"[2] ऋषि याज्ञबल्क्य भी, इसी प्रकार कहते हैं, "जैसे किसी एक ही पहिये से रथ नहीं चलता, इसी प्रकार बिना पुरुषकार के दैव की सिद्धि नहीं होती।"[3] 'रामायण' में भी एक स्थल पर आता है "किसी भी व्यक्ति का कार्य अंशतः दैव द्वारा, अंशतः 'हठ' द्वारा तथा अंशतः उसके कर्म द्वारा शासित और परिचालित हुआ करता है।"[4] उपनिषदों में से भी कम से कम 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के अंतर्गत कहा गया है "कहीं काल को, कहीं स्वभाव को, कहीं नियति को, कहीं यदृच्छा को, कहीं भूतों को, कहीं जीवात्मा को और कहीं सभी के संयोग को कारण ठहराया गया है, किन्तु इनमें से कोई भी ऐसा सिद्ध नहीं होता।"[5] जिससे 'नियति' शब्द के पुराने प्रयोग का एक प्रमाण भी मिलता है। इन सभी अवतरणों के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि पुरुषकार अर्थात् पुरुष की कार्यक्षमता को पूरा महत्व देने वालों ने भी प्रायः नियति को सर्वथा हेय नहीं कहा है। प्रसाद जी की 'आँसू' नामक रचना में में तो उसे "एक ऐसी नटी के रूप में दिखलाया गया है जो नाचती हुई कंदुक क्रीड़ा करती रहती है और इस दुःखी विश्व के प्रांगण में अपने अतृप्त मन को तृप्त करने के लिए चेष्टाशील भी रहा

---

१. 'महाभारत', (३—१८३—८६)।

२. 'योग वाशिष्ठ' (मुमुक्षु प्रकरण, ६—१०)।

३. 'याज्ञबल्क्य स्मृति' (आचाराध्याय ३४६)।

४. 'रामायण' (३, ३२, १२—२१ एवं १८३-८६)।

५. 'श्वेताश्वरोपनिषद्' (१—२)।

करती है" [१], किन्तु उनकी रचना 'कामायनी' से ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसी स्थिति की भी कल्पना कर लेते हैं जिसकी अनुभूति हो जाने पर साधक किसी 'निराधार' (जीवात्मा की अवस्था से परे शिवतत्व) को उपलब्ध कर, नियति के खेलों से पृथक् भी हो जा सकता है।[२]

कहते हैं कि मुसलमानों के यहाँ नियतिवाद का पहले कुछ भी महत्व नहीं था, किन्तु आठवीं शताब्दी से दमिश्क के केन्द्र के अधिक प्रभावशाली हो जाने पर वहाँ की विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव में आकर उसके सूफ़ी संप्रदाय ने इसे विशेष रूप से अपनाया और तब से इसका यहाँ भी पूरा प्रवेश हो गया। मार्क्सवाद के लिए यह कहा जाता है कि उस पर नियतिवाद का प्रभाव है, किन्तु उसमें आये हुए इस सिद्धान्त से कि मनुष्य प्रकृति को, अपने स्वभाव को तथा सुषुप्त शक्तियों को बदलता और विकसित करता है तथा प्रकृति के प्रभावों द्वारा निरंतर लाभ भी उठाया करता है यह सिद्ध होता है कि वहाँ पर भी, संभवतः दोनों प्रकार की विचारधाराओं का सामंजस्य है।[३] अतएव, जान पड़ता है कि नियतिवाद किसी प्रकार के साधारण तर्कों द्वारा कभी अपदस्थ नहीं किया जा सकता, केवल इसका रूपमात्र ही परिवर्तित हो सकता है। जब तक विश्व के मूलकारण, उसके नियंतृत्व, उसके सभी प्राणियों के सुख-दुःख एवं मानवों के कर्त्तव्याकर्त्तव्य जैसे प्रश्न उठते रहेंगे और उनके समाधान की चेष्टाएँ की जाती रहेंगी तथा जब तक उनके समाधानों द्वारा अंतिम संतोष उपलब्ध नहीं होता, हमें नियति के किसी न किसी रूप को स्वीकार कर लेना ही पड़ सकता है। इस युग में विज्ञान की बहुत कुछ उन्नति हो चुकने पर भी अभी

---

१. प्रसाद : 'आंसू' (भारती भण्डार, पंचम संस्करण) पृ० ५१।

२. वही : 'कामायनी' (रहस्य सर्ग, पृ० २६०)।

३. आचार्य नरेन्द्र देव : 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' पृ० ४८०-१।

हमारा किसी (Chance) वा आकस्मिक कारण का अनुमान कर लेना इस बात को सिद्ध करता है कि उपर्युक्त महत्वपूर्ण प्रश्नों की भूल-भुलैया में भी हम अभी कदाचित् बहुत दिनों तक किसी 'दैव', 'हठ' वा 'नियति' जैसी अनुपम एवं 'अज्ञेय' शक्ति के विषय में अनुमान करते ही रहेंगे। इस सम्बंध में यहाँ पर एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि नियति के प्रसंग में आने वाले विविध नामों में से अधिकतर वे ही दिये जाते आये हैं जो अनिश्चित और अस्पष्ट भावों वाले हैं। यह परंपरा भी बहुत पुरानी है और जैसा हेरोडोटस तक ने कहा है "प्राचीन पेलासजियन लोग नियति से भयभीत हो अनेक देवताओं को भेंट चढ़ाया करते थे, किन्तु वे उनके नामों वा उपाधियों तक से भी परिचित नहीं थे और वे उन्हें केवल देवता तथा नियंता मात्र कह देते रहे।"[1]

मंक्खलि गोशाल के नियतिवाद के साथ एक परमाणुवाद भी आजीवकों में चलता रहा जिसकी ओर कुछ संकेत किया भी जा चुका है।[2] दक्षिणी तमिल ग्रन्थ 'मणिमेखलै' के आधार पर जान पड़ता है कि आजीवकों में कदाचित्, दो भिन्न-भिन्न उप-संप्रदाय भी बन चुके

---

१. मैकेंजी : 'मिथ्स ऑफ़ बैबिलोनिया' पृ० ३१७ पर उद्धृत।

२. कहते हैं कि मंक्खलि गोशाल ने अपने मत का परिवर्तन जीव विज्ञान के व्यापक सिद्धांतों के अनुसार किया था और उसके अंतर्गत वनस्पति शास्त्र (Botany) प्राणिशास्त्र (Zoology) भूगर्भशास्त्र (Geology), शरीर विज्ञान (Anatomy), भौतिक रचनाशास्त्र (Physiology) तथा गर्भ विज्ञान (Embryology) जैसे वैज्ञानिक शास्त्रों की बातें आ जातीं थीं और उन्हें भी अधिक विकसित करने का कार्य जैनधर्म वालों ने अपने विविध आगमों द्वारा किया। (दे० Dr. B. C. Law: India as described in The Early Texts of Buddhism and Jainism, p. 260)

थे जिनमें से एक के अनुसार कर्मवाद के सिद्धान्त के अधिक प्रचार द्वारा नियतिवाद कुछ हतोत्साह पड़ता जा रहा था और 'नीलकेशी' के अनुसार 'अविचल नित्यत्व' की धारणा और भी दृढ़तर होती जा रही थी। नियतिवाद के अनुसार नियति के साथ दो अन्य नियम भी उसके भीतर काम करते थे जिन्हें क्रमशः 'भाव' एवं 'संगति' कहा जाता था और इनमें से प्रथम का क्षेत्र जहां किसी व्यक्ति या वस्तु का आंतरिक विशिष्ट स्वभाव था वहाँ दूसरे का सम्बंध उसके बाहरी वातावरण से कहा जा सकता था। परन्तु इनमें से किसी के भी विषय में पीछे अधिक विचार-विमर्श नहीं हो सका, न उनके सम्बंध की विचार-धाराओं का कोई निश्चित विकास ही हो पाया। आजीवकों का संप्रदाय मौर्यकाल में प्रगतिशील था और उसे कुछ प्रतिष्ठा भी प्राप्त रही, किन्तु कुछ आगे क्रमशः उसका ह्रास ही होता गया जान पड़ता है। यदि उसका अस्तित्व बना रहता है तो वह भी दक्षिण के तमिल प्रान्तों में ही लक्षित होता है और वह भी वहाँ अधिक से अधिक चौदहवीं शताब्दी तक ही सुन पड़ता है।

चौरासी सिद्ध और उनका संप्रदाय

(१)

'सिद्ध' शब्द के प्रयोग, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दो प्रकार के मिलते हैं। 'अमरकोश' में सिद्ध नाम की किसी एक दिव्य जाति की चर्चा की गई है जो यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों, गुह्यकों, आदि जैसी है और जिसकी गणना देव-योनि में की जाती है।[1] ऐसी ही सिद्ध जाति की स्त्रियों का प्रसंग महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में आता है जहाँ पर उन्होंने उनका वायु-वेग से अग्रसर होते हुए मेघों की ओर भोलेपन के साथ देखना और चकित होना बतलाया है।[2] इसी प्रकार महाकवि वाल्मीकि रचित कहे जाने वाले प्रसिद्ध स्तोत्र 'गंगाष्टक' में भी निर्मल गंगाजल में स्नान करनेवाली स्त्रियों में, गंधर्व, अमर एवं किन्नरों की भाँति सिद्ध बधुओं का भी उल्लेख मिलता है।[3]

---

१. विद्याधराप्सरो यक्षरक्षो गंधर्व किन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥

—अमरकोश (१-११)

२. अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः।
दृष्टोत्साहश्चकित चकितं मुग्ध सिद्धाङ्गनाभिः॥

—पूर्व मेघदूतम् (१३)।

३. गन्धर्वामर सिद्ध किन्नर वधू तुङ्गस्तनास्फालितम्।
स्नानाय प्रति वासरं भवतु मे गङ्गा-जलं निर्मलम्॥

—गङ्गाष्टक।

पुराणों के अनुसार इस जाति के लोगों का निवास-स्थान भुवर्लोक समझा जाता है और कभी-कभी अंतरिक्ष भी बतलाया जाता है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी संख्या अट्ठासी सहस्र की है और ये अमर भी हुआ करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं गंधर्वों वा किन्नरों की भाँति इनके हिमालय पर्वत पर भी रहने का अनुमान किया गया मिलता है और महाकवि कालिदास का भी उपर्युक्त संकेत संभवतः किसी पर्वतीय जाति की ओर ही उद्दिष्ट जान पड़ता है। श्री सी० वी० वैद्य के अनुसार भी सिद्धों का निवास-स्थान हिमालय प्रदेश का दक्षिणी ढाल ही हो सकता है।[1]

'सिद्ध' शब्द का एक दूसरा प्रयोग ऐसे लोगों के लिए किया गया मिलता है जो योग वा तप जैसी साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मुक्त दशा तक पहुँचे हुए समझे जाते रहे हैं और जिनकी गणना, इसी कारण, बहुधा महर्षियों के साथ भी की जाती रही है। श्रीमद्भगवद् गीता के अंतर्गत ऐसे सिद्धों वा महर्षियों के साथ-साथ विराट् रूप के प्रति स्वस्ति-वादन करना तथा स्तुति-गान में प्रवृत्त होना कहा गया है।[2] इसके सिवाय उसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण का यह कथन भी मिलता है कि विभूतिमान् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।[3] गोस्वामी तुलसीदास ने तो सिद्धों को विरक्तों, महामुनियों एवं योगियों के साथ स्पष्ट शब्दों में गिना है और उन्हें 'सदा काम के चेरे' समझे जाने वाले देव, दनुज,

---

1. C. V. Vaidya : The Riddle of the Ramayan, p94.

२. स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षि सिद्ध संघाः स्तुवन्ति।
त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥— गीता (११-२१)।

३. सिद्धानां कपिलो मुनिः। —वही (१०-२६)।

नर एवं किन्नरादि से भिन्न श्रेणी में स्थान दिया है।[1] इसी प्रकार उनके एक मंगलाचरण वाले श्लोक में भी पाया जाता है कि सिद्ध लोग अपनी श्रद्धा एवं विश्वास की सहायता से 'स्वान्तःस्थ ईश्वर' का साक्षात् कर लेते हैं।[2]

इसके सिवाय 'सिद्ध' शब्द उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त होता आया है जो रसेश्वर सिद्धांतों के अनुयायी होने के कारण 'रसेश्वर सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग अंतर्वेद प्रदेश के निवासी थे और इनका विश्वास था कि पारे की रसायन-क्रिया द्वारा कायाकल्प कर शरीर को अमरत्व प्रदान किया जा सकता है। पारा वा पारद इनकी क्रिया का प्रधान रस था और वह साधक को संसार सागर के दूसरे पार तक पहुँचानेवाला समझा जाता था।[3] इन सिद्धों की संभवतः नव पृथक्-पृथक् परंपराएँ थीं जिसमें नव कोटि सिद्धों का पाया जाना बतलाया जाता है।[4] परंतु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है

---

१. देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥
इन्हकै दसा न कहेउ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥
सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए वियोगी॥
—रामचरित मानस (बा० का०)

२. भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्॥
—रा० च० मा०—(बा० का०)

३. संसारस्यपरंपारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।

४. ऐसे सिद्धों को हिंदू तंत्रों में कहीं-कहीं दिव्यौघ, मानवौघ एवं सिद्धौघ नामक तीन वर्गों में विभाजित किया गया भी मिलता है जैसे "दिव्यौघाश्च मानवौघाश्च सिद्धोघाश्च समागताः।" ललिता सहस्र नाम (बंबई १९१९) और ताराहस्य, कौलावली तंत्र एवं श्यामा-रहस्य आदि में इनमें से कुछ नाम भी दिये गए मिलते हैं। दे० क्रमशः पृ० ११९; पृ० ७६ एवं पृ० २४)।

कि ये नव कोटि सिद्ध वस्तुतः उस प्रसिद्ध चीनी ताओ-धर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा के पूर्व की किसी शताब्दी में यहाँ यात्री होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागम वालों को 'शुद्ध मार्ग' की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगमी सिद्धों पर कुछ न कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया। इस शुद्ध मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्व प्रसिद्ध 'अष्टादश सिद्ध' समझे जाते हैं और इनमें शैवभक्त मणिवाचक, वागीश, ज्ञान सम्बंध एवं सुंदर की भी गणना की जाती है। ये शुद्ध मार्गी लोग ज्ञान-सिद्धों के नाम से भी अभिहित किये जाते हैं और कहा जाता है कि ये अमर हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि उक्त भोग अगस्त्य का समकालीन था जो आजकल के तिनेवली जिले में वर्तमान सिद्धकूट पर्वत पर रहा करते थे। शुद्ध-मार्गियों के इस प्रदेश तक उत्तरी भारत के गुरु गोरखनाथ भी ईसा की १० वीं शताब्दी में आये थे और सभी नवनाथ वहाँ से न्यूनाधिक प्रभावित थे जिस कारण उन्हें कभी-कभी नाथ-सिद्ध भी कहा जाता है। शुद्ध मार्गी ज्ञान-सिद्धों के अनुसार पूर्ण सिद्ध वही कहला सकता है जो अपने शरीर को काय-साधनों द्वारा पूर्णतः वश में किये रहता है और जो इस प्रकार अदृश्य रूप में सदा अमर बना रहता है।[1]

परंतु चौरासी सिद्धों को हम उपर्युक्त काल्पनिक वा अर्द्ध काल्पनिक वर्गों में से किसी एक में भी नहीं रख सकते। ये सिद्ध एक नितांत भिन्न प्रकार से चिंतन करने वाले, नवीन ढंग की साधनाओं में प्रवृत्त रहने वाले तथा एक विचित्र प्रकार की रहन-सहन के साथ जीवन व्यतीत करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी परंपरा का सम्बंध बौद्ध

1 Jyotirbhushan V. V. Raman Sastri : The Doctrinal Culture and Tradition of the Siddhas. (Cultural Heritage of India Vol. II, PP 313-17)

धर्म और विशेषकर उसके महायान संप्रदाय के साथ जुड़ा हुआ था और ये वज्रयान के अनुयायी एवं सहजयान के समर्थक थे तथा इनमें से कुछ लोग काल-चक्रयान में भी सहयोग प्रदान करते थे। ये कदाचित् योगशास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली से परिचित थे, किन्तु इनकी सिद्धता का आधार केवल योग-दर्शन में बतलायी गई 'समाधिज' अणिमादिक सिद्धियाँ[1] ही नहीं थी। इनके सम्बंध में हम उतने निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इन्होंने उसमें उल्लिखित जन्मौषधि मंत्र तथा तपोजन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त की थी वा नहीं। ये सिद्धियाँ भी वस्तुतः वे ही हैं जो योगियों को समाधि द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। पुराणों एवं तंत्रों में कुछ इस प्रकार की सिद्धियों की भी चर्चा आती है जो कतिपय अलौकिक साधनों द्वारा उपलब्ध की जा सकती है और जिन्हें अंजन, पादुका, गुटिका, धातु-भेद, बेताल, वज्र, रसायन एवं योगिनी की सहायता से प्राप्त की जाने वाली सिद्धियों के नाम से अभिहित किया जाता है। तांत्रिक साधना करने वाले कापालिक लोग बहुधा इसी प्रकार की सिद्धियों के फेर में रहा करते थे और उन्हीं के आदर्शों पर बड़े-बड़े महात्माओं के अनुयायी उनकी अलौलिक शक्तियों का प्रदर्शन किया करते थे। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की रचना 'सत्य हरिश्चंद्र' नामक नाटक में कापालिक वेषधारी धर्म द्वारा उक्त सिद्धियों की उपलब्धि बड़े गर्व के साथ बतलायी गई है।[1] संतों एवं महापुरुषों के श्रद्धालु जीवनी-लेखकों ने इस प्रकार की चमत्कार भरी बातों को अपनी रचनाओं के अंतर्गत महत्व देना अभी तक नहीं छोड़ा है।

---

१. जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः।

योगदर्शन (कैवल्यपाद, १)

२. अंजन गुटिका पादुका, धातुभेद बेताल।
वज्र रसायन जोगिनी, मोहिं सिद्ध यहि काल॥

—सत्य हरिश्चन्द्र, अं० ४।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रीगुरु पद नख मणिगन जोती' के स्मरण मात्र द्वारा हृदय में उत्पन्न हो जाने वाली 'दिव्य दृष्टि' का वर्णन करते समय उस 'सुअंजन' का भी उल्लेख कर दिया है जिसे अपनी आँखों में आँज कर न केवल साधक मात्र अपितु 'सिद्ध' एवं सुजान भी गुप्त धन देखा करते हैं।[1]

'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान. मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली तथा शक्ति-चालन नाम की दस मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं जिनका प्रचार स्वयं आदिनाथ ने किया था और जो सभी सिद्धों को प्रिय हैं। इन दशों को ग्रन्थकार ने रत्नों की पिटारी के समान परम गोप्य बतलाया है और इन्हें सर्वसाधारण क्या मरुतों तक के लिए दुर्लभ माना है।[2] चौरासी सिद्धों में भी ये साधनाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी, क्योंकि इनमें से कुछ के प्रसंग वज्रयानी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इसके सिवाय इन दसों

---

१. जथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान॥
—रा० च० मा०, बालकांड, अष्टक १

२. महामुद्रा, महाबंधो, महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबंधश्च, बंधो जालंधराभिधः ॥६॥

करणी विपरीताख्या, बज्रोली शक्तिचालनम्।
इदंहि मुद्रादशकं, जरामरण नाशनम्॥

आदि नाथोदितं दिव्यं, अष्टैश्वर्य प्रदायकम्।
वल्लभंसर्व सिद्धानां, दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।

इत्यादि—ह० प्र०, पृ० ७६-७

में से कम से कम एक अर्थात् ज्ञालंधरबंध का विशेष सम्बंध सिद्ध जालंधरीपा के साथ समझा जाता है। वज्रयानियों के अनुसार सिद्धत्व किन्हीं दुष्कर वा कठोर नियमों के पालन से नहीं मिलता, प्रत्युत सारी उपभोग्य वस्तुओं के सेवन से ही उपलब्ध होता है।[1] इसी कारण उन्होंने अपनी प्रमुख साधनाओं के अंतर्गत विविध प्रकार की स्त्रियों को महामुद्रा बनाने का भी आयोजन किया था। उनका कहना था कि ऐसा करते समय किसी साधक को स्त्रियों के कुल, जाति अथवा उनके साथ अपने निजी सम्बंध तक का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रज्ञापारमिता, वास्तव में, ललना का रूप धारण कर सर्वत्र एक समान वर्तमान समझी जाती है[2] और जुगुप्सित अर्थात् निंद्यकुल में उत्पन्न स्त्री का इसके लिए स्वीकार किया जाना कुछ अधिक महत्व रखता है; उसके द्वारा कुछ और भी शीघ्रता के साथ सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[3] इसलिए प्रसिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में से प्रायः सभी ने अधिकतर अंत्यजों की कन्याओं को ही महामुद्रा बनाकर अपनी साधना की थी। ये महामुद्राएँ उनकी सहचरियों की भाँति योगिनी

---

१. दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, सेव्यमानो न सिद्ध्यति।
सर्व कामोपभोगैस्तु, सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति॥

—गुह्यसमाजतंत्र, सप्तमपटल, पृ० २७

२. प्रज्ञा पारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाङ्क्षिभिः॥२२॥
ललना रूप मा-स्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता॥२३॥

—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, पृ० २२।

३. चाण्डालकुल सम्भूतां, डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सित कुलोत्पन्नां, सेवयन् सिद्धि माप्नुयात्॥८२॥

—ज्ञानसिद्धि, पृ० ३९।

के रूप में उनके साथ रहा करती थीं और इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर ही उन्हें सिद्ध समझा जाता था।

परंतु इन सिद्धों की प्रवृत्ति बहुधा सहजयान की ही ओर अधिक रहा करती थी, इस कारण, प्रारंभ में इनके संस्कार मूल वज्रयान के अनुसार चाहे जैसे भी बन चुके हों, इनका मुख्य उद्देश्य सहज-साधना का प्रचार था। उन्होंने डोम्बी, चांडाली जैसी योगिनियों के नाम अवश्य लिये हैं और उनके प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रदर्शित की है, किन्तु ऐसे स्थल अधितकर उनके परंपरा-पालन अथवा अधिक से अधिक एक प्रकार के कृतज्ञता प्रकाशन के ही द्योतक जान पड़ते हैं। एकाध सिद्धों ने ऐसी साधना के लिए निरे 'सुरतविलास' जैसे शब्द का भी प्रयोग किया है[1] जिससे उसका उच्च कोटि की साधना कहलाना सिद्ध नहीं होता। फिर भी इन सिद्धों की साधना वैष्णव सहजिया संप्रदाय की वैसी साधना से मूलतः भिन्न थी। सिद्धों का प्रधान उद्देश्य इसके द्वारा अपनी मानसिक वृत्तियों को विकसित और परिष्कृत कर अपने चित्त को शुद्ध, निर्मल एवं सहज रूप प्रदान करना था, जहाँ वैष्णव सहजिया पंथ के अनुयायी उसकी सहायता से अपने हृदय के भीतर विशुद्ध प्रेम का भाव जागृत किया करते थे। सिद्ध लोग महामुद्रा के प्रति अपने आकर्षण का अनुभव किसी हार्दिक भाव के रूप में नहीं करते थे, यह उनके लिए केवल चित्त-शुद्धि क्रिया में आवश्यक और स्वाभाविक एक मानसिक प्रवृत्ति वा भावना मात्र ही था। सिद्धों को भी बहुधा बौद्ध सहजिया कहा जाता है, क्योंकि ये भी वैष्णवों के 'मधुर भाव' के समान ही 'युगनद्धरूपी सहजानंद' की कल्पना करते हैं। किसी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करना आवश्यक नहीं समझते, तांत्रिक विचार-धारा से बहुत कुछ प्रभावित

---

१. कमल कुलिस वेवि मज्झठिउ जो सो सुरअ विलास ॥

—सरहपा का दोहाकोष, पृ० ६४।

जान पड़ते हैं, अपने गुरुओं के प्रति पूरी आस्था रखा करते हैं और सर्वत्र समानता के ही भावों का प्रदर्शन अपना कर्तव्य मानते हैं।[१] परंतु वैष्णव सहजिया के अनुयायियों की प्रत्येक साधना जहाँ, प्रधानतः किसी अलौकिक ईश्वरीय भावना द्वारा अनुप्राणित रहा करती है, वहाँ बौद्ध सहजिया वाले सिद्धों को इन बातों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। ये तो भ्रमों से परिच्छिन्न इस प्रपंचमय संसार में भी अपने 'उजूवाट' वा सीधे मार्ग के ही पथिक हैं और इन्हें अष्ट सिद्धियाँ उस पर चलते समय आपसे आप मिल जाया करती हैं।[२]

सिद्धों की रचनाओं में अंजन, गुटिका, पादुका आदि अलौकिक साधनों के प्रयोगों की चर्चा नहीं पायी जाती। किन्तु अन्य उपर्युक्त बातों की ओर किये गए कुछ न कुछ संकेत इनमें प्रायः सर्वत्र मिला करते हैं और प्रतीत होता है कि ये लोग बेताल, वज्र, धातुभेद, रसायन एवं योगिनी की सहायता अपने निजी ढंग से लिया करते थे। इनका इन्होंने पूर्ण परित्याग नहीं किया था, कम से कम इनका सम्बंध इनमें से किसी न किसी के साथ पहले अवश्य रह चुका रहता था। उदाहरण के लिए सिद्धाचार्य कण्पा का कहना है "मैं सहज क्षण का अनुभव करता हुआ अब 'मण्डल चक्क' से विमुक्त हो गया"[३] तथा "मैं इस बात को परमार्थरूप में कहता हूँ कि जिस किसी ने अपने चित्त को निज गृहिणी के साथ रहकर निश्चल बना लिया वही, वास्तव

---

[१]. एम्-एम् बोस : पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट, पृ० १३४-४७।

[२]. एषा अष्टमहासिधि सिज्झइ उजूवाट जायन्ते—शांतिपा।

[३]. मण्डल चक्क विमुक्क, अच्छउँ सहज खणेहि ॥१८॥

—कण्हपा का दोहाकोष।

में, नाथ वा वज्रधर कहलाने योग्य हो जाता है।[1] इसी प्रकार वे अपने को, 'डोमिन' के ही कारण हड्डियों की माला धारण करने वाला 'कपाली' भी कहते हैं[2] और अन्यत्र अपना वर्णन 'कान्ह कपाली योगी' के रूपक द्वारा करते हैं।[3] सिद्ध भुसुकपा का भी कहना है कि मैं आज निज गृहिणी के रूप में चाण्डाली को ग्रहण कर पूरा बंगाली बन गया।[4] इसी प्रकार, सिद्ध गुंडरीपा भी 'जोगिनी' को संबोधित करते हुए बतलाते हैं "मैं तेरे बिना क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता।"[5] इसके सिवाय सिद्धाचार्य सरहपा के इस कथन से कि जिस किसी को जीवन एवं मरण के विषय में कोई आशंका हो वह रसायन क्रिया को अपनाये रहे, मैं तो दोनों को एक ही समझता हूँ तथा उन दोनों में से किसी में भी कोई विशेषता न पाकर 'उस अचिंत्य धाम' की ओर प्रवृत्त हूँ[6] उनके रसायन प्रयोग के साथ न्यूनाधिक परिचित होने की ध्वनि निकलती है।

फिर भी इन सिद्धों में से कोई भी उपर्युक्त बातों की ओर अधिक ध्यान देता हुआ नहीं दीख पड़ता। इसका मुख्य लक्ष्य सहज स्थिति

---

१. जेकिअ णिच्चल मण रअण, णिअघरिणी लइ एत्थ।
सोह वाजिर णाहुरे मयि बुत्तो परमत्थ ॥२१॥
—कण्हपा का दोहाकोष।

२. तूलो डोम्बी हाऊँ कपाली। तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली। चर्या, १०।

३. वही, चर्या ११।

४. आजि भूसू बङ्गाली भइली। णिअ घरिणी चण्डाली लेली—चर्या ४९।

५. जोइनि तँइ बिनु खनहिं न जीवनि—चर्या ४।

६. वही, चर्या २२।

में पहुँचकर सहज प्रवृत्ति के अनुसार जीवन-यापन करने का उपदेश देना जान पड़ता है। इसीलिए सिद्धाचार्य कण्हपा का कहना है "सिद्ध वह है जिसने अपने चित्त को समरस रूपी सहज में निश्चल कर दिया और इस प्रकार जरा-मरण से उसी समय मुक्त हो गया"[१]। इनके अनुसार यह स्थिति 'सअसंवेअन' (स्वयंसवेदन) अथवा निर्भ्रांत पूर्ण ज्ञान की चरमावस्था है, जहाँ पहुँचकर सिद्ध लोग 'महासुख' में लीन हो जाते हैं। जैन मुनि रामसिंह ने भी कहा है "जिन लोगों में वेदपुराणादि वा भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के कारण उत्पन्न होने वाली कोई भ्रांति न रह जाय और जो ऐसी अवस्था तक पहुँचकर आनंद में मग्न रहने लगें उन्हीं को 'सिद्ध' कहना उचित है, अन्य को नहीं।"[२] ऐसे ही महापुरुषों के लिए कदाचित् एक दूसरे जैन मुनि जोइंदु भी कहते हैं "वे अपनी उस परम समाधि की महाग्नि में अपने सारे कामों का हवन कर देते हैं और इस प्रकार वंदनीय भी हो जाते हैं।"[३] किन्तु बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों के आदर्शों में फिर भी बहुत कुछ अंतर पाया जाता है। मुनिराम सिंह और जोइंदु का आविर्भाव संभवतः बौद्ध सिद्धों के ही युग में हुआ था और वे इनके वातावरण से प्रभा-

---

१. सहजे णिच्चल जेण किअ, समरस णिअमण राअ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरा मरण भाअ ॥१९।

—काण्हपा का दोहाकोष।

२. सिद्धंत पुराणहि वेय बढ़ बुज्झंतह णउ भंति।
आणंदेण व जाम गउ, ता बढ़ सिद्ध कहंति ॥१२९॥

—पाहुड़ दोहा।

३. ते हउं बंदउ सिद्धगण अच्छहिं जेवि हवंत।
परमसमाहिमहग्गियए, कम्मिधणइँ हुणंत ॥३॥

—परमात्मप्रकाश

वित भी थे। उस काल के नाथ-पंथियों ने भी 'सिद्ध' शब्द का व्यवहार करते समय उक्त सिद्धों की विशेषताओं की ओर ही ध्यान दिया है। बहुत से प्रसिद्ध नाथों की गणना चौरासी सिद्धों में भी की जाती है और गुरु गोरखनाथ की एक 'बानी' में भी उनका 'सिध गोरष भाखै' कहना दीख पड़ता है।[1] सिद्धों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने बतलाया है कि सिद्धों ने गगन मण्डल तक पहुँचकर अनुभूति प्राप्त की थी जिसे ग्रन्थों में निहित किया गया और उसके केवल वाह्य रूप से ही पंडित लोग परिचित हो पाये, उसके सारतत्व को केवल सिद्धों ने ही ग्रहण किया और वे उससे लाभान्वित हो गए।[2] इसी कारण उन्होंने सिद्धों की विशेषता के रूप में उस निर्मल एवं शुद्ध बुद्धि युक्त वाणी का वर्णन किया है जिसके द्वारा वास्तविक रहस्य का भेद मिलता है।[3]

बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में नागार्जुन के शून्यवाद का जो प्रचार हुआ वह तर्क-पद्धति के अत्यंत शुष्क परिणाम का द्योतक था और इस कारण निर्वाण-सम्बंधी धार्मिक मान्यताओं की ओर से सर्वसाधारण बहुत कुछ उदासीन से होने लगे। मैत्रेय नाथ एवं बसुबंधु के योगाचार का भी उन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका, क्योंकि कोरे तार्किक से मनोवैज्ञानिक बन जाने मात्र से ही वह हार्दिक संतोष और समाधान संभव नहीं जो एक धार्मिक वर्ग के लिए अभि-

---

१. गोरख बानी, पद २४. पृ० १२१।

२. गिगनि मंडल मैं गाय बियाई, कागद दही जमाया।
छाछि छांणि पिडता पीवीं, सिधां माषण काया ॥१६६॥
—वही, पृ० ६६।

३. राजा सो त दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि बुधि की वांणी॥ ६॥
—वही पृ० २४

पत है। तदनुसार उक्त दार्शनिक विचार-धाराओं की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में इंद्रभूति के महासुखवाद का आरंभ हुआ। इंद्रभूति ने नागार्जुन द्वारा दिये गए निर्वाण के 'शून्य' स्वरूप तथा वसुबंधु द्वारा निर्दिष्ट 'विज्ञप्ति मात्रता' के स्थान पर 'महासुख' के परमानंद की स्थिति की कल्पना की और उसके लिए कतिपय साधनाएँ भी बतलायी।[१] इंद्रभूति उड़ीसा के एक राजा समझे जाते हैं जिनका आविर्भाव ईसा की ८वीं शताब्दी में हुआ था। कहते हैं कि उन्हीं की बहन लक्ष्मीकरा थी जिन्होंने सहजयान का प्रवर्तन कर अपने भाई के उपर्युक्त मत में पूरा सहयोग प्रदान किया। इंद्रभूति और लक्ष्मीकरा दोनों की गणना ८४ सिद्धों में की जाती है।[२] इंद्रभूति के समय तक वज्रयान का प्रचार हो चुका था और उस काल के लोग मंत्रयान से भी प्रभावित थे। वज्रयान के कारण विभिन्न तांत्रिक देवताओं की पूजन-पद्धित एवं मण्डल-चक्रों के अनुष्ठान चल रहे थे और मंत्रयान भी कोरे मंत्रों की शक्ति में अंधविश्वास को प्रश्रय देता हुआ जान पड़ रहा था। लक्ष्मीकरा ने अपने सहजयान द्वारा इस बात का प्रचार किया कि दोनों का पूजन, तीर्थ, व्रत अथवा मंडलादि का वाह्य विधान निरर्थक हैं और इनके द्वारा मोक्ष कदापि संभव नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए सामाजिक नियमों तक का पालन आवश्यक नहीं। मानव शरीर सभी देवों का वास्तविक अधिष्ठान है और सत्य की अनुभूति के लिए अपने चित्त को पूर्णतः निर्मल और विशुद्ध कर लेना ही पर्याप्त है। उसी के द्वारा सहज दशा की उपलब्धि

---

1. Proceedings and Transactions of the 3rd Oriental Conferance, Madras, 1924, pp 129-41
2. The Cultural Heritage of India, Vol. II, p 219

होती है जिसके आगे किसी भी नियम का पालन व्यर्थ है। चौरासी सिद्धों में से बहुत से उड़ीसा प्रांत के निवासी कहे जाते हैं और शेष में से भी कई का कुछ न कुछ सम्बंध उससे बतलाया जाता है। उनकी भाषा का भी उड़िया भाषा के साथ बहुत कुछ साम्य दिखलाया जाता है।[1] परंतु इस मत के लिए अभी तक पूरा प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

चौरासी सिद्धों में से कई एक का सम्बंध आगे चलकर कालचक्रयान से भी हो गया था जो महायान के अंतर्गत प्रचलित होने वाले उप-संप्रदायों में अन्यतम था। कालचक्रयान को कुछ लोगों ने काल को भयंकर राक्षस के रूप में अधिष्ठित मानने वालों का वर्ग माना है, परंतु बात ऐसी नहीं है। सिद्ध नारोपा ने अपनी रचना 'सेकोद्देश टीका' में कालचक्रयान का मत बतलाते समय कहा है कि हम लोग सभी कोई सदा से बुद्ध-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के कारण हमें इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। कालचक्रयान के 'काल' शब्द का 'का' अक्षर उस कारण का प्रतीक है जो सर्वकारण रहित तत्व में अंतर्निहित रहता है, अतएव हमें कारण की भावना तक को वज्रयोग द्वारा दबा देना चाहिए और 'ल' अक्षर का अभिप्राय उस लय से है जो नित्य संसृति में सदा के लिए सबके अंतर्भुक्त होने की ओर संकेत करता है।[2] इसी प्रकार 'चक्र' शब्द का 'च' भी चलचित्त का बोधक है और 'क्र' उसके क्रम वा विकास का पूर्ण निरोध करने की ओर हमें प्रवृत्त करता है। सिद्ध नारोपा ने इसी प्रकार, 'आदिबुद्ध' की भी

---

1. The Journal of the Kalinga Historical Research Society, vol. I, No. 4, p 297

२. काकारात्कारणे शान्ते, लकाराल्लयोऽत्रवै।
चकाराच्चल चित्तस्य, क्रकारात्क्रमबन्धनै:॥

—सेकोद्देशटीका, पृ० ८।

व्याख्या अनादि, अमृत एवं सर्वज्ञ के रूप में की है और सबके लिए उस अंतिम दशा तक पहुँचने का मार्ग निर्दिष्ट किया है।[1]

इस प्रकार चौरासी सिद्धों में गिने जाने वाले लोग न तो किसी जाति विशेष के व्यक्ति थे, न केवल रसायनादि का प्रयोग करने वाले अथवा तांत्रिक विधियों में सदा निरत रहने वाले साधक ही थे। ये भिन्न-भिन्न साधनाओं द्वारा पूर्णता की एक स्थिति विशेष तक पहुँचे हुए महापुरुष समझे जाते थे। इसी कारण, इनकी युक्तियों को बहुत बड़ा महत्व दिया जाता था तथा समय पाकर इनके एक पृथक् वर्ग की भी कल्पना कर ली गई थी। इनमें ब्राह्मण से लेकर क्षत्रिय, शूद्र, कायस्थ, कहार, तंतुवाय, दर्जी, मछुए, धोबी, चमार और चिड़ीमार तक सम्मिलित थे और इनमें शास्त्रज्ञ पंडित एवं कलाकार से लेकर निरक्षर व्यक्तियों तक का समावेश था। इनके आविर्भाव का क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण था। परंतु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध बौद्ध विहारों और विश्वविद्यालयों में बहुधा एकत्र होते रहने तथा एक संस्कृति विशेष के अनुयायी होने के कारण उनकी ग्रन्थरचना-पद्धति और विचार-धारा में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं आया था। ये कामरूप, चंपा, उड़ीसा से लेकर मालवा, मारवाड़ और सिंध तक के निवासी थे और कांची एवं कर्णाटक से लेकर कश्मीर तक में उत्पन्न हुए थे। किन्तु इनकी भाषा में उतना अंतर नहीं लक्षित होता जितना इस प्रादेशिक विभिन्नता के कारण संभव था। जानकार विद्वानों के अनुसार इनकी ८४वीं संख्या ईसा की ८वीं शताब्दी से लेकर १२वीं तक अर्थात् लगभग ५०० वर्षों में पूरी हुई थी। किन्तु इनकी प्रमुख सांप्रदायिक विशेषताओं के प्रायः सदा अक्षुण्ण बने

1. Stepping Stones (Kalimpong) Vol. 2, No. 2, pp 54-55

रहने के कारण इनके वर्ग को बराबर एक विशिष्ट स्थान मिलता आया। इन चौरासी सिद्धों में कतिपय स्त्रियाँ भी सम्मिलित थी जिन्हें सिद्ध के स्थान पर 'योगिनी' कहा जाता था। इन्हीं सिद्धों के आदर्श को महत्व देते हुए नाथ-पंथियों ने कदाचित् 'सिद्ध योगी' की एक रूपरेखा भी कल्पित की थी जिसका परिचय 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के अंतिम श्लोकों में है।[1]

चौरासी सिद्धों की उपलब्ध सूचियों को देखने से पता चलता है कि उनमें कई प्रसिद्ध नाथों के भी नाम आ गए हैं। प्रायः सभी सूचियों के अंतर्गत हमें न केवल गोरखनाथ का ही नाम आता दीखता है, अपितु उनमें मीन वा मत्स्येन्द्रनाथ, जलंधर या जलंधरी नाथ कराहपा वा कणेरीनाथ, नागार्जुन, आदि कई ऐसे नाम भी आते हैं जो प्रसिद्ध नाथ योगियों की भी सूचियों में मिला करते हैं। इसके सिवाय उनकी उपलब्ध रचनाओं में भी हमें बहुत-सी ऐसी ही बातें दीख पड़ती हैं जो सिद्ध साहित्य के अंतर्गत भी आ सकती हैं। अतएव, ऐसे सिद्धों को बहुधा 'नाथ सिद्ध' कह देने की भी परंपरा देखी जाती है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल वे ही लोग नाथ सिद्ध कहे जाते हैं जिनकी गणना प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी की जाती है। नाथ सिद्धों में हमें चरपटी नाथ, चुणकर नाथ, भर्तृ-हरी, गोपीचंद तथा घोड़ाचोली जैसे योगियों के भी नाम दीख पड़ते हैं जो चौरासी सिद्धों में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार नाथ-पंथियों के ही अंतर्गत समझे जाने वाले राजस्थान के जसनाथी संप्रदाय में भी हम उसके प्रमुख योगियों को सदा सिद्ध कहलाते हुए ही पाते हैं और वहाँ पर इस उपाधि के पहले 'नाथ' शब्द भी जुड़ा हुआ नहीं पाया जाता। 'सिद्ध' शब्द यहाँ पर केवल इस लिए व्यवहृत होता जान पड़ता है कि उसके द्वारा अभिहित लोग किसी परंपरा विशेष के अनुयायी हैं।

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति : श्लोक ६५-७ (षष्ठोपदेश)।

फिर भी 'सिद्ध' शब्द, अपने मूल अर्थ में, वस्तुतः इस बात को ही सूचित कर सकता है कि जिस व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जा रहा है वह अपनी साधना विशेष में पूर्णतः कृतकार्य हो चुका है। चौरासी सिद्धों के लिए भी पहले-पहल, यह संभवतः इसी आधार पर प्रयुक्त हुआ था और उनसे अतिरिक्त नाथ-सिद्धों को भी ऐसा केवल, इसी कारण, कहा गया होगा। अभी कुछ ही दिन पहले प्रकाशित 'नाथ सिद्धों की बानियाँ'[1] के देखने से पता चलता है कि जो रचनाएँ उसमें संग्रहीत हैं वे लगभग एक ही प्रकार की शैली द्वारा निर्मित की गई हैं तथा उनका विषय भी लगभग एक ही प्रकार का है। किन्तु उनके रचयिताओं में हमें महादेवजी, पारवती जी रामचन्द्र जी, लछमण जी, दत्त जी और हरणवंत जी जैसे पौराणिक नाम भी मिलते हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ये किन विशिष्ट व्यक्तियों को सूचित करते होंगे। इनमें से यदि अंतिम दो अर्थात् दत्त जी को प्रसिद्ध दत्तात्रेय मानकर, उनकी उपलब्ध संस्कृत रचनाओं के आधार पर, कोई ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर लें तथा हरणवंत जी को भी नाथ-पंथी 'धज संप्रदाय' के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में देखने की चेष्टा करें, फिर भी शेष चार के विषय में हम ऐसा नहीं कर पाते और इन्हें केवल काल्पनिक मान लेने की ही प्रवृत्ति होती है।[2] सुयोग्य संपादक का अनुमान है कि लषमण जी भी प्रसिद्ध लछमण नाथ वा बालापीर अथवा बालनाथ को सूचित करता है जो कदाचित् परंपरा द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु यदि ऐसा है तो फिर 'रामचन्द्र जी' शब्द भी किसी उक्त व्यक्ति विशेष का ही बोध करा सकता है जिसके लिए "रामैंआगै

---

१. संपादक हजारी प्रसाद द्विवेदी: नाथ सिद्धों की बानियाँ नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४।

२. नाथ सिद्धों की बानियाँ, बालनाथजी की सबदी [illegible]१।

लषमण कहै'' में 'राम' का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों का कुछ भी पता न रहने के कारण हम उनके सिद्धत्व के विषय में भी कुछ नहीं कह सकते।

चौरासी सिद्धों में से किन-किन को हम बौद्ध-सिद्ध कह सकते हैं, किनको नाथ-सिद्धों की श्रेणी में रख सकते हैं अथवा उनमें से किन को जैन-सिद्ध वा अन्य प्रकार के सिद्ध ठहरा सकते हैं, इसके लिए भी अभी तक प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं, न अभी तक यही कहा जा सकता है कि उनकी संख्या चौरासी तक ही क्यों सीमित की गई है।

(२)

सिद्धों की संख्या चौरासी ही क्यों मानी गई है ? उनमें वह कौन सी विशेषता है जिस कारण वे एक पृथक् वर्ग के समझे जाते हैं ? तथा उक्त संख्या की पूर्ति के लिए प्रायः पाँच सौ वर्षों के एक लम्बे समय के लोगों में ही क्यों छानबीन की जाती है आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार करने वालों में अभी तक मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सिद्धों की चौरासी संख्या उनके भिन्न भिन्न आसनों के आधार पर सिद्धि पाने के कारण है[1], किन्तु इस कथन के लिए वे कोई प्रमाण नहीं देते, न यह बात किसी उपलब्ध सामग्री के सहारे अभी तक सिद्ध ही की जा सकी है। इसी प्रकार कतिपय दूसरे लोगों का यह अनुमान भी कि यह संख्या प्रसिद्ध चौरासी लक्ष योनियों के कारण निश्चित की गई है, निराधार जान पड़ता है, क्योंकि ये सिद्ध इन भिन्न-भिन्न योनियों की विशेष चर्चा करने में लगे हुए भी नहीं पाये जाते। अतएव, इनके चौरासी होने की परंपरा वस्तुतः किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण चल पड़ी हुई ही प्रतीत होती है। परंतु इसे कब और किस प्रकार निश्चित किया गया तथा

---

१. डॉ० मोहन सिंह : गोरखनाथ एंड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज़्म, लाहौर, १९३७, पृ० २-३।

ऐसा करने वालों ने अपने सामने कौन सा मानदंड रखा, जैसे प्रश्न फिर भी उठने लगते हैं जिन पर विचार करने की चेष्टा करना कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

अनुमान किया गया है कि इन सिद्धों की चौरासी संख्या मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी के आक्रमण-काल (सन् ११९९ ई०) के पहले ही पूरी हो चुकी होगी। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में उपलब्ध सिद्धों की सूची में आने वाले कालपा को अंतिम वा चौरासिवाँ सिद्ध मान कर उनका समय ११ वीं शताब्दी के अंत से कुछ पूर्व का बतलाया है।[1] उनका कहना है कि ये सिद्ध कालपा भेलुकपा के शिष्य थे जिन्होंने स्वयं मैत्रीपा वा अवधूतीपा से दीक्षा ग्रहण की थी। इन मैत्रीपा को वे उस प्रसिद्ध दीपंकर श्री ज्ञान (सन् ९८२-१०५४ ई०) का भी विद्यागुरु होना मानते हैं जो ईसा की ११ वीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान थे। अतएव, चौरासी सिद्धों का युग उन्होंने आदि सिद्ध सरहपा के समय (लगभग सन् ७६९-८०९ ई०) से लेकर अधिक से अधिक सन् ११७५ ई० तक माना है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक सिद्धों का आविर्भाव सिद्ध कालपा के अनंतर भी हुआ था, किन्तु प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की संख्या उन्हीं के समय तक पूरी हो जाती जान पड़ती है। तिब्बत की उक्त तेंजूर वाली सूची में चौरासी सिद्धों के नाम कालक्रम के अनुसार नहीं दिये गए हैं, न उसमें किसी गुरु-परंपरा विशेष का अनुसरण किया जाना ही सूचित होता है।

तिब्बत की उपर्युक्त सूची में आये हुए नामों का क्रम इस प्रकार है—

१. लूहिपा २. लीलापा ३. विरूपा ४. डोम्भिपा ५. शबरीपा ६. सरहपा ७. कंकालीपा ८. मीनपा ९. गोरक्षपा १०. चोरंगिपा ११. वीणापा १२. शांतिपा १३. तंतिपा १४. चमरिपा १५. खंगपा १६. नागार्जुन १७. कण्हपा १८. कर्णरिपा १९. थगनपा २०. नारोपा २१.

१. 'गङ्गा', पुरातत्वाङ्क, पृ० २२९।

शलिपा २२. तिलोपा २३. छत्रपा २४. भद्रपा २५. दोखंधिपा २६. अजोगिपा २७. कालपा २८. धोम्भिपा २६. कंकणपा ३०. कमरिपा ३१. डेंगिपा ३२. भदेपा ३३. तंधेपा ३४. कुकुरिपा ३५. कुसूलिपा ३६. धर्मपा ३७. महीपा ३८. अचितिपा ३६. भलहपा ४०. नलिनपा ४१. भुसुकपा ४२. इंद्रभूति ४३. मेकोपा ४४. कुटालिपा ४५. कमरिपा ४६. जालंधरपा ४७. राहुलपा ४८. धर्मरिपा ४६. धोकरिपा ५०. मेदिनीपा ५१. पंकजपा ५२. घटापा ५३ जोगीपा ५४. भेलुकपा ५५. गुंडरिपा ५६. लुचिकपा ५७. निर्गुणपा ५८. जयानंत ५६. चर्पटीपा ६०. चंपकपा ६१. भिखनपा ६२. भालिपा ६३. कुमरिपा ६४. जवरिपा ६५. मणिभद्रा ६६. मेखला ६७. कनखला ६८. कलकलपा ६६. कंतलिपा ७०. धहुलिपा ७१. उधलिपा ७२. कमालिपा ७३. किलपा ७४. सागरपा ७५. सर्वभक्षपा ७६. नागबोधिपा ७७. दारिकपा ७८. पुतुलिपा ७६. पनहपा ८०. कोकालिपा ८१. अनंगपा ८२. लक्ष्मीकरा ८३. समुदपा और ८४. भलिपा।

इनमें से ६५ मणिभद्रा, ६६ मेखला, ६७ कनखला एवं ८२ लक्ष्मीकरा स्त्रियों के नाम हैं और इन्हें सिद्ध न कहकर 'योगिनी' की संज्ञा दी जाती है।

इसी प्रकार चौरासी सिद्धों की एक अन्य तालिका ईसा की १४ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में भी पायी जाती है जिसके अन्त में 'चउरासी सिद्धा' लिखते हुए भी उसके लेखक ने केवल ७६ ही नाम दिये हैं और शेष को किसी कारणवश छोड़ दिया है। 'वर्ण रत्नाकर' की सूची के नाम इस प्रकार आते हैं[1]—

१. मीननाथ २. गोरक्षनाथ ३. चौरंगीनाथ ४. चामरीनाथ ५.

---

१ संपादक सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एवं बबुआ मिश्र : वर्ण रत्नाकर, कलकत्ता सन् १६४० ई०, पृ० ५७-८।

तंतिपा ६. हलिपा ७. केदारिपा ८. ढोंगपा ६. दरिपा १०. विरूपा ११. कपाली १२. कमारी १३. कान्ह १४. कनखल १५. मेखल १६. उन्मन १७. कान्तलि १८. धोबी १६. जालंधर २०. डोंगी २१. मवह २२. नागार्जुन २३. दौली २४. भिषाल २५. अचिंति २६. चंपक २७. ढेण्ढसर २८. भुसुरी २६. वाकलि ३०. तुजी ३१. चर्पटी ३२. भादे ३३. चांदन ३४. कामरि ३५. करवत ३६. धर्मपा पतंग ३७. भद्र ३८. पातलिभद्र ३६. पलिहिह ४०. भाणु ४१. मीनो. ४२. निर्द्दम ४३. सवर ४४. सांति ४५. भर्तृहरि ४६. भीसन ४७. भरी ४८.? गगणपा ४६. गमार ५०. मेणुरा ५१. कुमारी ५२. जीवन ५३. अघोसाधर ५४. गिरिवर ५५. सीयरी ५६. नागवलि ५७. ×धिभरह ५८. सारंग ५६. विविकिधज ६०. मगरधज ६१. अचिंत ६२. विचिंत ६३. नेवक ६४. चाटल ६५. नाचन ६६. भीलो ६७. पाहिल ६८. पासल ६६. कमल कंगारि ७०. चिपिल ७१. गोविन्द ७२. भीम ७३. भैरव ७४ भद्र ७५. भामरी और ७६. भूरुकुटी।

इसमें ५० नाम ऐसे हैं जो उक्त प्रथम सूची में नहीं दीख पड़ते और शेष में से कई ऐसे हैं जो केवल थोड़े ही परिवर्तन के साथ उसमें आ चुके हैं। नामों का क्रम इस तालिका में भी किसी नियम के अनुसार दिया गया नहीं जान पड़ता। इसके २१ वें नाम 'मवह' को अनुमानतः सरह पढ़ा जाता है, किन्तु इसके ५८ वें नाम × धिभरह से कुछ भी पता नहीं चलता। स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने इस दूसरे नाम को हस्तलिखित प्रति में 'विभवत्' पढ़ा था और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यही माना है।[1] किन्तु इस नाम के भी किसी सिद्ध का पता लगाना कठिन है। इसका मेणुरा नाम मयनावती का भी हो सकता है।

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग, १६५० पृ० ३०।

स्वात्माराम की 'हठयोग प्रदीपिका' में भी सिद्धों की एक सूची दी गई है और उन्हें 'मृत्यु को जीतकर ब्रह्मांड में विचरने वाला' कहा गया है। उस तालिका में जो नाम गिनाये गए हैं वे इस प्रकार हैं।

१ आदिनाथ २ मत्स्येन्द्र ३ शाबर ४ आनन्द भैरव ५ चौरंगी ६ मीन ७ गोरक्ष ८ विरूपाक्ष ९ बिलेशय १० मंथान ११ भैरव १२ सिद्धि १३ बुद्ध १४ कंथड़ि १५ कोरंटक १६ सुरानन्द १७ सिद्धपाद १८ चर्पटि १९ कानेरी २० पूज्यपाद २१ नित्यनाथ २२ निरंजन २३ कपाली २४ विंदुनाथ २५ काकचंडी २६ अल्लाम २७ प्रभुदेव २८ घोड़ाचोली २९ टिंटिणि ३० भानुकी ३१ नारदेव ३२ खंड, और ३३ कापालिक।

इसके अंत में 'इत्यादयो महासिद्धाः' कहकर छोड़ दिया गया है[1] जिससे पता चलता है कि अन्य सिद्धों के नाम अभी देने को रह जाते हैं। फिर भी यहाँ पर 'चौरासी' जैसी संख्या दी गई नहीं दीख पड़ती, यद्यपि नाथ-पंथ के ही एक अन्य ग्रन्थ 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में 'चतुरशीति सिद्ध-गणना' का प्रसंग पाया जाता है[2]। इस प्रकार जान पड़ता है कि यह संख्या कदाचित् नाथ-पंथियों को भी स्वीकृत रही होगी। इन ३३ नामों में से केवल १० ही ऐसे हैं जो प्रथम सूची में भी आये हैं और शेष २३ इस दृष्टि से नवीन प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय उक्त दूसरी सूची नामों के साथ तुलना करने पर भी पता चलता है कि दोनों में केवल थोड़े से ही नाम एक समान हैं और शेष एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते।

सिद्धों के ऐसे नामों की एक तालिका प्रकाशित चर्यापदों के रचयिताओं के आधार पर भी बनायी जा सकती है। ऐसा करने पर पता चलता है कि ये नाम केवल २२ ही हैं और वे भी उन रचनाओं

---

१. हठ योग प्रदीपिका, बंबई, पृ० ६।
२ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, बनारस, १९२५, पृ० ११।

के क्रमानुसार पाये जाते हैं। चर्यापदों की संख्या ५० दी जाती है और इसी कारण वे नाम अधिकतर एक से अधिक बार भी आ गए हैं। इस सूची के नामों का क्रम इस प्रकार है—

१ लुईपाद २ कुक्कुरीपाद ३ विरूवपाद ४ गुंडरीपाद ६ चाटिल्लपाद ६ भुसुकपाद ७ कान्हपाद ८ कम्बलाम्बरपाद १ डोम्बीपाद १० शांतिपाद ११ महीधरपाद १२ वीणापाद १३ सरहपाद १४ शबर पाद १५ आर्यदेवपाद १६ ढेण्ढणपाद १७ दारिकापाद १८ भादेपाद १९ ताड़कपाद २० कौंकणपाद २१ जयनंदी और २२ धामपाद।

इन नामों में १३ ऐसे हैं जो उपर्युक्त प्रथम सूची में भी आते हैं और यदि आर्यदेव एवं कर्णरी, (सं० १८) धामपाद एवं धर्मपा (सं० ३६), महीधरपाद एवं महीपा (सं०३७), जयनंदी एवं जयानंत (सं०५१) तथा कम्बाम्बरपाद एवं कमरिपा (सं०३०) एक ही हों और नाड़कपाद भी कहीं नाड़पा वा नारोपा समझ लिये जा सकें, जैसा कि श्री राहुल जी ने अनुमान किया है[२] तो दोनों सूचियों के १९ सिद्धों की एकता में कोई संदेह नहीं रह जाता और इस चौथी सूची के केवल तीन ही सिद्ध नवीन ठहरते हैं। गुएन वाल्ड की सूची में भी केवल ३८ सिद्धों के ही नाम आते हैं जिस कारण वह भी अधूरी ही है फिर भी आज तक उपलब्ध प्रायः सारी सूचियों की तुलना कर लगभग १५० नामों का होना अनुमान किया जाता है जिनमें से कई एक वस्तुतः एक ही सिद्ध के जान पड़ते हैं, नामांतर बन गए हैं। इन्हें समुचित खोज के आधार पर निश्चित करके ही कोई प्रामाणिक सूची तैयार की जा सकती है।

इन उपर्युक्त चार सूचियों के अतिरिक्त अन्य कोई विस्तृत सूची

---

१. डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यापद, कलकत्ता १९३८ ई०, पृ० १०७-४५।

२. 'गङ्गा' (पुरातत्वाङ्क), पृ० २४८।

इस समय उपलब्ध नहीं जान पड़ती। नव नाथों की भी कई भिन्न-भिन्न सूचियाँ बतलायी जाती हैं जिनमें सर्वसाधारण नाम केवल आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधर नाथ और गोरक्षनाथ के ही आते हैं [१] और ये चारों नाम 'हठयोग प्रदीपिका' की सूची में दीख पड़ते हैं। इन सभी सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर पता चलता है कि इनमें केवल थोड़े से ही नाम एक समान है। शेष में से कुछ में न्यूनाधिक समानता है और कुछ नितांत भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। संभव है इन असमान नामों में से कुछ ऐसे भी निकल आवें जो एक ही सिद्ध के लिए दो वा अधिक रूपों में प्रयुक्त होते आए हैं। इन सूचियों में से किसी में भी नामों का, काल-क्रमानुसार वा गुरुपरंपरा-नुसार सम्मिलित किया जाना विदित नहीं होता। तीसरी सूची में सर्व प्रथम आये हुए 'आदिनाथ' शब्द से 'आदि सिद्ध' का भी बोध कराया जा सकता है। किन्तु इसे मान लेने के लिए कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, न इससे यही सिद्ध किया जा सकता है कि आगे आने वाले सभी नाम भी उसी सिद्ध की परंपरा के हैं तथा क्रमानुसार भी हैं। इसके सिवाय स्वयं आदिनाथ के व्यक्तित्व के विषय में भी अनेक प्रकार के अनुमान किये जाते हैं। नाथ-पंथ वाले इसे शिव के लिए प्रयुक्त समझते जान पड़ते हैं। [२] यद्यपि उड़ीसा के कई ग्रन्थों में इसे मत्स्येन्द्र का नाम स्वीकार किया गया है [३] और डॉ० बड़थ्वाल तथा श्री राहुल जी ने इसे जालंधरनाथ का एक दूसरा नाम समझा है। [४]

इसी प्रकार प्रथम सूची के अंतर्गत आये हुए प्रायः प्रत्येक नाम

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग; १९५०, पृ०२६।

२. हठयोग प्रदीपिका, बम्बई, पृ० ८।

३. डॉ० पी० मुकर्जी : वैष्णविज्म इन उड़ीसा, कलकत्ता, १९४०, पृ० ६९।

४. 'गङ्गा' (पुरातत्वाङ्क), पृ० २२० (पादटिप्पणी)।

के पीछे 'पा' शब्द जुड़ा हुआ दीख पड़ता है, जहाँ दूसरी में इसके प्रयोग बहुत ही कम हैं और तीसरी में इसका कहीं पता नहीं चलता। दूसरी और तीसरी सूचियों में 'नाथ' शब्द कई उन्हीं नामों के आगे लगा हुआ पाया जाता है जिनमें प्रथम सूची के अनुसार 'पा' शब्द को कुछ लोग तिब्बती भाषा का मान कर उसका अर्थ 'वाला' किया करते हैं और कहते हैं कि यह विशेषकर उन सिद्धों के ही नामों के आगे लगता है जो संयुक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश), बिहार, बंगाल, नेपाल, अथवा तिब्बत के निवासी थे और पंजाब, राजस्थान, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिणापथ के सिद्धों के नामों में अधिकतर 'नाथ' पाया जाता है।[1] परंतु इस प्रकार का अनुमान उपर्युक्त सूचियों के अनुसार भी निराधार जान पड़ता है। 'पा' शब्द संभवतः संस्कृत भाषा के 'पाद' शब्द का एक संक्षिप्त रूप है और अपने मूल शब्द की ही भाँति किसी नाम वाले को गौरव प्रदान करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'नाथ' शब्द का साधारण अर्थ स्वामी होता है और उसका भी प्रयोग अधिकतर आदरार्थ हुआ करता है। परंतु नाथ-सिद्धों की भाँति वायुवादी एवं मुद्रावादी हठयोगी, वज्रयानी तथा सहजयानी सिद्ध, रसेश्वर सिद्ध, दत्तात्रेय संप्रदाय के आचार्य महेश्वर और शैव तांत्रिक सिद्ध भी पूर्णत्व को ही अपना अभीष्ट मानते हैं। इन संप्रदायों के कई सिद्धों के नाम नाथान्त पाये जाते हैं।[2] नाथ शब्द पूर्णत्व का परिचायक है। इस शब्द की व्याख्या

---

१. डॉ० मोहनसिंह : गोरखनाथ एण्ड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज़्म, लाहौर, सन् १९३७, पृ० ४०-१।

२. त्रिपुरा तत्व 'नित्योत्सव टीका'—गायकवाड़ सीरीज २२ तथा वाग्भट्ट कृत रसरत्न समुच्चय और कपिल गीता पद्म पुराण, गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, पृ० १०७

'षटशांभव रहस्य' में ईश पदवाच्य है।[1] राज गुह्य ग्रन्थ में 'नाथ' शब्द में का 'ना' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ स्थापित करना दिया गया मिलता है।[2] फिर भी आगे चल कर 'नाथ' शब्द का प्रयोग इतर संप्रदायों में भी होने लगा। अतएव उक्त प्रकार के अनुमान की अपेक्षा इस प्रकार का परिणाम निकालना कहीं अधिक युक्तिसंगत हो सकता है कि 'पा' एवं 'नाथ'—दोनों ही—आदरसूचक शब्द हैं और इनमें से प्रथम का प्रयोग जहाँ तिब्बत वा उससे प्रभावित प्रदेशों में बनी सूचियों के निर्माताओं ने किया है, वहाँ दूसरे का व्यवहार विशेषतः वहाँ पर हुआ है, जहाँ की परंपरा तिब्बत से कई बातों में भिन्न थी। इसके सिवाय प्राचीन सिद्ध अधिकतर तांत्रिक बौद्धों की श्रेणी में गिने जाते थे और उनके नामों के अंत में तिब्बती परंपरा के प्रभावानुसार 'पा' शब्द लगा करता था। किन्तु नाथ-पंथ का प्रचार हो जाने पर पीछे 'नाथ' शब्द को विशेष महत्व मिल गया जो इन सूचियों के प्राप्ति-स्थानों से भी प्रमाणित होता है। चौथी सूची में तो सभी चर्या-कवियों के अंत में 'पाद' शब्द ही लगा पाया जाता है।

उपर्युक्त सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर एक यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि चौरासी सिद्धों की संख्या किसी सर्वमान्य आधार पर नहीं प्रस्तुत की गई होगी, न उनमें आने वाले सभी नाम कभी सर्व-स्वीकृत समझे जाते रहे होंगे। उड़ीसा की परंपरा सिद्धों की संख्या केवल ६४ ही स्वीकार करती है और उनमें प्रमुख सिद्ध गोरखनाथ माने जाते हैं।[3] डॉ० बागची का कहना है

१. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह में शक्ति संगम तंत्र, पृ० १५७।

२. नाथान्तो वाम देशानि.....आदि।—गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, पृ० १५७ पर उद्धृत।

३. डॉ० पी० मुकर्जी : मेडीवल वैष्णविज्म इन उड़ीसा, कलकत्ता, १९४०, पृ० ५८-५९।

कि सिद्धों की संख्या पहले चौरासी नहीं रही होगी। यह पीछे किसी सांप्रदायिक रहस्य के कारण किसी अन्य संख्या को बढ़ाकर निश्चित कर दी गई है।[1] जान पड़ता है कि ८४ की संख्या सर्वप्रथम, तिब्बत में स्वीकृत की गई थी, जहाँ पर इन सिद्धों की एक चित्रावली भी मिलती है और उसके अंतर्गत केवल उन्हीं के नाम सम्मिलित किये गए थे जिन्हें वहाँ के लोगों ने उस कोटि में आने योग्य माना था। हो सकता है कि इस ८४ को संख्या का भी कोई सांप्रदायिक रहस्य रहा हो और वह उसी प्रकार प्रसिद्ध हो चली हो जैसे २४ तीर्थङ्कर, नवनाथ, बावन वीर, चौसठ योगिनी आदि में लगकर भिन्न-भिन्न संख्याएँ चल पड़ी हैं। तिब्बत से आरंम्भ होकर चौरासी सिद्धों की परंपरा फिर क्रमशः अन्य स्थानों तक भी पहुँच गई, किन्तु उनके विषय में कोई निश्चित परिचय न पा सकने के कारण, पीछे दूर-दूर के लोगों ने इस बड़ी संख्या के नामों में मनमाने फेरफार भी करना आरम्भ कर दिया। कहते हैं कि इन सिद्धों की एक सूची जावा द्वीप में भी मिलती है, किन्तु उनके नाम, संख्या एवं क्रम का हमें कुछ पता नहीं है। सिद्धों की उपलब्ध चित्रावली में जो उसका क्रम दिया हुआ है वही क्रम उनकी उक्त प्रथम सूची में पाया जाता है और उसी को प्रामाणिक मानकर लोगों ने लूईपा को आदि सिद्ध भी समझ लिया है। परंतु इस बात का समर्थन किसी अन्य प्रकार से नहीं होता, यद्यपि इसका उल्लेख तिब्बत में प्राप्त कुछ ग्रन्थों में भी दीख पड़ता है और इसकी पुष्टि जावा की सूची से भी हो जाती है।

चौरासी सिद्धों का कोई एक वंश-वृक्ष भी पृथक् उपलब्ध नहीं है। तिब्बत के 'तेरर्गा' नामक मठ से कोई ग्रन्थावली छपी है जिसका नाम 'सस्क्य ब्कं बुम' है और जिसमें सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (सन् १००६-११७६ ई०) की रचनाएँ संग्रहीत हैं। श्री राहुल

१. वही, पृ० ५५-६०।

जी ने अधिकतर उसी के सहारे सिद्धों का एक वंश-वृक्ष तैयार किया है जिससे पता चलता है कि सिद्ध सरहपा से लेकर सिद्ध नारोपा तक इनकी एक ही परंपरा रही होगी और वह बीच से नामों का समावेश करके पूरी की जा सकती है। श्रीराहुलजी ने इसके लिए स्वयं भी यत्न किया है और उसमें कहीं-कहीं कुछ अनूदित नामों के मूल रूप भी दे दिये हैं। उक्त ग्रन्थावली में संगृहीत महंतराज फग्‌सूप, (सन्‌ १२५३-१२७६ ई०) की एक रचना के पृष्ठ '६५ क' पर सरहपाद से लेकर नारोपा तक की परंपरा इस प्रकार दी गई है—१ महा ब्राह्मण सरह, २ नागार्जुन, ३ शबरपा, ४ लूईपा, ५ दारिकपा, ६ वज्रघण्टापा, ७ कूर्मपा, ८ जालंधरपा, ९ कण्हचर्यपा, १० गुह्यपा, ११ विजयपा, १२ तेलोपा और १३ नारोपा । इसमें नाम अनूदित हैं।[१] श्री राहुल जी ने चौरासी सिद्धों का एक बड़ा वंश-वृक्ष अलग भी दिया है जिसमें आये हुए ९० से भी अधिक नामों में से केवल ५०-५१ ही ऐसे हैं जो उपर्युक्त चित्रावली में भी पड़ते हैं । शेष के उसमें स्थान नहीं मिलते जिससे प्रकट होता है कि उसमें केवल सरहपा की ही शिष्य-परंपरा के नाम आये हैं। इस कारण, संभव है कि वे अन्य नाम किसी दूसरे वर्ग वा वर्गों से सम्बंध रखते हों। श्री राहुल जी का कहना है कि "इन छूटे हुओं में सरह के वंश से पृथक्‌ का कोई नहीं मालूम होता; इसलिए सरह ही चौरासी सिद्धों का प्रथम पुरुष है।"[२] परन्तु अपने इस अनुमान के लिए उन्होंने किसी निश्चित आधार की ओर संकेत नहीं किया है। अतएव उक्त चित्रावली के चौरासी सिद्धों में से सभी का प्रामाणिक वंश-वृक्ष न होने के कारण वह भी अधूरा ही कहा जा सकता है। उसका महत्व इस बात में

---

१. 'गङ्गा' (पुरातत्वांक), पृ० २२०

२. वही, पृ० २२४ ।

अवश्य हो सकता है कि उसके द्वारा सिद्धों की संख्या चौरासी से अधिक स्पष्ट रूप में प्रमाणित हो जाती है।

सरहपा के चौरासी सिद्धों में सर्व प्रथम होने का एक अन्य प्रमाण हमें काज़ी-दव-सम्-दुप द्वारा लिखी गई 'चक्रसंबर' ग्रन्थ की भूमिका में मिलता है जिसमें उन्होंने सरहपा को सर्वोच्च स्थान दिया है। इस सूची को श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने अपने 'बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म' ग्रन्थ में उद्धृत किया है[1] और वह श्री राहुल के उपर्युक्त प्रथम वंश-वृक्ष से मिलती-जुलती है। दोनों में अन्तर केवल दो एक नामों के सम्बंध में प्रतीत होता है। मुख्य अंतर इस बात का ही है कि काज़ी की सूची में लुईपा के अनंतर, दारिकपा का नाम नहीं आता और विजयपा के पीछे भी किसी छूटे हुए नाम का स्थान-निर्देश करके फिर सिद्ध तेलोपा का नाम दे दिया गया है। दारिकपा को श्री विनय बाबू किसी भिन्न वंश-वृक्ष में स्थान देते हैं और उन्हें लूईपा की जगह लीलावज्र का शिष्य स्वीकार करते हैं।[2] परंतु दारिकपा ने अपनी एक चर्या में लूईपा के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मुझ दारिकपा ने लूईपा के चरणों की कृपा से द्वादश भुवनों को प्राप्त कर लिया है"[3] जिससे विदित होता है कि वे लूईपा के ही शिष्य थे। फिर भी श्री विनय बाबू का कहना है कि इस पंक्ति द्वारा दारिकपा लूईपा को केवल उनके आदि सिद्ध होने के नाते सम्मानित करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। दारिकपा के 'लुईपाअपए' के 'पए' अर्थात् पदेन = 'चरण द्वारा' से

---

१. डॉ० बी० भट्टाचार्य : ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म, मैसूर, १९३२, पृ० ६३।

२. डॉ० भट्टाचार्य : ऐन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म, मैसूर १९३२, पृ० ६२।

३. लुईपाअपए द्वादश भुअणे लाधा—चर्या ३४, पृ० १४०।

उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आना सूचित होता है। इसके सिवाय इस बात के लिए भी कोई आधार नहीं कि दारिक के समय तक लूई आदि सिद्ध कहलाने लगे थे। लूईपा का आदि सिद्ध कहलाना सम्भवतः, उस काल से आरंभ हुआ था जब चौरासी सिद्धों की चित्रावली का निर्माण हुआ और उन चौरासी सिद्धों में भी किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण, लूईपा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, अन्यथा अधिक प्रमाण इस बात के लिए ही मिलते हैं कि सरहपा लूईपा से कुछ पहले अवश्य हो चुके थे और वे ही आदि सिद्ध भी थे।

सिद्धों की संख्या को चौरासी तक ही सीमित और प्रमाणित करने में उपर्युक्त चित्रावली को बहुत बड़ा महत्व दिया जा सकता है। उससे अन्यत्र सिद्धों के चौरासी नामों की कोई प्रामाणिक तालिका भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर जो वंश-वृक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें से किसी में भी सभी चौरासी नामों का पता नहीं चलता। ऐसे वंश-वृक्षों में स्वभावतः, ऐसे अन्य नामों का भी समावेश कर लिया जाता है जिन्हें चौरासी सिद्धों में कोई स्थान नहीं मिला है। चौरासी सिद्धों के सम्बंध में जो सूचियाँ तिब्बत के भिन्न प्रदेशों में निर्मित हुई हैं उनमें भी अन्य नाम सम्मिलित हो गए हैं। ये नाम अधिकतर उन लोगों के जान पड़ते हैं जो, बौद्ध या वज्रयानी सिद्ध न होकर, वस्तुतः नाथ-पंथ में प्रसिद्ध हैं। इस चित्रावली की एक विशेषता यह भी जान पड़ती है कि इसमें दिये गए चित्रों में से प्रत्येक में कुछ न कुछ अपूर्वता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए कुछ चित्रों में, उनके सिद्धों के नामानुसार, शर का (सरहपा), वीणा (वीणापा,) खड्ग (खड्गपा), कुत्ता (कुक्कुरीपा), कमल नाल (नलिनपा), कुठार (कुठालिपा), चंपा (चंपकपा), पुतली (पुतुलिपा), और जूता (पनहपा) अंकित किये गए हैं तो किसी-किसी में, उनके सिद्धों की जीविका के अनुसार, कपड़ा धोना (धोम्भिपा), जूता बनाना (चमरीपा), हल चलाना (मेदिनीपा),

चिड़िया पकड़ना (गुंडरीपा), गाय चराना (चर्पटी), मिट्टी के बर्तन बनाना (कुमरीपा) तथा भीख माँगना (भिखनपा) दिखलाया गया है। इसी प्रकार कुछ चित्रों में जहाँ इन सिद्धों को उपदेशकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है (जैसे छत्रपा, भद्रपा, धर्मपा आदि) वहाँ कुछ में इन्हें शासक वा राजा के वेश में चित्रित किया गया है (जैसे कमरिपा, इंद्रभूति, आदि)। चित्रों में इन सिद्धों की वेश-भूषा के अनुसार भी बहुत अंतर लक्षित होता है और उससे प्रतीत होता है कि वे भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासी रहे होंगे। इंद्रभूति जैसे राजा को जहाँ मुकुट पहनाया गया है, वहाँ कणेरि, धर्म और भुसुक के सिरों पर कनटोप जैसी टोपी रखी है और वीणापा, कमरिपा, अचिंति, चर्पटी और भलि के सिरों में पगड़ी बाँधी गई हैं। खुले सिर वालों में से अधिकांश लोग अपने बालों को समेट कर बाँधे हुए दीख पड़ते हैं (जैसे लुईपा, कंकालीपा, शलिपा, भद्रपा, मेदिनीपा, पंकजपा, आदि); किन्तु कुछ लोगों के बाल यौंही खुले हुए भी जान पड़ते हैं (जैसे मीनपा, धोम्भिपा, भरेपा, गुंडरीपा, आदि)। इसके सिवाय जहाँ पर इन्हें साधकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है, वहाँ भी ये एक ही प्रकार की साधना में लगे नहीं दीखते। गोरक्षपा, कालपा, भलहपा जैसे सिद्धों को जहाँ हाथों की साधारण मुद्राओं के साथ दिखलाया गया है, वहाँ कंकणपा, जालंधरपा, राहुलपा, घंटापा और अनंगपा अपने-अपने आसनों में दीखते हैं। भलिपा एक वृक्ष से टँगे हुए जान पड़ते हैं। धहुलिपा अपना एक पैर बाँधे हुए है, मणिभद्रा और उभलिपा का उड़ना दीख पड़ता है, जयानंद भजनानंदी से प्रतीत होते हैं और मेखला योगिनी, छिन्नमस्ता देवी की भाँति, अपने दाहिने हाथ में तलवार एवं बाएँ में अपने ही मुंड के साथ चित्रित की गई है। इसी प्रकार लुईपा का मछली की अंतड़ी खाना, डोम्भिपा का व्याघ्र के ऊपर सवार होकर सर्प से परिवेष्ठित होना, नागार्जुन का सर्पों से घिरा रहना,

नारोपा एवं तेलोपा का शव को पीठ पर लिये रहना जैसी बातें भी विभिन्न साधनाओं को ही सूचित करती हैं। इस चित्रावली में मिलपा एक शूरवीर की भाँति ढोल और तलवार लेकर लड़ने में प्रवृत्त जान पड़ते हैं। परन्तु धर्मरिपा अपना मृदंग बजाने में मस्त हैं और अजोगिपा को देखने से प्रतीत होता है कि उन्हें तकिया लगा कर लेटे रहना ही अधिक पसंद है। इस प्रकार का अनुमान इधर डभोई (प्राचीन दर्भावती-गुजरात) में उपलब्ध कतिपय शिल्प-मूर्तियों के आधार पर भी किया गया है। उनसे परिणाम निकालने की चेष्टा की गई है कि अमुक आकृति आदिनाथ की अमुक मत्स्येन्द्रनाथ की तथा अन्य भी इसी प्रकार अमुक नाथ सिद्धों की ही सकती है, परंतु इसके लिए अभी यथेष्ट प्रमाणों की कमी है।[1]

उपर्युक्त चित्रों में अनेक ऐसी बातें भरी पड़ी हैं जिनके आधार पर उनके विषय में कुछ न कुछ अनुमान किया जा सकता है। फिर भी इनसे उनके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सम्बंध में भी यथोचित प्रकाश पड़ता नहीं जान पड़ता। लामा तारानाथ की एक पुस्तक से पता चलता है कि सरहपा, नागार्जुन, शबरी, लुई, डोम्बी, नारोपा और तेलोपा महामुद्रा के प्रभाव द्वारा अनुप्राणित थे, विरूपा, डोम्बी हेरूक जैसे सिद्ध चण्डिका की किसी साधना से प्रभावित थे और इंद्रभूति, अनंगवज्र, आदि कर्म-मुद्रा के साधक थे। इसी प्रकार वज्र घंटापा, वीणापा, कंबल, जालंधर आदि प्रखर किरणों के उपासक थे और गोरखनाथ आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्गों वा संप्रदायों में रखे जा सकते हैं। परन्तु इस बात को उक्त चित्रावली द्वारा भी प्रमाणित करना कठिन है। इस प्रकार का वर्गीकरण संभवतः उन महान् सिद्धाचार्यों की साधना विशेष कर निर्भर था जिनके अनुगामी अन्य सिद्ध हो जाया करते थे। प्रो० तुची ने इस परंपरा के अस्तित्व

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका; सं० २०१४, अंक २-३, पृ० ७४

किसी स्थिति विशेष के प्रतीक माने जाते थे। किन्तु फिर वे बहुधा व्यक्तिगत से भी हो जाते थे।[1] इस प्रकार के नामों की गड़बड़ी का एक परिणाम यह हुआ है कि अनेक महायानी ग्रन्थ जो वस्तुतः आधुनिक वा कम से कम बहुत पीछे के लोगों की रचनाएँ हैं, नाम-साम्य के कारण प्राचीन आचार्यों के नाम से प्रचलित हो गए हैं। इसका एक दूसरा प्रभाव इन सिद्धों के सम्प्रदायानुसार वर्गीकरण नामधारी होने के कारण सिद्ध नागार्जुन को हम कभी तांत्रिक समझते हैं और कभी प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में देखने लगते हैं तथा कभी-कभी नामसाम्य के कारण नागबोधि तक मानने लगते हैं। सरहपा के राहुल कहलाने, कणेरिपा के आर्यदेव बन जाने तथा भुसुकपा के शांतिदेव होने आदि में भी इस बात के उदाहरण पाये जा सकते हैं।

डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने संपादित 'बौद्ध गान ओ दोहा' की भूमिका में लिखा है[2] कि "सिद्धों के सहज संप्रदाय में तीन मार्ग प्रचलित थे उनमें से एक का नाम 'अवधूती' था जिसका सम्बंध द्वैत ज्ञान से था, दूसरा 'चाण्डाली' था जिसे भी एक प्रकार से द्वैतवादी कह सकते हैं; किन्तु तीसरा जो 'डोम्बी' कहलाता था वह अद्वैत ज्ञान परक था।" परंतु यह वर्गीकरण दार्शनिक आधार पर किया गया जान पड़ता है जो सदा केवल साधनाओं में ही प्रवृत्त रहने वाले सिद्धों के विषय में उतना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। सिद्धों का अधिक युक्तिसंगत वर्गीकरण उनकी सांप्रदायिक विचार-धारा अथवा विभिन्न साधनाओं के अनुसार ही किया जा सकता है। उनकी अपनी विशेषताएँ उनके कोरे चिंतन में लक्षित न होकर उनकी चर्याओं में दीख पड़ती थी। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने

---

१. वही, पृ० १३३।

२. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १२।

पर हमें सर्वप्रथम उनके केवल दो ही वर्ग जान पड़ते हैं जिनमें से एक उन लोगों का समूह है जो पीछे चलकर नाथ-पंथ में भी आचार्य माने गए और दूसरा उनका है जिनका सम्बंध मूल सहजयान से ही रह गया। कुछ लोगों की धारणा है कि चौरासी सिद्धों में कतिपय जैन-साधक भी सम्मिलित होंगे, किन्तु इसके लिए कोई आधार नहीं बतलाया जाता। जैन धर्म के कई अनुयायियों को 'सिद्ध' की उपाधि बहुधा दे दी जाती रही है और यह ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु इस बात से यह परिणाम भी निकाल लेना कि उनमें से कुछ प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी सम्मिलित रहे होंगे भ्रांतिपूर्ण है। उक्त दो वर्गों में से दूसरे वालों की संख्या अधिक है और उनमें भी विविध आम्नाय वा उप-संप्रदाय बनते चले गए हैं। उदाहरण के लिए जिन सिद्धों की प्रवृत्ति हेवज्रतंत्र की ओर बनी रही वे, एक वर्ग विशेष में गिने जाने लगे, जो युगनद्ध हेरुक के उपासक थे वे एक भिन्न वर्ग में सम्मिलित किये गए और उसी प्रकार वज्रडाकिनी, वज्रयोगिनी और महामाया के उपासक भी पृथक्-पृथक् समझे जाने लगे। कालचक्र-यान के साथ जिन सिद्धों का संपर्क था वे, इसी के अनुसार एक भिन्न समुदाय की श्रेणी में आ गए और ऐसे आधारों पर विभाजन हो जाने पर केवल कुछ ही ऐसे बच गए जिन्हें, हम शुद्ध सहजयान के अनुयायी कह सकते हैं। फिर भी इस ढंग का वर्गीकरण कभी पूर्ण और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। एक वर्ग के सिद्ध का किसी दूसरे वर्ग वालों के प्रभाव में आ जाना कदाचित्, किसी समय भी नहीं रुका और ऐसे परिवर्तन निरंतर होते चले गए। किन्तु उपर्युक्त गुरु-प्रणाली अथवा तांत्रिक साधना की विशेषताएँ सदा गौण होकर ही रही और उनका प्रभाव सभी सिद्धों पर स्थायी रूप से नहीं पड़ सका।

उड़ीसा में अवशिष्ट बौद्धधर्म

भारतवर्ष में ईसवी सन् १९५६ के मई मास की बैशाखी पूर्णिमा को, बौद्धधर्म के ढाई सहस्र वर्ष व्यतीत कर चुकने का एक महान् उत्सव मनाया गया। उस अवसर पर बौद्धधर्म के २५०० वर्ष नामक एक परिचयात्मक ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ जिसके अंतर्गत उसकी आज तक की उपलब्धियों का एक सुन्दर लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया। उस पुस्तक के देखने से पता चलता है कि यह धर्म यहाँ पर उदय लेकर किस प्रकार सुदूर देशों तक जा पहुँचा और वहाँ क्रमशः प्रचलित हुआ तथा अपने इस विस्तार-क्रम की वैसी प्रगति में, इसने कितने और कौन-कौन से विभिन्न रूप धारण कर लिये तथा किस प्रकार यह इतना प्रभावशाली भी बन गया। फिर भी यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि जहाँ उसमें इसके विश्व में अन्यत्र उतना व्यापक और विशाल रूप में विद्यमान पाये जाने का न्यूनाधिक विवरण उपस्थित किया गया है, वहाँ उसके मूल क्षेत्र भारत में अवशिष्ट किसी अंश की वर्तमान दशा का कोई परिचय नहीं दिया गया है अथवा उसका वहाँ पर कोई स्पष्ट उल्लेख तक भी नहीं किया गया है। उस पुस्तक का मुख्य सारांश संभवतः इस सम्बंध में, इतना ही जान पड़ता है कि "समय पाकर बौद्धधर्म हिन्दूधर्म के सुधरे हुए रूप द्वारा अपने में आत्मसात् कर लिया गया"[1]

---

1 2500 years of Buddhism edited by Prof. P. V. Bapat
The Publication Division The government of India.

जिससे वस्तुतः उस परंपरागत कथन जैसा ही परिणाम निकलता है जिसके अनुसार इस धर्म को अंत में शंकर एवं कुमारिल जैसे हिन्दू धर्माचार्यों ने इसके अनुयायियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर इसे इस भू भाग से बाहर भगा दिया था।

इसके सिवाय इस विषय में कुछ विद्वानों की धारणा इस प्रकार की भी दीख पड़ती है कि बौद्धधर्म ने हमें कभी चाहे कोई दार्शनिक दृष्टि-कोण एवं प्रचुर साहित्य भले ही प्रदान कर दिया हो तथा सम्राट् अशोक जैसे कतिपय प्रचारकों के कारण कुछ समय के लिए इसके अनुयायियों की संख्या में कभी कोई वृद्धि तक भी भले ही हो गई हो, किंतु "वास्तव में भारतवर्ष कभी पूर्णतः 'बौद्ध भारत' हुआ ही नहीं था और इसका जो कुछ भी प्रभाव हमें यहाँ कहीं पर लक्षित होता है उसे भी यथार्थ में केवल आंशिक, स्थानीय अथवा अधिक से अधिक क्षणस्थायी मात्र ही सिद्ध किया जा सकता है।"[1] ऐसा मत प्रकट करते समय डॉ० आर० सी० मित्र ने बौद्धधर्म के इस देश में क्रमशः होते गए ह्रास का एक विस्तृत विश्लेषण किया है और उसे विभिन्न भारतीय प्रांतों की दशा के आधार पर उदाहृत करते हुए अंत में, उसके मूल कारणों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार उसके जो प्रधान कारण थे वे कदाचित् इसमें इसके आरंभ से ही, अंतर्निहित रहे और उसके बाहरी कारणों की संख्या उतनी नहीं रही, न केवल इन्हीं के कारण, यह यहाँ से कभी निर्मूल कर दिया जा सकता था। इन बाहरी कारणों में उन्होंने केवल हिन्दूधर्म की ओर से किये गए अभिद्रोह तथा मुस्लिम विजय के ही नाम लिये हैं, किंतु उसके भीतरी कारणों की चर्चा करते

---

1. Dr. R. C. Mitra : The Doctrine of Buddhism in India (Visva Bharati, 1954) p 2.

समय, सर्व साधारण की दृष्टि से इस मत में पायी जाने वाली निगूढ़ता, बौद्धिकता, निराशावादिता एवं नास्तिकता का उल्लेख किया है तथा इसी प्रकार समय पाकर इसके अनुयायियों के भीतर आ गये हुए कतिपय गंभीर दोषों का भी वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह बतलाने की भी चेष्टा की है कि यह धर्म मूलतः हिंदूधर्म के सिद्धांतों पर ही आश्रित रहा था तथा इसका लक्ष्य भी पहले उसमें आवश्यक सुधार लाने का ही जान पड़ता था। इस कारण, जब इसने उस ओर यत्न किये तथा जब उसके फलस्वरूप इसे अपने मिशन में पर्याप्त सफलता दीख पड़ी तो यहाँ पर यह अंत में, आपसे आप गतिहीन बन गया।

इस प्रकार भारत में बौद्धधर्म का अंततोगत्वा लुप्त हो जाना ही प्रतीत होता है जिस बात पर विचार करते समय एक स्थल पर डॉ० राधाकृष्णन् ने भी कहा है, "विश्व की उत्तम से उत्तम वस्तुओं को अपना कायाकल्प करने के पूर्व एक बार मर जाना पड़ता है जो बात बौद्धधर्म के सम्बंध में भी देखी गई, क्योंकि भारत में वह नष्ट होकर फिर विशुद्ध ब्राह्मणधर्म के रूप में प्रकट हो सका।"[1] किन्तु, यदि इस प्रकार के मतों का आशय इतना और भी मान लिया जाय कि यह धर्म अपने उपर्युक्त कर्तव्य का पालन करके पीछे हिन्दूधर्म के अंतर्गत सर्वथा विलीन हो गया और यह इस देश में, फिर अपना कोई भी वाह्य चिह्न पृथक् रूप में छोड़ न पाया तो यह बात, वास्तव में, तथ्य से कुछ दूर जाती हुई सिद्ध होगी और फलतः उसे इस रूप में सभी स्वीकार भी नहीं कर सकेंगे। जिस किसी ने भी आज तक इस प्रश्न की ओर समुचित ध्यान दिया होगा और बिना किसी पूर्वग्रह के वास्तविकता तक पहुँचने की चेष्टा की

---

1. Dr. S. Radhakrishnan : 'Indian Philosophy Vol. I P 609 (George Allen and Unwin Ltd. London)

होगी उसे यह स्वीकार कर लेने में कोई हिचक न हुई होगी कि इस धर्म में यहाँ पर न केवल उपर्युक्त विशिष्ट "दार्शनिक दृष्टिकोण एवं प्रचुर साहित्य" प्रदान किया है, प्रत्युत हमें चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य-कला आदि के क्षेत्रों तक में एक विशाल भांडार अर्पित किया है तथा इसने अपने पीछे, इस देश में ऐसे अनेक भूभाग भी छोड़ दिये हैं, जहाँ की जनता में अभी तक इसके द्वारा आमूलतः परिवर्तित मानव जीवन के अवशिष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। हो सकता है कि ये कुछ अंशों में न्यूनाधिक विकृत अथवा विकसित भी हो चुके हों, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे फिर भी उपेक्षणीय नहीं ठहराये जा सकते।

आज से अनेक वर्ष पूर्व बंगाल के स्व० महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री का ध्यान इस विषय के महत्व की ओर आकृष्ट हुआ था और उन्होंने प्राचीन बंगला साहित्य की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और उनका अध्ययन करते समय, माणिक गांगुली के 'धर्म मंगल' एवं रामाई पंडित के 'शून्य पुराण' जैसे ग्रंथों के आधार पर यह अनुमान किया था कि उनके प्रांत में प्रचलित धर्मठाकुर की पूजन-पद्धति का सम्बंध किसी बौद्धसंप्रदाय के साथ हो सकता है। उन्होंने फिर इस प्रश्न का समाधान पाने के उद्देश्य के, अनेक स्थानों में भ्रमण भी किया और नेपाल से लौट कर एक प्रबंध पढ़ा जो अंग्रेजी में 'Discovery of Living Buddhism in Bengal' अर्थात् 'बंगाल में जीवित बौद्धधर्म की उपलब्धि' के शीर्षक से था तथा इस बार उन्होंने अपना यह मत स्पष्ट रूप में प्रकट किया कि "धर्मठाकुर की पूजा वस्तुतः बौद्धधर्म का ही अवशिष्ट अंश है।" [१] उन्होंने फिर नेपाल की यात्रा एक से अधिक बार करके बज्रयानी एवं सहजयानी बौद्धसिद्धों की भी कई रचनाएँ

---

१. म० म० हरप्रसाद शास्त्री : हाजार बछरेर पुराण बांगला भाषाय बौद्ध गान और दोहा (बङ्गीय साहित्य-परिषद, कालिकाता १३५८ बं०) पृ० २-४ (मुखबन्ध)।

प्राप्त कीं और अपनी प्रायः बीसों बर्ष की अनवरत खोज के फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला कि न केवल बंगाल प्रांत अपितु भारत के कतिपय अन्य क्षेत्रों तक में भी इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। इसके सिवाय उनकी यह भी धारणा हो गई कि यहाँ के नाथ पंथ जैसे कई संप्रदायों पर बौद्धधर्म का अत्यंत स्पष्ट प्रभाव पड़ा है तथा कम से कम बंगाल प्रांत के सनातनी हिन्दू जीवन तक को भी हम उसके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित ठहरा सकते हैं। स्व०शास्त्री महोदय के इस मत का स्वागत स्वभावत: सर्वत्र एक ही रूप में नहीं हुआ और किसी-किसी ओर से इसका कड़ा विरोध तक किया गया, किन्तु इस बात से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, प्रत्युत अपने विचारों की पुष्टि में वे बराबर अन्य सामग्री भी प्रस्तुत करते रह गए।

स्व० शास्त्री के उपर्युक्त मत का पूर्ण समर्थन प्रसिद्ध स्व० प्राच्य-विद्या महार्णव नगेन्द्रनाथ वसु के अनुसंधान-कार्य से मिला जिन्होंने इस सम्बंध में दो अंग्रेजी पुस्तकें क्रमशः Archaeological survey of Mayurbhanja : Vol. I तथा Modern Buddhism and their followers in Orissa नामों से लिखी और जिनमें से दूसरी की 'भूमिका' के रूप में स्वयं उन्होंने (स्व० शास्त्री ने) भी अपने विचार प्रकट करते हुए उसे 'अत्यंत रोचक' बतलाया। वास्तव में यह दूसरी पुस्तक पहली की एक अंश मात्र ही थी और इसे उचित महत्व प्रदान करने की दृष्टि से ही इसे उक्त 'भूमिका' के साथ एक स्वतंत्र रूप दे दिया गया। जैसा स्व० वसु बाबू ने स्वयं भी कहा है इस पुस्तक की रचना उन्हें मयूरभंज के महाराजा के साथ नवम्बर सन् १९०८ ई० में पुरातत्व अनुसंधान के समय यात्रा के अवसर पर प्राप्त कतिपय अनुभवों के आधार पर करनी पड़ी थी। इन्हें उस समय यह बात स्पष्ट रूप में प्रतीत हुई थी कि जिन लोगों के बीच जाकर इन्हें अपना कार्य करना पड़ा था तथा जिनमें से कुछ के मुखों से इन्होंने विभिन्न गान सुने थे वे

लोग "निर्भ्रान्त रूप में बौद्धधर्म की शिक्षाओं को मानते हैं" यद्यपि इसे वे सभी कोई स्वीकार नहीं करते थे। अतएव, इन्होंने अपनी इस पुस्तक की 'प्रस्तावना' में ऐसा कथन करने में भी कोई संकोच नहीं किया कि "मेरे अनुसंधान और उनके (स्व० शास्त्री) द्वारा उपलब्ध परिणाम उनके सिद्धान्तों तथा भिन्न दृष्टिकोण से पहुँच गए नये निर्णयों का केवल पुष्टिकरण और पूर्ति करते हैं।"[1] और उनकी ओर से लिखी गई 'भूमिका' के लिए इन्होंने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की। स्व० वसु के उक्त अनुसंधान-कार्य तथा इनकी रचनाओं की चर्चा पीछे सर चार्ल्स ईलियट नामक लेखक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Hinduism and Buddhism Vol. II अर्थात् 'हिन्दूधर्म एवं बौद्धधर्म' के भाग २ में की है और वह इनके द्वारा उपलब्ध परिणामों को बहुत कुछ स्वीकार करता हुआ भी जान पड़ता है।[2]

जैसा स्व० वसु की पुस्तक के शीर्षक 'उत्कल में आधुनिक बौद्धधर्म और उसके अनुयायी' से ही स्पष्ट है इसमें इनके द्वारा केवल उत्कल प्रांत में ही किये गए अन्वेषण-कार्य का परिणाम संगृहीत किया गया है। वहाँ के मयूरभंज स्थित बड़साई और खिचिंग के निकटवर्त्ती जंगली स्थानों में इन्हें कई उड़िया पांडुलिपियों का पता लगा था जिनसे बौद्धधर्म की परवर्ती अवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा और, तत्सम्बंधी वंशानुक्रमिक अनुसंधानों के भी फलस्वरूप इन्होंने यह 'अकाट्य निष्कर्ष निकाल लिया कि धर्म संप्रदाय आदि बौद्धधर्म की परवर्ती दशा का प्रभाव वहाँ के लोगों पर बना हुआ है और वह

---

१. 'प्रस्तावना' पृ० २।

२. Sir Charles Elliot: Hinduism and Buddhism, An Historical Sketch Vol. II (Routledge and Kegan Paul Ltd. 1954) pp. 114—5.

अब भी उनके जीवन को नियमित करता है तथा वे अज्ञात रूप तक से भी उन प्रथाओं का अनुसरण कर रहे हैं जो महायानी बौद्धधर्म की हैं।'[1] इसके सिवाय स्व० वसु को उड़िया भाषा के प्रसिद्ध भक्त कवि 'पंचसखा' लोगों की रचनाओं के अध्ययन से भी, उस विषय के सम्बंध में, निर्णय करते समय पर्याप्त सहायता मिली और महादेव दास की 'धर्मगीता' के पढ़ चुकने पर इन्हें यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार बंगाल के राढ़ नामक भूभाग वालों की सांप्रदायिक मनोवृत्ति का वास्तविक परिचय रामाई पंडित के 'शून्य पुराण' से मिलता है, उसी प्रकार उत्कल के विशिष्ट स्थलों के लोगों के संप्रदाय का पता इस पुस्तक के द्वारा मिल सकता है। अतएव, इस सम्बंध में इनका यह परिणाम निकालना स्वाभाविक था "यद्यपि दोनों देशों के प्राकृतिक गठनों की विभिन्नताओं और समय द्वारा प्रभावित परिवर्तनों तथा सदियों तक व्याप्त दोनों प्रदेशों के लोगों के मानसिक गठन में अंतर के कारण राढ़ तथा उत्कल के धार्मिक विकास के इतिहास में छोटे-मोटे भेद लक्षित होते हैं। फिर भी इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि आरंभ में ये इतिहास एक ही वृक्ष की दो शाखाओं की भाँति एक से और समान थे" और इस बात का समर्थन इन्हें एक तिब्बती परिब्राजक द्वारा किये गए किसी संकेत द्वारा भी मिल गया।[2]

जिन बातों पर स्व० वसु ने अपने इस ग्रंथ में प्रकट किये गए निर्णय को आधारित रखा है उनमें सबसे उल्लेखनीय प्रसिद्ध 'पंचसखा' भक्त कवियों की वे उड़िया रचनाएँ हैं जिन्हें उन्होंने अपनी खोज के समय अनेक पांडुलिपियों अथवा हस्तलिखित ग्रंथों में पाया था और जिनके विशेष अध्ययन द्वारा उन्हें इस विषय में यथेष्ट बल प्राप्त हुआ था। इन 'पंचसखा' में बलराम दास (ज० सं० १४७२

---

१. दे० पृ० ४३-४।
२. दे० पृ० १७०-१।

ई०), जगन्नाथ दास (ज० स० १४६० ई०), यशोवंत दास (ज० सं० १४६२ ई०), अनंतदास (ज० सं० १४६३ ई०) और अच्युतानंद दास (ज० सं० १५०३ ई०) के नाम लिये जाते हैं जो बंगाल के महाप्रभु चैतन्यदेव (ज० सं० १४८५ ई०) के समकालीन थे और जिनका इसी कारण, इनकी पुरी-यात्रा के अवसर पर विद्यमान रहना भी कहा जाता है। कहते हैं कि 'पंचसखा' लोग वैष्णव भक्त थे और वे महाप्रभु की विचार-धाराओं द्वारा बहुत कुछ प्रभावित भी थे। उनमें से कम से कम बलराम दास का इनके द्वारा 'मत्त' बलराम दास कहा जाना तथा जगन्नाथ दास के गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें 'अति बड़ी' उपाधि प्रदान करना भी इस बात का द्योतक है कि इनसे उन लोगों का संभवतः कोई स्पष्ट मतभेद भी न रहा होगा। वे लोग पीछे वस्तुतः महाप्रभु चैतन्य देव की 'पंचसखा' कहला कर भी प्रसिद्ध हो गए थे।[1] इसके सिवाय उत्कल प्रांत में उन दिनों राजा प्रताप रुद्रदेव का राज्यकाल (सन् १४६५-१५४० ई०) भी चल रहा था जो वैष्णव धर्म के प्रसिद्ध पोषकों एवं संरक्षकों में गिने जाते हैं तथा जिनके विद्वान मंत्री राय रामानंद महाप्रभु के पट्ट शिष्य तक समझे जाते थे। इन राजा प्रताप रुद्र द्वारा बौद्ध-धर्म के विरुद्ध कभी-कभी किसी न किसी रूप में अभिद्रोह (Persecution) किये जाने के भी उल्लेख पाये जाते हैं। ऐसी दशा में स्व० वसु महोदय का यह कथन कि बौद्धों का महाशून्य सम्बंधी माध्यमिक दर्शन का सिद्धांत उन पंचसखा लोगों के "धार्मिक जीवन का मुख्य स्रोत" रहा तथा उनका यह अनुमान कि "बलरामदास वस्तुतः बौद्धधर्म के

---

१. डॉ० आर्त्तवल्लभ महान्ति : 'उड़िया साहित्य का विकासक्रम' (राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ:प्रकाशक—उत्कल प्रांतीय राष्ट्र-भाषा प्रचार सभा, कटक) पृ० १३८-४३।

२. दे० पृ० ८७।

एक 'प्रच्छन्न अनुयायी' या 'वैष्णव बौद्ध' थे"[1] हमें कुछ विचित्र सा लगता है और इसे सिद्ध करने के लिए उनकी ओर से बार-बार दिये गए उद्धरणों के ऊपर किंचित् सावधानी के साथ विचार करने की प्रवृत्ति आपसे आप जाग्रत होने लगती है।

उदाहरण के लिए स्व० वसु ने जहाँ पर बलराम दास की 'सारस्वत गीता' के उद्धरणों द्वारा उनके महाशून्य, शून्यपुरुष एवं श्रीकृष्ण को पूर्णरूप से 'एक एवं वही' सिद्ध किया है तथा 'देहधारी निरंजन' के आधार पर भी वैसा ही होना मान लिया है[2] वहाँ पर हमें ऐसा लगता है कि उन्होंने उस कवि के निर्गुण भक्त होने की ओर भी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है, प्रत्युत वे केवल कुछ शब्दों के ही फेर में पड़ गए हैं। इसी प्रकार जहाँ पर उन्होंने 'शून्यसंहिता' एवं 'तुलाभिना' जैसे ग्रंथों के उद्धरण देकर जीव को 'राधा' तथा परमात्मा को 'मुरारी' ठहराते हुए 'गोलोक' की नित्यता पर भी प्रकाश डाला है[3] वहाँ पर भी हमें उनकी प्रायः वही चेष्टा दीख पड़ती है। उनके द्वारा 'पाँच विष्णु' एवं 'पाँच ध्यानी बुद्ध' तथा सृष्टिक्रम के रहस्य एवं 'धर्म', 'निर्वाण' 'अनुत्तर योग' और भक्ति-सम्बंधी विषयों पर किया गया तुलनात्मक अध्ययन अवश्य कहीं अधिक रोचक और तर्क-संगत भी प्रतीत होता है। यहाँ पर उन्होंने यथास्थल अनेक उद्धरण देकर उनके द्वारा हमें इन भक्त कवियों का बौद्धधर्म की विचार-धारा से प्रभावित होना बतलाया है जिसमें कदाचित् कुछ भी संदेह नहीं है। परंतु जैसा इन उद्धरणों पर एक बार ध्यानपूर्वक विचार कर लेने पर कहा जा सकता है, हम केवल इन्हीं के आधार पर 'पंच सखा' में से किसी कवि को सहसा 'प्रच्छन्न बौद्ध' भी नहीं ठहरा सकते, न उन्हें हम 'सच्चे बौद्ध या बुद्ध के भक्त' मान-

---

१. दे० पृ० ६७।
२. दे० पृ० ७०-२।
३. दे० पृ० ७८-६।

कर 'ब्राह्मणों तथा राजाओं के उत्पीड़न के भय से' अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को 'वैष्णव धर्म के छद्मवेष में छिपा रखना आवश्यक और अनिवार्य समझ लेने वाले' ही मान ले सकते हैं[1] जब तक हम उनकी रचनाओं का कोई गंभीर अध्ययन कर वास्तविक तथ्य तक पहुँच न सकें। केवल ऐसी ही बातों के आधार पर तो उन्हें वैष्णव भक्त की पूर्ण पदवी प्रदान करने वाला भी अपना एक भिन्न परिणाम निकाल सकता है और अपना निर्णय दे सकता है कि ऐसी बातें उस काल के उत्कल में प्रचलित बौद्ध सिद्धांतों की कतिपय मान्य प्रवृत्तियों की संगति में अपने विचारों को लाने की स्वाभाविक चेष्टा के कारण भी, कह डाली गई होंगी।

स्व० वसु का यह भी कहना है कि बौद्धधर्म के ग्रन्थों में प्रायः उसके अनुयायियों द्वारा अपने धर्म को 'बौद्धधर्म' न कहकर 'सद्धर्म' वा 'सधर्म' कहा गया है जिसका एक अनुकरण हमें उत्कल प्रांत के महिमा धर्म में भी किया गया मिलता है। यह 'महिमा धर्म' उनके अनुसार बौद्ध-धर्म के एक पुनरुत्थान रूप में पुरी के राजा दिव्यसिंह के राज्यकाल के इक्कीसवें वर्ष अर्थात् सन् १८७५ ई० में भक्त भीम भोई द्वारा घोषित किया गया था। इस धर्म वा संप्रदाय के अनुयायी अपने धर्म ग्रन्थों में चैतन्यदास कृत 'विष्णु गर्भ पुराण' तथा 'निर्गुण माहात्म्य' बलरामदास कृत 'छतीसा या गुप्तगीता,' जगन्नाथ दास कृत 'तुलाभिना' और अच्युतानंद दास कृत 'शून्यसंहिता' एवं 'अनादि संहिता' की गणना करते हैं जिससे स्पष्ट है कि इनका सम्बंध उक्त 'पंचसखा' की भी कृतियों से कम नहीं है। फिर भी इनके यहाँ 'यशोमतिमालिका' को विशेष महत्व दिया जाता है जिसके अनुसार हमें पता चलता है कि 'महिमा धर्म' के अनुयायियों में जिन बारह-तेरह नियमों का पालन किया जाता है वे वैष्णव धर्म में अथवा अन्य ऐसे हिन्दू मतों में प्रायः

---

१. दे० पृ० १५४।

नहीं पाये जाते। ये लोग गौतम बुद्ध को 'भक्तजन के उद्धार हेतु नरदेह में अवतार धारण करने वाला' मानते हैं और उनकी तथा जगन्नाथ की पूजा को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।' अतएव, स्व० वसु के अनुसार यह धर्म वा संप्रदाय उत्कल में बौद्धधर्म के पुनरुत्थान का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है और इस कारण उन्होंने 'महिमा धर्म' के एक संक्षिप्त परिचय से ही अपनी पुस्तक को समाप्त भी किया है। इसके सिवाय, एक अन्य लेखक श्री चितरंजन दास के अनुसार आचार्य आर्त्तवल्लभ महान्ति अपनी भीम भोई की 'श्रुति चिंतामणि' वाली 'प्रस्तावना' में अच्युतानंद दास को भी इस धर्म का एक व्याख्याता मानते हैं, किन्तु श्री विनायक मिश्र इसे सहजिया वैष्णव धर्म का ही एक रूपांतर समझते जान पड़ते हैं।[२]

श्री दास ने किसी विश्वनाथ बाबा नामक महिमाधर्मी संन्यासी के आधार पर बतलाया है कि उक्त संप्रदाय के वास्तविक पुरस्कर्ता संस्थापक भीम भोई नहीं थे, प्रत्युत कोई महिमा गोसाईं थे जो सन् १८२६ ई० में पुरी में प्रकट हुए थे। उन्हीं के आधार पर इन्होंने इस विषय में कुछ अधिक विस्तार के भी साथ लिखा है तथा उसके सिद्धांतों का भी परिचय दिया है। उक्त विश्वनाथ बाबा का कथन है कि महिमा गोसाईं को प्रायः 'बुद्ध स्वामी' और 'प्रबुद्ध स्वामी' भी कहा जाता है, किन्तु महिमा धर्म के अनुयायी इसके कारण, अपने मत के साथ प्रसिद्ध गौतम बुद्ध का कोई भी सम्बंध मानना पसन्द नहीं करते। "सिद्धों ने उन्हें (महिमा गोसाईं को) बुद्धावतार केवल इसलिए कहा है

---

१. दे० पृ० १८१-२०२।

2. Chittaranjan Das: Studies in Medieval Religion and Literature of Orissa (Visva Bharati Annals Vol. IV Santi Niketan. 1951, 155-6.

कि उन्होंने आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए पर्याप्त रूप में उपदेश दिये हैं।"[1] श्री दास का कहना है कि महिमाधर्म प्रमुखतः भक्तिमार्ग का प्रचार करता है जो पूर्ण आत्मसमर्पण का लक्ष्य रखता है। इस कारण श्री दास के अनुसार स्व० वसु ने इसे बौद्धधर्म के पुनरुत्थान का एक उदाहरण मान लेने में भूल की है। इनका कहना है कि आचार्य महान्ति और श्री मिश्रा भी इस धर्म के रहस्य से परिचित नहीं जान पड़ते। महिमाधर्म वस्तुतः पंचसखा भक्तों की विचार-धारा एवं साधना को ही महत्व देता है और उनका "निर्गुण ब्रह्म यहाँ तक एक विचित्र प्रकार से विकास पाता हुआ इस धर्म के परमतत्व अथवा 'महिमा' में परिणत हो गया है"।[2] महिमाधर्म न केवल वर्तमान उत्कल प्रान्त का ही एक जीवित संप्रदाय कहला सकता है, अपितु यह इस समय अपने निकटवर्ती आंध्र प्रदेश तक में भी प्रवेश पा चुका है। इस धर्म वा संप्रदाय तथा इसके प्रसिद्ध प्रचारक (न कि पुरष्कर्ता) भक्त कवि भीम-भोई के सम्बंध में इधर कुछ और भी प्रकाश डाला गया है।[3] जिसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्व० वसु का अनुमान सर्वथा तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, न हम इस सम्बंध में उसे सभी जानकारों की ओर से मान्य किसी अन्तिम निर्णय का कोई रूप ही दे सकते हैं।

इस सम्बंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि स्व० शास्त्री महोदय की जो धारणा धर्मठाकुर की पूजन-पद्धति के आधार पर, धर्मसंप्रदाय को बंगाल में 'जीवित बौद्धधर्म' के रूप में स्वीकार कर लेने की बन गई थी और जिसके पूर्ण रूप में समर्थित होने की आशा स्व० वसु के

1. Visva Bharti Annals Vol. IV P- 156.
2. Do P 177.
३. प्रो० कपिलेश्वर प्रसाद : महिमाधर्म और भक्त कवि भीम-भोई (भारतीय साहित्य : भटनागर अभिनन्दन, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, १९६१ ई०) पृ० ८३-१०० ।

उपर्युक्त निष्कर्षों द्वारा भी जारी थी उसका भी खंडन इधर किये गए अनेक विद्वानों के अनुसंधानों से होता जान पड़ रहा है और अब वह बहुत कुछ संदिग्ध सी समझी जाने लगी है। धर्मसंप्रदाय के सम्बंध में अब अनुमान किया जाने लगा है कि उसका मूलस्रोत वस्तुतः बौद्धधर्म नहीं है, प्रत्युत कोई 'कोल' अथवा 'आष्ट्रिक' पूजन-पद्धति की परंपरा है जिसे उससे अधिक प्राचीन भी कहा जा सकता है। स्व० शास्त्री को यह कदाचित् भ्रम हो गया था कि 'धर्मसंप्रदाय' के साथ जुड़ा हुआ 'धर्म' शब्द बौद्धधर्म द्वारा मान्य 'त्रिरत्न' (अर्थात् बुद्ध, धर्म एवं संघ) में से ही अन्यतम हो सकता है। इसी प्रकार, जो 'शून्यमूर्ति' और 'निरंजन' शब्द यहाँ पर दीख पड़ते हैं वे भी उस धर्म के शून्यवाद आदि की ही ओर संकेत करते हैं और ये उसी प्रकार ध्यान के साथ लगे हुए भी हैं। इसके सिवाय स्व० शास्त्री ने जिसे किसी बौद्धचैत्य के सूक्ष्माकार (Miniature) का 'पांच ध्यानी बुद्ध' होना समझ लिया था वह अब किसी कछुए की एक ऐसी आकृति रूप में ही निर्मित सिद्ध किया जा चुका है जिसके सिर एवं पैर बाहर की ओर निकले हुए हैं।[1] श्री के० पी० चट्टोपाध्याय ने इधर मिदनापुर, वीरभूमि आदि के अनेक स्थानों में प्रचलित धर्मसंप्रदाय की पूजा-विधि एवं पौराणिक गाथाओं के विषय में बड़ी सावधानी के साथ अध्ययन किया है और उन्होंने भी उक्त मत के ही अनुकूल परिणाम निकाले हैं।[2]

श्री चट्टोपाध्याय के ऐसे मत का प्रत्यक्ष समर्थन डॉ० सुकुमार सेन द्वारा किये गए उस कथन से भी भली भाँति हो जाता है जो उन्होंने इस प्रश्न-सम्बंधी प्रायः सारी बातों पर एक नवीन दृष्टिकोण से

1. Dr. R. C. Mitra : Decline of Buddhism in India. 87
2. The Journal of the Royal Asiatic society of Bengal Vol VIII pp. 99-135

विचार करते हुए, अपने निबंध Is the Cult of Dharma a living relic of Buddhism in Bengal[1] अर्थात् क्या धर्मसंप्रदाय बंगाल में बौद्धधर्म का एक जीवित अवशिष्ट अंश है ? में किया है तथा जिसकी पुष्टि उनके द्वारा अन्यत्र प्रकट किये गए विचारों से भी होती है। डॉ० सेन के अनुसार बंगाल में धर्म ठाकुर की पूजा विशेषकर 'डोम' जाति के युद्ध-प्रेमी वर्गों द्वारा ही की जाती है और वह प्रधानतः एक ऐसा युद्ध-देवता है जिसके स्वरूप में बौद्धधर्म के प्रणिधान का नितान्त अभाव पाया जाता है। उसकी पूजा करते समय उसे मदिरा जैसी वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं और उसके लिए एक श्वेत बकरे का बलिदान भी किया जाता है जिसके विषय में परंपरागत कथाओं के आधार पर, कहा जाता है कि वह किसी बालक का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे बालक बलिदान किये जाने की कथा 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अन्तर्गत भी आती है जहाँ पर प्रसिद्ध हरिश्चन्द्र के राजकुमार रोहिताश्व की जगह पर शुनःशेप के बलिदान का प्रसंग पाया जाता है जो डॉ० सेन के अनुसार, स्वयं भी आर्ष्ट्रिक जाति की ही प्राचीन परंपरा पर आधारित हो सकता है और जिसे इसी कारण बौद्धकाल के पूर्व ही ब्राह्मण-साहित्य के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया होगा।[2] धर्म ठाकुर की पूजा के समय नृत्य का प्रदर्शित किया

1. B. C. Law Commemoration Vol- I
2. Do. for Dr.S.K. Chatterjee's article entitled Buddhist Survivals in Bengal also.
   ऐसे शिशु-बलिदान की परंपरा के कुछ अवशिष्ट चिह्न का गंगा-सागर तीर्थस्थान की ओर, अभी कुछ दिनों पहले तक, पाया जाना भी बतलाया गया है (Augustus Somerville : Crime and Religious Beliefs in India, The Criminologist Calcutta 1931) pp. 168-70

जाना भी बौद्ध न होकर किसी प्राचीन आर्य-पद्धति का ही अनुसरण करता जान पड़ता है और इन जैसी सभी बातों का परिणाम यही हो सकता है कि धर्मसंप्रदाय बौद्धधर्म का अवशिष्ट अंश न हो। सारांश यह कि इसके बौद्धधर्म से कहीं अधिक अत्यन्त प्राचीन कोल वा आष्ट्रिक संस्कृति का अवशिष्ट अंश होने की ही संभावना है।

उत्कल प्रान्त के बहुत दिनों से बौद्धधर्म द्वारा प्रभावित होते आने में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध है कि वहाँ पर सम्राट् अशोक के समय से ही इसका प्रचार होना आरंभ हो गया था और तब से यह किसी न किसी रूप में बराबर चलता आया। यहाँ पर अन्य कई बातों के अतिरिक्त, इसके लिए, इस तथ्य की ओर भी संकेत किया जाता है कि पुरी में अवस्थित प्रसिद्ध मंदिर की जगन्नाथ वाली मूर्ति एवं तत्सम्बंधी अनेक विशेषताएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जेनरल कनिंघम ने इस बात को बड़ी योग्यता के साथ सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जगन्नाथ की मूर्ति का 'त्रिमूर्त रूप' वस्तुतः बौद्धधर्म के 'त्रिरत्न' से भिन्न नहीं है और हंटर ने तो अपने 'उड़ीसा के इतिहास' में, "पुरी का वैष्णवधर्म केवल पुराने बौद्धधर्म का उत्तराधिकारी मात्र है" कह कर भी इसका समर्थन किया है।[1] इसके सिवाय आचार्य नागार्जुन द्वारा इस प्रदेश को बहुत काल तक अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया जाना तथा कान्हूपा जैसे बौद्धसिद्धों का यहाँ रहकर अपनी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करना भी इस प्रकार की धारणा की पुष्टि करते बतलाये जाते हैं। वास्तव में यह भू भाग भारत के अन्य धर्मों एवं संप्रदायों के प्रचारकों का भी कार्यक्षेत्र माना जाता आया है और इसी कारण, यहाँ की विचार-धारा एवं प्रचलित सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं के

---

1. Prabhat Mukerjee : The History of Medieval Vaisnavism in Orissa (R. Chatterjee, Calcutta, 1940) pp. 17-8 and 15.

विषय में भी कहा जाता है कि वे विभिन्न प्रभावों द्वारा प्रभावित हैं। तदनुसार डॉ० शशिभूषण दासगुप्त का अनुमान है कि "उड़ीसा के वैष्णवधर्म पर सिद्धमत के योगियों द्वारा प्रतिपादित 'सिद्धदेह' के अमरत्व वाले आदर्श का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है"[१] तथा "पंचसखा वाले भक्तों पर सिद्धमत की काया-साधना का भी प्रभाव लक्षित होता है और ये उसकी 'उल्टी साधनाओं' को अपने यहाँ 'उजान' कह कर उसका वर्णन करते हैं"।[२] यह सिद्धमत उस योगिमत से अभिन्न है जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा और जिसके अन्तर्गत नाथपंथी और सिद्ध रसायनी भी आ जाते हैं। इस प्रकार पंचसखा वाले उपर्युक्त भक्त कवियों का ऐसे लोगों की विचार-धाराओं द्वारा भी प्रभावित होना ठहराया जा सकता है।

उत्कल प्रान्त के कुछ भागों में 'सराकी' नामक लोगों के भी किसी एक विशेष संप्रदाय का होना कहा जाता है जो बौद्धधर्म की अनेक बातों को स्वीकार करता है तथा जिसके नाम वाले मूल रूप का 'श्रावक' होना भी अनुमान किया गया है। कटक एवं पुरी के आस-पास पाये जाने वाले ये सराकी लोग बहुधा ताँतियों का व्यवसाय करते हैं जिनकी चर्चा स्व० शास्त्री ने भी अपनी 'भूमिका' में की है तथा जिनके वर्ग वाले कुछ अन्य लोगों का उन्होंने बंगाल के बाँकुड़ा और बर्दवान में होना भी कहा है।[3] ये लोग अपना मूल सम्बंध बौद्धधर्म की महायान शाखा के साथ जोड़ते हुए बतलाये जाते हैं, अनन्त वासुदेव को आदि-बुद्ध के साथ प्रायः एक और अभिन्न ठहराते हैं, गौतम बुद्ध की जयन्ती (बैशाखी पूर्णिमा) का व्रत किया करते हैं, मांस, मदिरा आदि का परित्याग

---

१. Shashibhushan Dasgupta: Obscure Religious Cults (University of Calcutta, 1946) p. 2 62.

२. Do P. 266.

3. दे० पृ० २६-३० ।

करने में पूरी कट्टरता प्रदर्शित करते हैं और 'चैतन्य भागवत' के प्रणेता ईश्वरदास के अनुसार उनके यहाँ यह कथा प्रसिद्ध है कि उनके धर्म प्रचारक वीर सिंह को सत्ययुग में नृसिंह भगवान ने कहा था कि तुम बौद्धमार्ग का प्रचार करना।[१] अतएव, हो सकता है कि सराकियों का यह वर्ग 'पंचसखा' लोगों के अनुयायियों अथवा महिमाधर्मियों से भी कहीं अधिक बौद्धधर्म के निकट सिद्ध किया जा सके और वह किसी न किसी प्रकार उसका अवशिष्ट अंश भी कहलाने योग्य हो। इसी प्रकार भारत के ही लद्दाख जैसे एक भू भाग में बौद्धधर्म का एक स्पष्ट रूप आज भी वर्तमान है तथा यदि यथेष्ट अनुसंधान किया जाय तो संभव है, इसका कोई न कोई विकृत वा विकसित रूप काश्मीर, केरल एवं असम आदि तक में भी मिल सके। बौद्धधर्म का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव तो न्यूनाधिक रूप में सारे भारतीय समाज पर ही ठहराया जा सकता है जिस कारण स्व० वसु महोदय का उसे उत्कलीय समाज एवं साहित्य पर किसी विशिष्ट रूप में निर्दिष्ट करना सत्य से दूर जाना नहीं हो सकता। इसको एक बहुत बड़ा महत्व एक दृष्टि से दिया जा सकता है कि उन्होंने इसके द्वारा हमारे लिए नवीन विषय के यथेष्ट अनुसंधान की ओर संकेत कर दिया है जो कतिपय धार्मिक और साहित्यक समस्याओं से सम्बद्ध है और वे उपेक्षणीय भी नहीं हैं।

इन दोनों समस्याओं में से प्रथम का सम्बंध इस प्रश्न से है कि "क्या भक्ति की उपासना का कभी किसी निर्गुण एवं निराकार उपास्य के विषय में भी होना संभव है अथवा वह केवल 'सगुण' एवं साकार के ही प्रति की जा सकती है।" स्व० वसु ने 'पंचसखा' के भक्त कवि एवं महिमाधर्मियों के स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करके इस प्रश्न का

Chittaranjandas (Visvabharti Annals Vol. IV, pp. 81-7

नकारात्मक उत्तर देने वालों के लिए अपनी धारणा के ऊपर एक बार फिर से विचार करने का एक सुअवसर उपस्थित कर दिया है। इसके सिवाय, उन्होंने इस विषय में यहाँ तक भी कह डाला है कि ऐसा होना बौद्धधर्म की शून्यतावादी मान्यता की दशा में भी असंभव नहीं है। इसी प्रकार उक्त दूसरी समस्या को हम इस प्रश्न पर आधारित कर सकते हैं कि 'क्या किसी साहित्य के भक्त कवियों को पृथक्-पृथक् किन्हीं 'निर्गुणधारा' एवं 'सगुणधारा' जैसी दो भिन्न-भिन्न शाखाओं के अनुसार स्थान दिये जा सकते हैं?" ये दोनों प्रश्न मूलतः एक ही कहे जा सकते हैं और इनका प्रमुख अन्तर केवल क्रमशः साधना विशेष एवं कथन-शैली के आधार पर ठहराया जा सकता है तथा इन्हीं का स्पष्टीकरण करते समय इस सम्बंध में प्रायः तर्क-वितर्क भी किया जाता है। यह सच है कि 'निर्गुणधारा' एवं 'सगुणधारा' के अनुसार भक्त कवियों को विभाजित करने का प्रयास सभी साहित्यों के सम्बंध में किया गया नहीं दीख पड़ता और मराठी साहित्य जैसे वाङ्मयों के आलोचक इस विषय में मौन रहना भी पसंद करते जान पड़ते हैं। परंतु हिन्दी साहित्य के इतिहासों के अन्तर्गत उपर्युक्त दो 'धाराओं' के भीतर दो-दो विभिन्न उप-धाराओं तक के पाये जाने का अनुमान किया गया है और स्वयं उड़िया साहित्य के विवरणों में भी हमें यह प्रवृत्ति 'सगुणधारा' को 'शुद्धा भक्तिधारा' और 'निर्गुणधारा' को ज्ञानमिश्रा तथा योगमिश्रा भक्तिधारा के रूपों में कथित करते समय दीख पड़ती है।

भारतीय साहित्य में भक्तिधारा

भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर भक्ति-परंपरा की प्रवृत्ति का प्रभाव बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भी रहा है। विक्रम की संभवतः छठी से लेकर उसकी पंद्रहवीं शताब्दी तक इस प्रवृत्ति का प्रवेश किसी न किसी रूप में यहाँ की प्रायः प्रत्येक ऐसी भाषा के साहित्य में हो चुका था। इसके द्वारा अनुप्राणित कवियों ने समय-समय पर उसे अपनी कई बहुमूल्य रचनाएँ भी भेंट कर दी थीं। इसी काल के अन्तर्गत बहुत सी ऐसी भाषाओं में 'रामायण', 'महाभारत' एवं 'भागवत' जैसे धार्मिक ग्रंथों के रूपान्तर प्रस्तुत किये गए थे तथा उनके विविध आख्यानों को विषय बना कर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना की गई थी। इसके सिवाय यही समय उन भक्ति आन्दोलनों का भी रहा जिनके प्रवर्तकों अथवा अनुयायियों के प्रचार-कार्य ने इस प्रवृत्ति को विशेष प्रभावशाली रूप दिया। इसके पीछे फिर लगभग दो-तीन सौ वर्षों तक इसका प्रचार क्रमशः और भी अधिक होता गया जिस कारण हमारी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की निरन्तर श्रीवृद्धि होती चली गई और वे समृद्धिशाली बन गए। यह एक मनोरंजक तथय है कि अधिकांश प्रादेशिक भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ कवियों में अनेक भक्तों की ही गणना विशेष रूप से की जाती है और उन्हीं की प्रतिभा एवं काव्य-कौशल के फलस्वरूप इनके इतिहास का कोई न कोई काल स्वर्णयुग कहलाकर भी प्रसिद्ध हुआ है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से फिर इस प्रवृत्ति में क्रमशः निर्बलता दीख पड़ने लगी जिसका परिणाम स्वभावतः उनके साहित्यों में भी लक्षित हुआ। इस प्रकार प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में पायी जाने वाली भक्ति-परंपरा

की प्रवृत्ति का इतिहास वस्तुतः स्वयं उनके गौरव के भी विकास एवं ह्रास का इतिहास है और यह बात उनमें से लगभग सभी के सम्बंध में एक समान में लागू कही जा सकती है।

यों तो भक्ति-परंपरा के मूलस्रोत का अस्तित्व वैदिक साहित्य तक में ढूँढ़ा जाता है और किसी प्रारंभिक रूप का पता मोहनजोदड़ो आदि के भग्नावशेषों के भी आधार पर बतलाया जाता है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इसका पहला स्पष्ट रूप हमें 'श्रीमद्भगवद्गीता' की ही पंक्तियों में दीख पड़ता है। यहाँ पर उपनिषत्-कालीन चिंतन-प्रधान उपासना सर्व प्रथम भक्ति के शुद्ध भाव-प्रधान रूप में परिणत होती जान पड़ती है और यहीं से इसका मस्तिष्क के साथ बना हुआ प्रारंभिक सम्बंध क्रमशः क्षीण होता हुआ अधिकाधिक हृदय के साथ जुड़ता चला जाता है। भक्ति के इस प्रकार विकसित हुए रूप के दर्शन हमें पहले-पहल उन तमिल रचनाओं में होते हैं जो पीछे अडियारों तथा आडवारों द्वारा निर्मित हुई और जो इस समय तक भी तमिल साहित्य का एक प्रमुख अंग बन कर प्रसिद्ध हैं। ये भक्ति कवि अधिकतर निम्नश्रेणी के व्यक्ति थे और इनमें से अधिकांश अशिक्षित भी थे, किंतु इन्होंने ही भक्ति को सर्वप्रथम साधारण जनजीवन के भी स्तर तक ला दिया। भक्ति के द्वारा अनुप्राणित हो इन्होंने अपने हृदय के सच्चे एवं भावपूर्ण उद्गार प्रकट किये और उनके कारण ये अपने परवर्ती कवियों के लिए पथप्रदर्शक भी बन गए। अडियारों के इष्टदेव शिव थे और आडवारों के विष्णु, अथवा राम एवं कृष्ण थे। किंतु इस प्रकार की विभिन्नताओं के होते हुए भी उनकी भक्ति-साधना में विशेष अन्तर नहीं था। उनका लक्ष्य एक समान था, उनके भावों में अपूर्व सादृश्य था। उनकी भाषा एवं रचना-शैली भी प्रायः एक ही प्रकार की थी। उनकी इन लोकभाषा की रचनाओं ने सर्वसाधारण को प्रभावित किया और ये ही पीछे अन्य प्रादेशिक भाषाओं के लिए आदर्श बानियाँ भी सिद्ध हुई।

तमिल प्रान्त के इन भक्त कवियों में कालक्रमानुसार, सर्वप्रथम स्थान कारैक्काल अम्मैयार को दिया जाता है। ये नारी भक्त थीं और शैव संप्रदाय की अनुगामिनी थीं तथा इन्होंने कैलाश पर अधिष्ठित अपने इष्टदेव भगवान शिव का वर्णन बड़े भक्ति-भाव के साथ किया है। किंतु उस प्रान्त के सर्वश्रेष्ठ शैव भक्त केवल चार माने जाते हैं जिनके नाम माणिक्क वाचकर, अप्पर, संबंदर और सुंदर हैं। इनमें से प्रथम की स्फुट कविताएँ 'तिरुवाचकम्' के नाम से संगृहीत हैं और शेष तीन की ऐसी रचनाओं का संग्रह 'तेवारम्' कहा जाता है। 'तिरुवाचकम्' भक्त माणिक्कवाचकर के गूढ़तम हृदयोद्‌गारों का सुंदर संकलन है और उसकी रचना उस समय के प्रचलित लोकगीतों की सुबोध शैली में की गई है। इनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का एक विशद परिचय हमें इनके 'तिरुक्को वैयार' नामक उस प्रबंध-काव्य में भी मिलता है जहाँ इन्होंने शिव तत्व को प्रेमपात्री अथवा प्रेमिका तक का रूप दे डाला है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पांचवीं-छठी शताब्दी की एक प्राचीन तमिल रचना के अन्तर्गत इस प्रकार जीवात्मा का प्रेमी रूप में तथा परमात्मा का प्रेमपात्रीवत् प्रदर्शित किया जाना, निश्चय ही सूफ़ी मत के प्रभाव का फल नहीं हो सकता। 'तेवारम्' के तीन कवियों में से अप्पर अपनी दास्यभाव की कविताओं के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं और ये 'मुद्राशैली' की रचनाओं के प्रवर्त्तक भी कहे जाते हैं जिसके अनुसार वर्ण्य विषय की चर्चा 'दशकों' में पूरी की जाती है और ग्यारहवीं कविताओं में रचयिताओं की 'मुद्रा' पायी जाती है। संबंदर कवि एक स्वाभिमानी शिवभक्त हैं और ये अपने इष्टदेव को प्रकृति वर्णन के साथ स्मरण करने की विशेषता रखते हैं। सुंदर की उपलब्ध रचनाओं में उनके अपने भगवान् शिव के प्रति प्रकट किये गए सखाभाव का चित्रण अपूर्व काव्य-कौशल के साथ किया गया मिलता है।

इसी प्रकार तमिल प्रान्त के बारह आडवार कवियों की रचनाओं का बृहत् संग्रह 'नाडियार प्रबंधम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इन बारहों में

से प्रथम तीन के तीन 'शतक' मिलते हैं जिनमें इनके इष्टदेव विष्णु अथवा नारायण के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। किंतु चौथे आडवार पेरियाडवार ने श्रीकृष्ण विषयक रचनाएँ भी की हैं जिनमें यशोदा के वात्सल्य भाव का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया गया है। पेरियाल्वार की कविताओं में एक माता के प्रायः उन सभी हार्दिक उद्गारों का अंकन मिलता है जो दैनिक जीवन में उपलब्ध हैं। इन पेरियाडवार की ही पोष्यपुत्री आंडाल थीं जिन्होंने अपने इष्टदेव के प्रति दाम्पत्यभाव से भरे पदों की रचना की है। इनकी भी गणना आडवारों में की जाती है और ये उनमें उसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार पीछे मीराँबाई राजस्थान अथवा उत्तरी भारत के कवियों में विख्यात हुईं। आंडाल मीराँबाई अथवा शैव भक्तिन कारैक्काल अम्मैयार की भाँति, विवाहित नहीं थीं। वे क्वारी ही रह गईं और अपने को इष्टदेव की पत्नी मानकर उसके सम्बंध में शृङ्गाररस द्वारा ओतप्रोत पदों की रचना करती रहीं। इनकी रचनाओं के प्रत्येक वाक्य में माधुर्य पाया जाता है। इन वैष्णव भक्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध नम्माडवार हैं जिनकी कविता में भावों के सौंदर्य एवं गांभीर्य दोनों एक समान मिलते हैं। इनकी भक्ति में हृदय एवं मस्तिष्क दोनों एक साथ काम करते जान पड़ते हैं जिस कारण उसमें भावुकता एवं दार्शनिकता दोनों का ही समावेश है। भावुक बन कर ये अपने इष्टदेव की प्रेमिका अथवा कभी-कभी उसकी माता तक बन जाते हैं तो अन्यत्र ये किसी चिंतनशील व्यक्ति के रूप में अपनी गाढ़ी स्वानुभूति व्यक्त करने लगते हैं और अखिल विश्व में सर्वत्र आत्मतत्व का ही दर्शन करने में लीन हो जाते हैं। नम्माडवार के अतिरिक्त अन्य आडवारों में से कम से कम दो अर्थात् तिरुमंगै तथा कुलशेखर के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। तिरुमंगै भी एक प्रतिभाशाली कवि थे जिन्होंने माधुर्य एवं दास्य भाव को समान रूप में अपनाया और कुलशेखर केरल प्रान्त के संत नरेश थे। ये दोनों ही आडवार विष्णु के रामावतार के प्रति अधिक आकृष्ट

थे और उसकी भक्ति को विशेष महत्व देते थे।

केरल प्रान्त का भाषा पहले वस्तुतः तमिल का एक विशिष्ट रूप थी जिस कारण कुलशेखर की गणना तमिल कवियों में की जाती है। वहाँ की वर्तमान भाषा मलयालम का स्वरूप पीछे अधिक निखर जाने पर भी भक्ति-रसपूर्ण रचनाओं का वहाँ अभाव नहीं रहा। इसमें अधिकतर कृष्णभक्त कवियों ने ही रचना की जिनमें चेरुस्सेरी, नंबूद्री, तुंजन, आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। त्रावंकुर राज्य के नरेशों का परिवार कला एवं भक्ति-भावपूर्ण साहित्य के निर्माण में विशेष रुचि लेता आया। राज्य की ओर से पद्मनाभ जी का एक सुप्रसिद्ध वैष्णव मंदिर भी वहाँ बहुत पुराने समय का स्थापित किया हुआ वर्तमान है तथा राजा लोग अपने को 'श्री पद्मनाभ का दास' और उन्हें अपना कुलदेव मानते, अभी आधुनिक समय तक चले आए हैं। ऐसे नरेशों में ही गर्भ श्रीमान् (सन् १८३१-१८४६ ई०) भी थे जिन्होंने, मलयालम, संस्कृत, कन्नड़ी एवं तेलुगु के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में भी पदों और गीतों की रचना की थी। इनकी श्रीकृष्णपरक हिन्दी रचनाओं में सूरदास, मीराँबाई जैसे हिन्दी के भक्त कवियों के भक्तिभाव तथा लीलागान के उदाहरण मिलते हैं।[1] तमिल प्रान्त की भक्ति-परंपरा का प्रभाव जिस प्रकार केरल प्रान्त के साहित्य पर पड़ा, उसी प्रकार उसने कर्णाटक प्रान्त के कन्नड़ी साहित्य को भी प्रभावित किया।

कर्णाटक में भक्ति-परंपरा द्वारा प्रभावित रचना-शैली का आरंभ वीरशैव संप्रदाय के प्रचारक बसव आदि के कारण हुआ। इन्होंने अपने प्रान्त की कन्नड़ी भाषा में 'वचन साहित्य' का निर्माण एवं प्रचार किया जो गद्य काव्य के रूप में स्वीकृत किया गया। इन वचनों में प्रमुखतः आचरण-प्रधान भक्ति का भांडार भरा था और आडवारों के पदों की

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भा० १६, पृ० ३१९-२४

भाँति ये भी धार्मिक साहित्य बन गए। शैवों के इस 'वचन साहित्य' से फिर इस प्रान्त के वैष्णव हरिदासों को प्रेरणा मिली जो विष्णु के 'विट्ठल' रूप के उपासक थे। इनका संप्रदाय 'दासकूट' के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली कवि हुए जिन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की अनुभूतियों का सारतत्व निकाल कर अपनी मधुर बानियों में संचित कर दिया। इनके विट्ठल वास्तव में पांडुरंग थे जिनका नाम पांडवों के कृष्ण का अभिप्राय प्रकट करता है और इनकी भक्ति-साधना मध्वाचार्य के द्वैतवाद पर आश्रित थी। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी थी कि इन्होंने शैवधर्म के प्रति कभी विरोधी भाव प्रकट नहीं किया, प्रत्युत उसके साथ समन्वय दरसाने का ही यत्न किया। इनकी बानियों में अपने इष्टदेव के प्रति जो भक्ति-भाव प्रकट किया गया है यह अतीव सुंदर और हृदयग्राही है। वीरशैवों के 'वचन साहित्य' और हरिदासों के पदों ने न केवल कन्नड़ी साहित्य का भांडार भर दिया, अपितु उनमें उस भाषा का प्रौढ़ रूप भी पूर्णतः निखर आया।

वीर शैवों के 'वचन साहित्य' की यह विशेषता थी कि उसका विषय कोरा भक्ति-भाव का ही नहीं था उसमें सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं, कुरीतियों तथा बाह्याडंबरों पर उनके रचयिताओं द्वारा किया गया निर्मम प्रहार भी सम्मिलित था। ये लेखक प्रत्येक व्यक्ति की आभ्यंतरिक शुद्धि एवं सच्चे नैतिक व्यवहारों के समर्थक थे। ये तदनुसार साधना एवं आचरण के उपदेश भी देते थे। इनमें बसव के अतिरिक्त चेन्न बसव तथा अल्लामा प्रभु विशेष रूप में प्रसिद्ध हैं। बसव अपने इष्टदेव शिव को 'कूडल संगम देव' के नाम से अभिहित करते थे और शिवैक्य अथवा जीवन्मुक्ति की दशा उपलब्ध करने के लिए भक्ति को ही सर्वोत्तम मार्ग समझते थे। उस स्थिति का एक पारिभाषिक नाम 'शरण' भी था जिस तक पहुँच जाने पर उपास्य एवं उपासक में कोई भेद नहीं रह जाता। वे कहते हैं—

क्या देवलोक मर्त्यलोक अलग-अलग है ?
इसी लोक में है अनंतलोक !
शिवलोक शिवाचार है, भक्त का स्थान ही देवलोक है
भक्त का आंगन ही वाराणसी है, काम ही कैलास है,
कूडल संगम देव, यही सत्य है ।[1]

और फिर, प्रभो, उत्तम कुल में जन्म लेने का बोझ सिर पर मत लादो।

प्रभो मुझे ऐसा बनाओ कि मैं कक्कप्या का जूठन खा सकूँ । [2]

कक्कप्या चाण्डाल जाति का व्यक्ति था जो शिवानुभव मंडल में आ गया था ।

हरिदासों की भक्ति-भाव भरी रचनाओं का आरंभ वीरशैवों के कुछ पीछे हुआ । इसलिए वे भी 'वचन साहित्य' से न्यूनाधिक प्रभावित थीं । हरिदासों को कभी-कभी तीन पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित किया जाता है जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत वे आते हैं जिनकी रचनाओं के प्रमुख लक्ष्य मध्वसंप्रदाय के अनुयायी हैं और दूसरे वर्ग में उन लोगों की गणना की जाती है जिनका क्षेत्र उनसे कुछ अधिक व्यापक है तथा जो साधारणतः भक्ति के साथ ज्ञान एवं कर्म का भी सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं । किंतु इन दोनों से भी अधिक महत्वपूर्ण वह वर्ग माना जा सकता है जिनके कवियों की रचनाएँ प्रत्येक मानव को लक्ष्य करके निर्मित की गई प्रतीत होती है ।[3] इन सभी को उस 'दासकूट' संप्रदाय के अन्तर्गत सम्मिलित करने की परंपरा है जिनकी स्थापना वस्तुतः व्यासराय (सन् १४४७-१५३९) ने की । श्रीपाद राय इनसे भी कुछ पहले के

---

[1] बसवरण का षटस्थल वचन, पृ० ३७

[2] बसवरण का षटस्थल वचन, पृ० २९ [3]. करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑफ् दी हरिदासाज़ ऑफ् करनाटक, पृ० १४-१५

थे और उन्होंने 'भ्रमर गीता' 'वेणुगीता' एवं 'गोपीगीता' की रचनाओं द्वारा श्रीकृष्ण लीला का वर्णन किया था। व्यासराय के लिए प्रसिद्ध है कि बंगाल के श्रीकृष्ण चैतन्य अथवा गौरांगदेव भी उनके शिष्यों में थे। व्यासराय ने दार्शनिक दृष्टि से द्वैतवादी होते हुए भी, अपने अंतःस्थित इष्टदेव की उपासना का रूप संतों की सहज समाधि सा बना दिया है। वे कहते—"मैं अपने हृदय-स्थित भगवान की मूर्ति की पूजा प्रतिदिन किया करता हूँ। मेरा शरीर मंदिर है मेरा हृदय मंडप है, मेरी आँखें आरती का काम करती हैं और मेरे हाथ चँवर बने हुए हैं। मेरी तीर्थयात्रा ही मेरी परिक्रमा है और मेरा सोना उसके समक्ष दंडवत करना है। उसकी स्तुतियाँ मंत्र रूप हैं, और जो कुछ कथन करता हूँ वे पुष्प रूप हैं। मेरा चलना उसके सामने मेरा नृत्य करना है और मेरे वस्त्र उसी के परिधान हैं—जो कुछ भोजन करता हूँ वह नैवैद्य है—फिर मुझे और क्या करना है? जब सभी कुछ मेरे भीतर ही है तो मैं सदैव श्री कृष्णोपासना में निरत रहा करता हूँ।"[1]

पुरंदरदास (सन् १४८४-१५६४ ई०) इन हरिदास वा दासकूट भक्तों में सबसे प्रसिद्ध हैं और उनकी रचनाएँ भी बहुत उच्चकोटि की हैं। इनके लिए कहा जाता है कि ये अपनी पत्नी के कारण इतने बड़े भक्त हुए थे और इनका नाम कृष्णप्पा से पुरंदरदास हो गया था। कृष्णप्पा महान कंजूस थे, किन्तु इनकी पत्नी उसी प्रकार दानशीला भी थी और कोई याचक उसके यहाँ से लौट नहीं सकता था। एक बार स्वयं पांडुरंग कृष्ण इनके यहाँ भिक्षुक ब्राह्मण बनकर गए और इनसे कुछ न पाकर इनकी पत्नी से उसका नथ माँग लिया। भिक्षुक ने फिर उस नथ को कृष्णप्पा के यहाँ गिरवी के रूप में रख कर कुछ द्रव्य लिया और इन्होंने उसे अपना घर का ही गहना जानकर अपनी पत्नी पर क्रोध किया। बेचारी अत्यन्त भयभीत होकर भगवान् से प्रार्थना करने लगी जिसके फलस्वरूप

---

[1] **करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑफ़ दी हरिदासाज़ ऑफ करनाटक, पृ० ४६-७.**

उसे वह नथ फिर मिल गया और इस घटना के रहस्य द्वारा पूर्ण प्रभावित होकर कृष्णप्पा पुरंदरदास नामक प्रसिद्ध भक्त बन गए। पुरंदरदास की भक्ति अपने इष्टदेव के प्रति दृढ़ आस्था एवं गहरी श्रद्धा से पूर्ण है और ये अपने को किसी बड़े के समक्ष छोटे के रूप में प्रदर्शित करने का यत्न अधिक करते हैं। ये कहते हैं—"हे श्री रंग, मुझे अपने में पूर्ण विश्वास करने की शक्ति दो, यदि मैं अशक्त बनने लगूँ तो मुझे भिक्षुक बना दो और यदि मैं किसी से कुछ माँगू तो उसे देने तक मत दो। यदि कोई मुझे भोजन दे तो भी मुझे अर्द्धभुक्त ही बने रहने दो और यदि पेट भर भी जाय तो मुझे वस्त्र न देने दो। इसी प्रकार यदि कपड़े मिल भी जाँय तो मुझे कहीं रहने की जगह न मिल पाये जिससे मैं तुम्हारे ही श्री चरणों में शरण पा सकूँ।[1]

लगभग इसी समय वीरशैवों तथा हरिदासों की भाँति उधर महाराष्ट्र के महानुभावों तथा वारकरियों ने भी अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। महानुभाव पंथ के प्रचारक चक्रधर का आविर्भाव उपर्युक्त बसव के कुछ ही दिनों पीछे हुआ था और वे कृष्ण के उपासक समझे जाते हैं। किन्तु महानुभावों की उपासना में वीरशैवों अथवा हरिदासों जैसा भक्ति का गहरा रंग नहीं दीख पड़ा। इसके उत्कृष्ट उदाहरण हमें उन रचनाओं में मिलते हैं जो ज्ञानेश्वर, एकनाथ एवं तुकाराम जैसे वारकरियों द्वारा निर्मित हुई हैं। इन संतों ने अपनी मराठी रचनाओं में हरिदासों की भाँति ही कीर्तन-शैली को पूर्णतः अपनाया है और उन्हीं के इष्टदेव विठ्ठल वा विठोबा को अपना इष्ठदेव भी स्वीकार किया है। इनमें वीरशैवों तथा हरिदासों जैसी सुधार-प्रियता भी लक्षित होती है जो महानुभावों में क्रान्ति की सीमा तक स्पर्श करती जान पड़ती है। इन वारकरियों की मराठी 'ओवियों' तथा 'अभंगों' में हमें प्रधानतः उस भक्ति

---

[1] **करमरकर : मिस्टिक टिचिंग्स ऑफ दी हरिदासाज़ ऑफ करनाटक,** पृ० ५५

का परिचय मिलता है जिसका उपदेश गीता में किया गया है वे वीरशैवों तथा हरिदासों की अपेक्षा वैदिक परंपरा के अधिक निकट हैं जिस बात में ये महानुभावों से नितान्त भिन्न कहे जा सकते हैं। इसके सिवाय हरिदास एवं महानुभाव वहाँ द्वैतवाद को प्रश्रय देते हैं वहाँ ये बिठ्ठल के उपासक होते हुए भी प्रधानतः अद्वैतवादी ही हैं। वास्तव में ये निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं और इस बात में ये उत्तर प्रदेश के कबीर जैसे संतों के भी पथ-प्रदर्शक जान पड़ते हैं। तमिल प्रान्त के अडियारों तथा आडवारों और कर्णाटक तथा महाराष्ट्र के क्रमशः वीरशैवों अथवा हरिदासों तथा महाराष्ट्र के महानुभावों और वारकरियों की भक्तिसाधना में एक बहुत बड़ा अन्तर इस बात के कारण आ जाता है कि तमिल प्रान्त वाले जहाँ इसे केवल व्यक्तिगत रूप तक ही सीमित रखते थे और इसके द्वारा अकेले आत्म-विभोर बना रहना चाहते थे, वहाँ इन लोगों ने इसका सांप्रदायिक रूप में भी प्रचार करना आरंभ किया।

कर्णाटक के हरिदासों की भक्तिसाधना का एक रूप सुदूर बंगाल प्रान्त में भी दीख पड़ा। मध्वाचार्य के ही द्वैतवाद से प्रभावित होकर वहाँ चैतन्यदेव ने भक्ति के एक नवीन 'गौड़ीय संप्रदाय' को जन्म दिया जिसमें स्वभावतः स्थानीय सहजिया वैष्णवों के प्रेम-भाव का भी पुट आ गया। उनके अनुयायी कवियों की बंगला पदावली में मधुररस का एक समुद्र सा उमड़ पड़ा जिसने प्रायः सारे प्रान्त को ही आप्लावित कर दिया। चैतन्यदेव के पूर्ववर्ती चंडीदास की सहजिया रचनाओं में जिस प्रेमपात्री की ओर केवल अस्पष्ट सा ही संकेत रहा वह गौड़ीय वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण की प्रेयसी राधा का प्रत्यक्ष रूप धारण कर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित हो गई। फिर तो उनके साथ किये गए प्रेमी कृष्ण के विविध बिहारों का ऐसा सजीव चित्रण हुआ कि ऐसे पदों को गाकर कीर्तन करने वाले आनन्द-विभोर होकर नृत्य तक करने लग गए और उनकी मण्डलियों का प्रचार अन्य प्रान्तों तक भी हो गया। तमिल प्रान्त के भक्तों ने अपनी पद-रचना में संगीत के लय अवश्य भरे

थे और कर्णाटक एवं महाराष्ट्र के क्रमशः हरिदासों एवं वारकरियों ने झाँझों और कठतालों के सहारे कीर्तन भी किया था, किंतु गौड़ीय संप्रदाय की भक्ति-साधना के लिए यह पद्धति अनिवार्य सी हो गई। बंगाल प्रान्त की इस भक्ति-परंपरा का एक विशेषता इस बात में भी लक्षित हुई कि यहाँ की विरहिणी प्रेमिका को हिंदी के सूरदासादि को गोपियों की भाँति उद्धव जैसे किसी माध्यम द्वारा कभी निर्गुण ब्रह्म वाले उपदेश नहीं सुनने पड़े और वह विरह की प्रबल धारा में एक समान प्रवाहित होती रह गई। इसके सिवाय तमिल अथवा कर्णाटक प्रान्तों के विपरीत यहाँ उस समय शैवभक्तों का प्रायः अभाव सा था तथा हरिदासों एवं वारकरियों की रचनाओं में जहाँ योगमार्गी नाथपंथ का भी प्रभाव दीख पड़ा, वहाँ गौड़ीय रचनाएँ इससे अछूती रह गई। बंगला साहित्य में पीछे रामप्रसाद जैसे शाक्त कवियों की भी भक्तिपूर्ण रचनाएँ सम्मिलित हुई जिनमें मधुररस की जगह वात्सल्य ही अधिक था।

चैतन्य देव ने अपने अन्तिम दिन उड़ीसा प्रान्त की पुरी में व्यतीत किये थे और वहीं उनका देहान्त भी हुआ था जिस कारण वहाँ के उड़िया भाषाभाषियों पर भी बंगाल के गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सका। उनके वहाँ आने के समय तक जिस वैष्णव भक्ति का प्रचार था और जिसके द्वारा अनुप्राणित होकर उड़िया कवि अपने पदों की रचना कर रहे थे वह अधिकतर बौद्धधर्म से प्रभावित थी। इस वैष्णव कवियों के इष्टदेव कृष्ण 'अलेख' एवं 'शून्य पुरुष' थे और इनकी राधा जीवात्मा से अभिन्न थी जिस कारण इनकी भक्तिसाधना बहुत कुछ योगपरक रूप धारण कर लेती थी। इसमें उस गुणगान एवं लीला-कीर्तन का समावेश नहीं था जो गौड़ीय भक्तों की विशेषता है। उड़िया वैष्ण कवि अच्युतानन्ददास, जगन्नाथदास तथा बलरामदास आदि ने अपनी रचनाओं में इसी कारण गेयत्व की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है और उनके 'शून्य संहिता' और 'विराट् गीता' जैसे ग्रंथों की पंक्तियों में शुष्क वर्णनात्मक शैली के ही अधिक उदाहरण पाये जाते

हैं। मराठी के वारकरी कवि अपनी रचनाओं में अधिक दार्शनिकता और पौराणिकता के आ जाने पर उन्हें सरस एवं हृदयग्राही बना लेते थे। हिंदी के संत कवियों में भी कई एक अपने ऐसे पदों को आकर्षक बनाने में सफल कहे जा सकते हैं, किंतु उड़िया के 'पंचसखा' वैसे नहीं जान पड़ते। इनकी वे रचनाएँ अधिक सुंदर हैं जिनमें या तो इन्होंने अपने निजी उद्‌गार प्रकट किये हैं अथवा जिन पर गौड़ीय वैष्णव भक्ति का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ा है।

हिंदी भाषा के संत कवियों पर कुछ न कुछ महाराष्ट्र के वारकरी संतों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इनमें से सर्वप्रथम कवि कबीर ने वारकरी कवि नामदेव का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और ये उनको तथा जयदेव को कलियुग के सर्वश्रेष्ठ भक्तों में गिनते हैं। जयदेव कवि का सम्बंध संभवतः उड़ीसा से ही था और वे बहुधा प्रसिद्ध गीत-गोविन्दकार जयदेव से भी अभिन्न कहे जाते हैं। परन्तु उनकी रचनाएँ अभी तक किसी प्रादेशिक भाषा में अच्छी संख्या में उपलब्ध नहीं है जिस कारण उनके विषय में कुछ निश्चय रूप से कहना संभव नहीं है। कबीर आदि संत कवि शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और स्वभावतः अद्वैतवादी भी थे। इन पर गीतादि जैसे ग्रंथों का भी प्रभाव नहीं जैसा वारकरी संतों पर दीख पड़ता है, न वे बौद्धों के शून्यवाद आदि को भी उस रूप में ग्रहण करते हैं जिसे उड़िया के 'पंचसखा' कवियों ने अपनाया था। इनमें उन प्रथम वर्ग वालों की दार्शनिकता है और दूसरे वर्ग वालों की बुद्धिवादिता भी कम नहीं है। किंतु इन्होंने इन दोनों बातों को उचित अनुपात में रखने की चेष्टा की है और इस ओर इन्हें कदाचित् उन हृदयवादी सूफ़ियों से भी सहायता मिली है जिन्होंने अपने प्रेम पंथ का प्रचार इधर बड़े पैमाने पर आरंभ कर दिया था। संत कबीर के कुछ ही पीछे फिर सगुणवादी कृष्णभक्त सूरदास आदि तथा रामभक्त तुलसीदास आदि का समय आ गया जिन्होंने न केवल क्रमशः कृष्णावतार एवं रामावतार का गुणानुवाद किया, अपितु जो किसी ने किसी रूप में

निर्गुण भक्ति का न्यूनाधिक विरोध करने से भी विरत न रह सके। इन दोनों प्रकार के कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रमुख आधार 'श्रीमद्-भागवत' अथवा 'वाल्मीकीय रामायण' को बनाया और तदनुसार वस्तुतः उस परंपरा का ही पालन किया जिसका अनुसरण क्रमशः कन्नड़ी के रुद्र भट्ट, तेलुगु के पोतन्ना, गुजराती के नरसी और बंगला के मालधर वसु के सम्बंध में अथवा तमिल के कंबन, तेलुगु के भास्कर कवि, गुजराती के भालण तथा बंगला के कृत्तिवास, किसी न किसी रूप में, इनके पहले से ही करते जा रहे थे। इनकी विशेषता केवल इस बात में लक्षित हुई कि इन्होंने अपनी कृतियों पर अपने व्यक्तित्व की छाप अत्यन्त गहरे रंग में डाली तथा दास्य, माधुर्य, वात्सल्य एवं सख्य भावों में से प्रत्येक के पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये।

भक्ति-परंपरा की प्रवृत्ति की दृष्टि से हम तेलुगु साहित्य को उतना महत्व नहीं दे सकते। न तो यहाँ के क्षेत्र में वैसा बड़ा कोई भक्ति-आन्दोलन चला, न कोई ऐसा भक्त कवि ही हुआ जिसकी रचनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव देखने में आता। प्रसिद्ध वल्लभाचार्य ने इस प्रदेश के होते हुए भी, अपने कार्यक्षेत्र को अन्यत्र बनाया और उन्होंने जो कुछ रचनाएँ कीं उनका माध्यम वे तेलुगु को नहीं बना सके। तेलुगु साहित्य की इस ओर सबसे बड़ी देन के रूप में हम 'श्रीमद्भागवत' के व्याख्याता केवल पोतन्ना का नाम ले सकते हैं और उस राजकवि कृष्णदेव राय को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने 'आमुक्त माल्यदा' जैसी अपूर्व रचना प्रदान की है। पोतन्ना का 'श्रीमद्भागवत' केवल कहने के लिए ही अनुवाद है, उसका अधिक अंश स्वतंत्र काव्य द्वारा ओतप्रोत है और जिसके 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे कतिपय प्रसंगों के स्थल पर भक्तिरस का प्रवाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीकृष्णदेव राय की रचना में प्रसिद्ध आडवार भक्तिन आंडाल की कथा का वर्णन बड़ी सरल शैली में किया गया है। किंतु ऐसे अन्य नामों का वहाँ प्रायः अभाव सा ही दीख पड़ता है। विख्यात गायक त्यागराज के गीतों में हमें उनके

इष्टदेव राम के प्रति भक्ति अवश्य झलकती है, किंतु वह उनकी कला-प्रियता के सामने कुछ दब सी जाती है। गुजरात के नरसी मेहता में हिंदी के अष्टछाप वाले कवियों जैसी ही शृंगारिक भक्ति का उदाहरण मिलता है। तुकाराम आदि मराठी कवियों की भाँति ये अपने पदों में तल्लीनता का भाव प्रकट करना जानते हैं और इन पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। गुजराती भाषा में प्रसिद्ध कवयित्री मीराँबाई की भी रचनाएँ इस सम्बंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, किंतु उनकी अधिक महत्ता उनके हिंदी पदों के ही कारण स्वीकार की जाती है और उनमें प्रकट किये गए सच्चे दाम्पत्य भाव के लिए वे तमिल की भक्तिन आंडाल वा गोदा की समकक्ष समझी जातीं हैं। गुजराती ने भालण जैसा निपुण रामभक्त का कवि भी दिया है, किंतु उसकी विशेषता कृष्णभक्तिपरक रचनाओं में ही स्वीकार की जा सकती है। इस भाषा के भक्त कवियों की रचनाओं में किसी आन्दोलन विशेष की प्रेरणा नहीं लक्षित होती, किन्तु वे कभी-कभी शैवधर्म के प्रति विरोधभाव भी प्रदर्शित करते दीख पड़ते हैं।

भक्ति-आन्दोलन को लेकर चलने वाले कवियों में हम अवधी भाषा के शंकरदेव एवं माधवदेव आदि के भी नाम ले सकते हैं। ये कवि कृष्णोपासक थे, किंतु इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि चैतन्यदेव के गौड़ीय संप्रदाय के कार्यक्षेत्र की सीमा पर बने रहते हुए भी इन्होंने उनके राधा-भाव को नहीं अपनाया। ये राधा एवं कृष्ण की युगलमूर्ति के भी उपासक नहीं थे, प्रत्युत इनकी भक्ति की विशेषता भगवान के प्रति 'एक शरण' का भाव व्यक्त करने में ही दीख पड़ी। इन्होंने श्रीकृष्ण के बालरूप की ओर विशेष ध्यान दिया और उनकी विविध लीलाओं का वर्णन करने में हिंदी के सूरदास जैसे यत्न किये। शंकरदेव का कहना था—

एक देउ, एक सेउ, एक बिने नाई केउ

शंकरदेव तथा उनके शिष्य माधवदेव आदि ने महापुरुषिया नामक संप्रदाय चलाया जिसने असम देश के पूर्व प्रचलित शाक्तधर्म के नाग-पंथियों की शक्ति घटाने में बहुत बड़ा काम किया। इसने वहाँ बंगाल के गौड़ीय मधुररस का भी प्रभाव नहीं पड़ने दिया। इन असमी भक्त कवियों के 'नामघोषम्' 'बारगीतम्' एवं विविध नाटकीय रचनाएँ असमी साहित्य की अमूल्य निधि बनी हुई हैं।

भारत के पश्चिमी एवं उत्तरी भागों वाले क्रमशः पंजाबी तथा काश्मीरी साहित्यों को देखने से पता चलता है उनके भक्ति-भाव विषयक अंशों पर न्यूनाधिक सूफ़ी संप्रदाय का प्रभाव पड़ा है और वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' जैसे ग्रंथों से प्रायः अछूते से भी जान पड़ते हैं। पंजाबी-साहित्य का तो आरंभ ही कदाचित् बाबा फ़रीद जैसे सूफ़ियों द्वारा हुआ था और उसके भंडार का अधिक भाग सिखों द्वारा भरा गया। फलतः इसके अन्तर्गत हमें निर्गुण भक्ति के ही उदाहरण अधिक संख्या में मिलते हैं और उसमें ऐहिकता का पुट भी उल्लेखनीय है। उसमें अलौकिक धर्मों के प्रति आकर्षण की कमी है और नैतिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर विशेष बल दिया गया मिलता है। सिख गुरुओं की रचनाओं में उपलब्ध भक्ति पर नाथ-पंथ जैसे योग मार्गी संप्रदायों का भी प्रभाव कम नहीं जान पड़ता। बलीराय आदि कतिपय कवियों की सगुण भक्ति परक पंक्तियों में मानव प्रेम की ही झलक अधिक मात्रा में दीख पड़ती है। पंजाबी साहित्य में शैवों तथा रामभक्तों की कृतियों का पता नहीं चलता और कृष्ण भक्तों की अधिकांश रचनाएँ भी केवल फुटकल रूपों में ही उपलब्ध हैं। शैवों की भक्तिपरक रचनाएँ हमें काश्मीरी भाषा के साहित्य में मिलती हैं, किंतु उनमें भी दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दिखायी देता है। काश्मीर के पुराने शैव कवियों में ललेश्वरी अथवा लालदेद का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनका आविर्भाव हिंदी के संत कवि कबीर से कुछ पहले ही हुआ था और इनका सारा जीवन ही प्रेमोन्माद से भरी किसी योगिनी सा रहा। कहते हैं कि इनकी सास ने

इन्हें बहुत अधिक सताया था और अपने पति की ओर से भी ये सदा उपेक्षित ही बनी रहीं। किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं से स्पष्ट है कि ये एक प्रतिभाशालिनी महिला थीं और इनकी भावधारा गंभीर चिंतन एवं स्वानुभूति की सुदृढ़ पृष्टभूमि से होकर प्रवाहित हुई थी। लालदेद की रचनाओं पर हमें उस त्रिक् दर्शन का भी प्रभाव कम नहीं लक्षित होता जो काश्मीरी शैव संप्रदाय की आधारशिला है। परंतु, फिर भी उनका संपर्क शाह हमदान से भी था जो काश्मीर के प्रसिद्ध सूफ़ी संतों में गिने जाते हैं और जो वहाँ सन् १३८० से १३८६ तक वर्तमान थे। लालदेद का इष्टदेव वह परात्पर शिवतत्व है जिसे 'शिव, केशव, जिन वा नाथ' कुछ भी कह सकते हैं और जिनकी किसी भी ऐसी भावना को लेकर उसमें हार्दिक विश्वास रखने वाला सांसारिक दुखों से सर्वथा मुक्त हो सकता है।''[1] इस बात में ये अपनी पूर्ववर्त्तिनी शैव भक्त कवयित्री कारैक्काल अम्मैयार से भिन्न है जो सगुण शिव की उपासिका थीं और जिनकी चर्चा तमिल साहित्य के प्रसंग में पहले की जा चुकी है।

भारत की प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं के कवियों की रचनाओं में इस प्रकार, भक्ति-परंपरा की प्रवृत्ति विभिन्न रूपों में काम करती जान पड़ती है। कहीं पर यह वात्सल्य भाव को प्रश्रय देती है तो कहीं सख्य भाव को अपनाती है और कहीं पर दास्यभाव को स्वीकार कर लेती है। इसे सबसे अधिक बल तब मिलता है जब यह माधुर्य का सहयोग प्राप्त करती है अथवा इसे अद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। पहले पहल यह प्रधानतः भक्त कवियों की व्यक्तिगत साधनाओं का ही आश्रय ग्रहण करती है, किंतु पीछे फिर इसे विविध भक्ति आन्दोलनों का भी अवलंब मिलने लगता है और कभी-कभी उनमें से कई कवि स्वयं भी उनके प्रवर्त्तक होने लग जाते हैं। एक प्रादेशिक साहित्य दूसरे पर अपना प्रभाव स्वभावतः डालता रहता है और ऐसी कार्य-कारण परंपरा कभी-

---

[1] **लल्लेश्वरी वाक्यानि, पद २२, पृ० १०**

कभी लंबी तक भी बन जाती है। किंतु एकाध बार ऐसा भी देखने में आता है कि एक प्रभाव दूसरे के ऊपर दूरी का विशेष व्यवधान रहते हुए भी पड़ गया है और कहीं-कहीं दो प्रान्तों की सीमाओं के मिली रहने पर भी परिस्थिति वश एक का साहित्य दूसरे से भिन्न रह जाता है। इसके सिवाय यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि इन साहित्यों में प्रदर्शित भक्ति-भाव अधिकतर वैष्णव संप्रदाय से ही सम्बद्ध है और विशेष रूप से वहाँ भी श्रीकृष्ण को ही अपना ध्येय बनाता है। किंतु कहीं-कहीं पर इसका रूप शैव अथवा शाक्त संप्रदायों का भी रंग ग्रहण कर लेता है और वहाँ या तो दास्य अथवा वात्सल्य के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं। भक्तिधारा के प्रवाह द्वारा इस प्रकार सारे भारत का ही प्रादेशिक साहित्य आप्लावित जान पड़ता है और इसके प्रभाव से स्थानीय लोक साहित्य तक भी अछूते नहीं है।

मुहम्मद ने उन ईश्वरीय आदेशों को परमात्मा की ओर से स्वयं संदेशवत् ग्रहण किया था और उन्हें संगृहीत कर इस्लामधर्म के पवित्र ग्रंथ 'क़ुरान-शरीफ़' की रचना की गई है।

सूफ़ीमत के अनुयायियों ने इस्लाम धर्म की प्रायः सभी मुख्य बातों को उनके मूलरूपों में स्वीकार किया तथा 'क़ुरान-शरीफ़' से पर्याप्त प्रेरणा भी ग्रहण की। किंतु उस धर्म-ग्रंथ के अनेक अंशों की उन्होंने कभी-कभी स्वतंत्र व्याख्या भी कर डाली, जिस कारण उनकी विचारधारा में कुछ-कुछ नवीनता दीख पड़ने लगी। इसके सिवाय इस्लाम धर्म का अधिक प्रचार हो जाने पर, जब ये लोग अन्य मतावलंबियों के संपर्क में आये तो इन पर उनका न्यूनाधिक प्रभाव भी पड़ता चला गया, जिसके फलस्वरूप सूफ़ीमत क्रमशः एक विशिष्ट संप्रदाय के रूप में परिणत हो गया तथा इसके भीतर अनेक उपसंप्रदायों तक की सृष्टि हो गई। परंतु जहाँ तक इसके मूल सिद्धान्तों एवं प्रमुख साधनाओं का प्रश्न है, उनमें विशेष मतभेद नहीं आने पाया और इसीलिए इसका एक पृथक् अस्तित्व भी बना रह गया। इन सूफ़ियों में से कुछ का विश्वास था कि परमात्मा इस जगत् से सर्वथा परे है, किंतु उसकी सभी बातें इसमें, दर्पण के भीतर प्रतिबिंब की भाँति, दीख पड़ती हैं, ये लोग 'शुदूदिया' कहलाते थे, जिन्हें हम दूसरे शब्दों में 'सर्वात्मवादी' का भी नाम दे सकते हैं। इसी प्रकार इनका एक दूसरा वर्ग 'वुजूदिया' कहलाता था जिसके लोगों की धारणा थी कि परमात्मा के अतिरिक्त वस्तुतः अन्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, जिस कारण उनके लिए 'एकतत्ववादी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। परमात्मा निर्गुण है अथवा सगुण है—इस बात को लेकर भी सूफ़ियों में मतभेद था। इब्न-अरबी, हल्लाज़ एवं जामी जैसे सूफ़ियों का कहना था कि वह केवल शुद्ध स्वरूप अथवा सत्तामात्र है, जिस कारण उसे निर्गुण वा निर्विशेष माना जा सकता है, जहाँ कालाबाधी एवं हुज्विरी-जैसे सूफ़ियों के मत से वह अनन्त गुणों से विभूषित है, यद्यपि इस रूप में भी वे उसे

कोई स्पष्ट आकार प्रदान करते नहीं जान पड़ते ।

सूफ़ीलोग परमेश्वर को साधारणतः एक अनिर्वचनीय तेजःपुञ्ज के रूप में समझते प्रतीत होते हैं । प्रसिद्ध सूफ़ी ग़ज़ाली ने तो एक स्थल पर यह भी लिखा है, "अल्लाह सत्तर हजार पर्दों के भीतर है जिनमें से कुछ प्रकाशमय हैं अन्य अंधकारमय भी हैं । यदि वह किसी प्रकार उन आवरणों को हटाकर अपने को अनावृत कर ले तो जिस किसी की भी दृष्टि उस पर पड़ेगी, वह उसके प्रखर प्रकाश के कारण दग्ध हो जायगा ।" ग़ज़ाली के अनुसार, मनुष्य अपना जन्म ग्रहण करते ही उन प्रकाशमय पर्दों की ओर से क्रमशः अंधकारमय पर्दों की ओर बढ़ना आरंभ कर देता है, किंतु यदि कभी वह सँभल जाता है और एक 'सालिक' वा साधक के रूप में उधर से लौट पड़ता है तो वह फिर उस दिव्य आलोक की ओर अग्रसर होने लगता है तथा उसे परमात्म-तत्व की उपलब्धि हो जाती है । इस यात्रा में उसे सात विभिन्न स्थलों वा दशाओं को पार करना पड़ता है—जो क्रमशः अनुताप, आत्म-संयम आदि के रूप में हुआ करती हैं और उसे उनके कारण आत्मबल मिलता है तथा अंत में वह एक ऐसी स्थिति में आ जाता है, जहाँ उसके अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है । सूफ़ियों ने फिर इस दशा की भी चार भिन्न-भिन्न कोटियों की कल्पना की है और उन्हें क्रमशः 'मारफ़ित', 'इश्क़', 'वज्द' एवं 'वस्ल' के पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं । इनमें से 'मारफ़ित' एक प्रकार का हृदयप्रसूत ज्ञान है जिसमें गहरी अनुभूति का अंश बहुत अधिक मात्रा में रहा करता है । 'इश्क़' उसी का वह भावावेगमय रूप है, जिसे सूफ़ियों ने सदा अधिक महत्व प्रदान किया है तथा जिसकी स्थिति में आकर 'सालिक' का अपने आप को क्रमशः विस्मृत करते जाना भी बतलाया गया है । इस दशा में अनन्तर ही 'वज्द' वा उन्माद की स्थिति आती है, जो सालिकों की इस यात्रा का उच्चतम सोपान है और जहाँ से उन्हें उनके अन्तिम ध्येय 'वस्ल' (ईश्वर-मिलन) की सिद्धि हो जाती है ।

इस प्रकार सूफ़ी साधकों की उपर्युक्त साधना-पद्धति के प्रथम सात सोपान यदि हमें बहुत-कुछ नैतिक से लगते हैं तो उसके दूसरे चार का वास्तविक रूप भी केवल मानवीय मनोदशा की चार विभिन्न अवस्थाओं जैसा ही प्रतीत होता है और इनमें से किसी के भी प्रसंग में भक्तिसाधना की वैधी पद्धति का वैसा प्रश्न ही नहीं उठता। सूफ़ी अपने इष्टदेव के अभिमुख प्रयाण अवश्य करता है और वह उसे कोई-न-कोई व्यक्तित्व भी प्रदान करता है, वह उसे कभी कोई बोधमय रूप भी नहीं दे पाता। इस कारण सगुणवादी समझे जाने वाले सूफ़ी साधकों की भी उपासना अधिक-से-अधिक निर्गुणभक्ति के ही रूप में परिणत होती जान पड़ती है। इसके लिए न तो किसी उपकरण की आवश्यकता है, न इसमें किसी बाह्योपचार का ही उपक्रम करना पड़ता है। इस्लाम धर्म का चरम उद्देश्य ही यह है कि अपने को परमेश्वर के सम्मुख उपस्थित रखा जाय, उसकी प्रार्थना की जाय तथा उसके प्रति अपने को समर्पित कर दिया जाय। यह भाव अरबी शब्द 'इस्लाम' के भी व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में निहित समझा जाता है और इसी रूप में उसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक मुस्लिम जहाँ इस मनोवृत्ति को अल्लाह से भयभीत होकर स्वीकार करता है, वहाँ एक सूफ़ी को इसके लिए उसके प्रति सच्चे अनुराग या प्रेम-भाव के द्वारा प्रेरणा मिलती है। एक सूफ़ी परमेश्वर को अपना परम आत्मीय समझता है और वह अपने को उससे वियुक्त या बिछुड़ा हुआ भी अनुभव करता है। वह उसके विरह में तड़पा करता है, उसकी उपलब्धि के लिए आतुर बन जाता है और इसी भावना के साथ वह अपनी उपर्युक्त साधना में प्रवृत्त भी होता है। उसे इसकी परवाह नहीं होती कि मेरा प्रियतम वा इष्टदेव मुझे किसी स्थूल शरीर में आकर दर्शन दे, न वह यही चाहता है कि मुझे उसके समक्ष सदा उपस्थित रहने का अवसर मिले। वह उसके 'नूर' वा दिव्य प्रकाशमात्र से ही अपने को अभिभूत मानता है और उसके आलोक से संपूर्ण विश्व को

अलौकिक समझता है। परंतु फिर भी उसे तब तक पूरी शान्ति नहीं मिलती, न वह उसके साथ अपने मिलन का अनुभव ही करता है, जब तक उसके अपने भीतर तज्जन्य आत्म-विस्मृति की भी दशा नहीं उत्पन्न हो जाती।

अतएव सूफ़ी साधकों की भक्ति-भावना को यदि हम चाहें तो 'रागानुगा' की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं तथा इसके भक्ति-भाव को परमेश्वर के प्रति 'परानुरक्ति' की संज्ञा देकर इसके अन्तर्गत प्रेमाभक्ति के प्रमुख लक्षणों को भी ढूँढ़ सकते हैं। 'रागानुगा' भक्ति के भी दो रूप देखने में आते हैं, जिनमें से प्रथम व प्रारंभिक को 'बाह्य' तथा दूसरे वा अधिक प्रौढ़ को 'अन्तर' की साधनाओं के साथ सम्बद्ध मानने का नियम है। बाह्य साधनाओं—में प्रधानतः 'श्रवण' एवं 'कीर्तन' की गणना की जाती है और इनके अभ्यास द्वारा भक्ति-भाव प्रकट करने वाले को प्रायः 'साधक' मात्रा भी कह दिया जाता है। किंतु अन्ततः साधना के अभ्यास द्वारा हमारी मनोवृत्ति में ही पूरा परिवर्तन आ जाता है और हम अपने इष्टदेव को अपने स्वामी, मित्र, पिता अथवा पति के रूप में देखने लग जाते हैं। कहना न होगा कि सूफ़ियों की भक्ति-साधना में भी हमें इन दोनों प्रकारों के उदाहरण दीख पड़ते हैं। परंतु वैधी भक्ति की वे दूसरी सभी विशिष्ट साधनाएँ, जिनकी गणना बहुत 'नवधा-भक्ति' का परिचय देते समय की जाती है, इसमें स्वभावतः स्थान नहीं पातीं। इसमें न तो उसका 'पाद-सेवन' आता है, न उसके 'अर्चन', 'वन्दन', 'दास्य,' अथवा 'सख्य' का ही प्रयोजन रहता है तथा इसमें 'श्रवण' का भी ठीक वही रूप नहीं रह जाता जिसकी चर्चा 'रागानुगा' भक्ति वा 'वैधी' में की जाती है। इसके सिवाय सूफ़ी भक्तिसाधना के अन्तर्गत जो 'आत्मनिवेदन' का रूप दीख पड़ता है। उसकी भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, तथा यों रागात्मक सम्बंध, 'रागानुगा' के अनुसार, भक्त और इसके इष्टदेव के बीच कई रूपों में दीख सकता है, वह सूफ़ी के लिए केवल पति-पत्नी वा प्रेमी-

प्रेमिका के ही क्षेत्र तक सीमित रह जाता है।

सूफ़ियों की भक्तिसाधना के अन्तर्गत 'श्रवण' का एक रूप उनके 'तिलावत' वा 'क़ुरान शरीफ़' के नियमित पाठ में मिल सकता है। यह वस्तुतः इष्टदेव के गुणानुवाद का दूसरों से सुनना' नहीं है, अपितु स्वयं धर्म-ग्रन्थ का पारायण करके उसे कर्णगोचर कर लेने के रूप में पाया जाता है। इस 'तिलावत' से ही मिलती-जुलती सूफ़ियों की एक अन्य साधना 'अवराद' के भी रूप में मिलती है जिसके अनुसार कतिपय चुने हुए भजनों का ही दैनिक पाठ किया जाता है। सूफ़ी साधकों के 'कीर्तन' को 'समा' कहा जा सकता है, जिसका भी शाब्दिक अर्थ 'सुनना' है, किंतु जिसका प्रयोग यहाँ संगीतादि का श्रवण कर तल्लीन होने के लिए किया जाता है। इस्लाम धर्म की दृष्टि से संगीत के प्रति आकृष्ट होना निषिद्ध कहा जा सकता है, किंतु सूफ़ियों के 'चिश्तिया' एवं 'क़ादिरिया' संप्रदाय में इसे विशेष महत्व दिया जाता है। प्रसिद्ध सूफ़ी कवि मौलाना रूम द्वारा प्रचलित किये गए 'मौलवी' संप्रदाय ने तो इसे अपने लिए प्रमुख साधना के रूप में अपनाया है। 'समा' के लिए साधारण गीत के साथ नृत्य तक की आवश्यकता पड़ती है और सूफ़ी साधक उनके द्वारा अपने को आत्म-विभोर कर देता है। चिश्तिया-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध बाबा फ़रीद ने तो 'तिलावत' वाले उक्त 'क़ुरान' का पाठ भी सुन्दर लय में ही करने को महत्व दिया था उनके अनुसार वैसा पाठ परमेश्वर के साथ वार्तालाप करना है। 'समा' का आयोजन प्रायः 'उर्स' के अवसरों पर भी किया जाता है और सूफ़ीलोग भावावेश में आकर कभी-कभी बेसुध तक हो जाते दीख पड़ते हैं। कहते हैं कि 'सभा' के अवसरों पर उठने वाली मधुर ध्वनि में लीन हो जानेवाले की अन्तर्दृष्टि आप-से-आप खुल जा सकती है और वह प्रियतम के निकट भी चला जाता है।

सूफ़ियों की भक्तिसाधना में 'ज़िक्र' वा 'स्मरण' को भी विशेष महत्व दिया जाता है। 'नक्शबंदिया' संप्रदाय के अनुयायियों के

यहाँ इसके लिए एक विशेष प्रकार की शिक्षा भी दी जाती है, जिनके अनुसार 'सालिक' पहले अपनी दोनों आँखें बन्द कर लेता है मुँह भी बन्द रखता है और अपनी जीभ को होठों से दबा लेता है। वह अपने हृदय की ओर पूरा ध्यान रखता है और ऐसा अनुभव करता है कि 'ला' को मैं उसके त्रिकोण रूप के ऊपर की ओर, 'इलाह' को उसकी दाहिनी ओर तथा संपूर्ण 'ला इलाह इल्ल इल्लाह' को उसकी नोकदार छोर के ऊपर केन्द्रित कर रहा हूँ तथा इस प्रकार मेरा मन सांसारिक प्रलोभनों की ओर से पूर्ण खिंच भी गया है। 'ज़िक्र' की साधना का एक दूसरा ढंग भी बतलाया गया है, जिनके अनुसार साधक के लिए अपने श्वास-प्रश्वास की ही ओर विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। इस क्रिया में भी आँखें बन्द रहा करती हैं, किंतु अपना ध्यान उतना हृदय की ओर नहीं जा पाता। यहाँ जब वह अपनी साँस छोड़ता हैं, तब ऐसा अनुभव करता है कि 'ला इलाह' का उच्चारण कर रहा हूँ और इसी प्रकार जब उसे भीतर लाता है तब 'इल्ल इल्लाह' कहता हुआ-सा अनुभव करता है। 'जिक्र' अथवा स्मरण की इस जप-साधना के प्रायः दो रूप देखे जाते हैं, जिनमें से एक को 'ज़िक्र जली' और दूसरे को 'ज़िक्र ख़फ़ी' कहा करते हैं इनका मुख्य भेद इस बात में दीख पड़ता है कि पहली की दशा में जहाँ पवित्र वाक्य को उच्च स्वर के साथ कहा जाता है, वहाँ दूसरी दशा में अत्यन्त मन्द स्वर का ही प्रयोग होता है। 'ज़िक्र जली' के साधकों के लिए आसान का भी महत्व रहता है और वे ऐसे अवसरों पर कभी दाहिने, कभी बाएँ मुड़ जाया करते हैं।

परंतु सूफ़ी साधकों में साधारणतः 'ज़िक्र खफ़ी' अथवा 'गुप्त जप' को ही अधिक महत्व दिया जाता देखा जाता है। इसमें जीभ द्वारा किसी मंत्र का स्पष्ट उच्चारण करना आवश्यक नहीं, न किसी आसन-विशेष पर बैठने अथवा शरीर को मोड़ने की ही आवश्यकता पड़ती है। यह 'ज़िक्र' वस्तुतः एक अन्य साधना 'फ़िक्र' वा 'चिन्तन' जैसी होती है, जिसमें साधक का चित्त सदा अपने इष्टदेव की

ओर अकृष्ट रहा करता है। 'ज़िक्र खफ़ी' का साधक अपने पवित्र मंत्र को ही सभी कुछ समझ कर उसकी ओर ध्यान दिये रहता है और ऐसा समझता है मानो उसकी विधिवत् आवृत्ति भी करता जा रहा है। 'फ़िक्र' की साधना में किसी मंत्र की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु अपने चित्त को परमात्मतत्व के 'नूर' वा दिव्यज्योति की ओर लगाना पड़ता है। यह क्रिया अपने जीवन में निरन्तर चल सकती है और साधक इसे करता हुआ भी अपने दैनिक व्यवहार को कायम रख सकता है। 'फ़िक्र' की विशेषता उसके गुप्तरूप से चलने में ही लक्षित होती है। प्रसिद्ध सूफ़ी कवि जायसी ने अपनी रचना 'पद्मावत' के एक स्थल पर कहा है—

परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासों राता॥

एक अन्य सूफ़ी कवि नूरमोहम्मद ने भी अपनी रचना 'अनुराग बाँसुरी' के अन्तर्गत इस प्रकार की साधना को "मन की माला फेरने" का नाम दिया है और बतलाया है कि हृदय द्वारा अपने प्रियतम के नित्य चिन्तन या उसके स्मरण से 'योग' की साधना पूरी हो जाती है। वे प्रेमी धन्य हैं, जो ऐसी साधना किया करते हैं; जैसे—

मन के मालै सुमिरैं नेही लोग।
ध्यान और सुमिरन सों पूरन जोग॥

तथा—

धनि सनेह के लोभै, जेहि दिन रात।
सुमिरन बिना न दूसर कछू सुहात॥

सूफ़ियों की 'फ़िक्र' नामक साथना उनकी 'मुराक़बत' (ध्यान) से भिन्न हुआ करती है, जिसके लिए उनकी दृष्टि में 'ख़िलवत' (एकान्तसेवन) भी नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार सूफ़ी साधकों की उक्त सारी क्रियाएँ वस्तुतः अन्तः साधना के ही विविध रूप हैं, जिनसे उनकी अन्तर्वृत्ति के एकान्तनिष्ठ

बनने में सहायता मिलती है। जैसे-जैसे इसमें दृढ़ता आती है, साधक एवं साध्य अथवा लक्ष्य रूप परमेश्वर के बीच का व्यवधान क्रमशः क्षीणतर होता चला जाता है। इसके फलस्वरूप उसके हृदय रूपी दर्पण के मल भी दूर होते चले जाते हैं जिनके कारण, वह अपने प्रियतम के अलौकिक 'नूर' को भली भाँति प्रतिबिंबित नहीं कर पाता था। हृदय के वे मल वा विकार सांसारिक बन्धनों के कारण उत्पन्न आसक्तियों के रूप में रहा करते हैं और वे उस पर मोरचे की भाँति चिपक कर उसे सर्वथा मलिन बना दिया करते हैं। परंतु जब उक्त अन्तस्साधना के कारण साधक की अन्तर्वृत्ति केवल एक ही ओर केन्द्रित हो जाती है, सारी आसक्तियों वाले बन्धन आप-से-आप एकत्र होकर उस ओर ही लग जाते हैं जिसका प्रतिबिंब ग्रहण करना रहता है और इस प्रकार उसका सम्पूर्ण हृदय-पटल आलोकित हो उठता है। 'तिलावत', 'समा', 'ज़िक्र', 'फ़िक्र' अथवा अन्य भी ऐसी विविध साधनाएँ सूफ़ियों की उस प्रेमसाधना में केवल सहयोग प्रदान करती हैं—जो स्वभावतः प्रियतम की एक झलक पाने पर ही आरंभ हो जाती है तथा जिसका रहस्य जानकर हमें उनकी भक्ति के स्वरूप का भी पूरा बोध हो सकता है। प्रेमसाधना ही उनकी प्रमुख एवं वास्तविक साधना है और अन्य जितनी भी साधनाएँ उसका अंग बनी जान पड़ती हैं, वे उसकी मानो प्रारंभिक दशा में काम आती हैं या उसे न्यूनाधिक पुष्टि प्रदान करती हैं। वैसे सूफ़ियों का यह प्रेम-साधना कोई साधारण भी नहीं है, क्योंकि इसमें किसी प्रक्रिया का प्रयोग नहीं किया जाता। यह सारे जीवन में ही सहज रूप से चला करती है।

सूफ़ी साधक का प्रेमपात्र इष्टदेव के प्रति एक प्रेमी की श्रेणी का हुआ करता है और यह उसे किसी प्रेयसी के रूप में देखा करता है। यह उसके लिए एक विरही-जैसा व्याकुल रहता है। उसकी प्राप्ति के लिए आर्त्तवत् व्यवहार करता है और उस उद्देश्य से कठोर-से-कठोर यत्न करने के लिए भी सदा प्रस्तुत रहा करता है। सूफ़ी कवियों ने इस प्रकार

को प्रेमसाधना को प्रायः प्रेमाख्यानों के आधार पर उदाहृत किया है और उनके नायकों एवं नायिकाओं के अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किये हैं। उन्होंने लौकिक प्रेमगाथाओं के माध्यम से दिखलाया है कि किस प्रकार ऐसा प्रेमी किसी अनुपम सौन्दर्यवाली नारी को अपनी आँखों देखकर अथवा केवल उसके गुणश्रवण, चित्रदर्शन वा स्वप्न-दर्शन के ही माध्यम से उसकी ओर आकृष्ट होता है तथा उसके प्रति विरहातुर बनकर उसकी उपलब्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करने लग जाता है। उसके आगे किसी बड़े-से-बड़े त्याग को भी वह बराबर तृणवत् समझा करता है और अंत में किसी प्रकार उसे अपना कर ही संतोष की साँस लेता है। इस प्रेमकहानी के ही प्रसंग में प्रेमपात्रियों का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाता है तथा बीच-बीच में अनेक ऐसे व्यापक सिद्धान्तों का वर्णन भी कर दिया जाता है जिनसे यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसकी नायिका किसका प्रतिनिधित्व कर रही है। इसका नायक कोई साधारण प्रेमी न होकर किसी मार्ग-विशेष का पथिक है है तथा इसकी घटनाओं के क्रम तक में किसी आध्यात्मिक साधना का रूपक उपस्थित किया गया है। कहते हैं कि ऐसे प्रेमाख्यानों के ही माध्यम से सूफ़ी कवियों ने प्रेमतत्व के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है तथा इनके द्वारा अपने मत का प्रचार भी किया है।

रागानुगा भक्ति के लिए कहा जाता है कि उसके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं श्रृंगार (अथवा माधुर्य) नाम के पाँच भेद होते हैं। इनके सम्बंध में विशेषज्ञों का यह भी कहना है कि भक्तिभाव में जैसे-जैसे प्रगाढ़ता आती जाती है, उसी क्रम से शान्त दास्य में, दास्य सख्य में, सख्य वात्सल्य में तथा वात्सल्य श्रृंगार में परिणत होता चला जाता है और इस प्रकार श्रृंगार वा माधुर्य का भाव ही भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप समझा जा सकता है। इस भाव के साथ उपासना करने वाला अपने को किसी प्रेमिका के रूप में स्वीकार कर लेता है और अपने इष्टदेव भगवान को अपने प्रियतम का स्थान प्रदान करता है।

तदनुसार यह उसकी अनुपस्थिति का अनुभव होने पर या तो किसी प्रोषितपतिका धर्मपत्नी की भाँति उसके विरह में बेचैन बना रहता है अथवा किसी परकीया प्रेमिका के ही रूप में उसके लिए नित्यशः झूरा करता है। यह उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, उसके दुख में दुखी और उसके सुख में सुखी जैसा भाव हृदयंगम करता रहता है। इस बात के लिए सदा सचेष्ट रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि एक बार उसका मिलन हो जाने पर कभी एक क्षण के लिए भी उसका वियोग हो सके। अपने प्रियतम की स्मृति में सदा विभोर रहना, उसकी की प्रतिच्छवि को सर्वत्र देखते रहने की चेष्टा करना तथा केवल उसी की अनन्य उपासना में प्रतिपल निरत रहना आदि उसकी कतिपय प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस मधुर उपासना को प्रायः 'गोपीभाव' की भी संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इसे अपनाने वाले भक्तों के उदाहरण में हमें व्रज की गोपियों से बढ़कर कोई अन्य उपासिकाएँ नहीं मिलतीं। गोपिकाएँ परमात्मा के श्रीकृष्ण रूप की प्रेमिकाएँ थीं, जिस प्रकार इधर के भक्तों में उसके विग्रह श्री रंगनाथ की उपासिका गोदा (आंडाल) हुई तथा गिरधर लाल की वैसी ही प्रेमिका मीराँ कहलायीं।

यदि सूफ़ीमत के ऐसे साधकों में से भी केवल स्त्री-भक्तों की ही चर्चा की जाय तो उस दशा में हमें बसरा की प्रसिद्ध राबिया से बढ़कर कोई दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण नहीं मिल सकता। राबिया किसी निर्धन माता-पिता की पुत्री थी जिसे बचपन में किसी ने केवल छह सिक्कों में ही दासी रूप में बेच दिया था। वह परमेश्वर के प्रति एकान्तनिष्ठा का भाव रखती थी और यद्यपि, स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में, यह कहना कठिन है कि उसकी उपासना का रूप ठीक दाम्पत्य-भाव का ही रहा होगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके ईश्वरीय प्रेम की प्रगाढ़ता बहुत अधिक मात्रा तक पहुँच चुकी थी और उसे गोपीभाव की भी श्रेणी में स्थान देना कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता। किसी समय सूफ़ी अबू हसन द्वारा पूछे जाने पर कि "क्या तुम्हें अपना विवाह

करने की इच्छा है?" उसने उत्तर दिया था—"क्या शरीर-सम्बंधी विवाह ? 'मेरा' शरीर ही कहाँ रह गया है ? मैंने तो उसे परमेश्वर के प्रति पूर्णतः उत्सर्ग कर दिया है। अब तो वह उसी के अधीन है और एक मात्र उसी के कार्यों में सदा व्यस्त भी रहा करता है।" इसी प्रकार कहते हैं कि एक बार स्वप्न में, स्वयं हज़रत मुहम्मद द्वारा भी पूछे जाने पर कि "क्या वह उनके प्रति किसी प्रकार का प्रेमभाव रखती थी," उसने उन्हें स्पष्ट उत्तर दिया था, 'हे अल्लाह के रसूल', ऐसा कौन होगा जो आपसे प्रेम न करता हो ? किंतु परमात्मा के प्रेम ने मुझपर इस प्रकार का अधिकार कर लिया है कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य से प्रेम वा घृणा तक करने के लिए मेरे हृदय में स्थान नहीं है।" "राबिया की प्रेमा-भक्ति में पूरी अनन्यता का भाव था और वह पूर्ण आत्म-समर्पण भी कर चुकी थी जिस कारण, उसे रागात्मिका का नाम देना कभी अनुचित नहीं कहा जा सकता। सूफ़ीमत के ऐसे पुरुष-भक्तों की यदि चर्चा की जाय तो हम करखी, बायज़ीद, मंसूर आदि साधकों के नाम इस प्रसंग में निस्संकोच भाव से ले सकते हैं।

परंतु इन पुरुष-भक्तों ने अपने इष्टदेव को किसी प्रियतमा के रूप में देखने का प्रयास किया है—प्रियतम के रूप में नहीं, जैसा भारतीय परंपरा के अनुसार दीख पड़ता है। ये उसे किसी अलौकिक 'हिज़ाब' वा पर्दे के कारण आवृत मान कर साधना करते हैं और उसके केवल एक साधारण से संकेत वा झलक मात्र से भी वल ग्रहण करते हैं। इसी कारण इनकी भक्ति का प्रधानतः 'रूपासक्ति' पर आश्रित रहना कहा जाता है। उसमें आरंभ से ही विरह की एक मीठी-सी पीर भी निहित रहती है, जो इन्हें सदा उद्विग्न बनाये रहती है। हिंदी के सूफ़ी कवि उसमान ने तो रूप, प्रेम एवं विरह—इन तीनों को 'मूल—सृष्टि' के स्तंभवत् माना है और उन्होंने अपनी प्रेमगाथा 'चित्रावली' में इस प्रकार कहा है—

आदि प्रेम विधि ने उपराजा, प्रेमहि लाग जगत सब साजा ।

प्रेम किरन ससि रूप जेउं, पानि प्रेम जिम हेम ।
एहि विधि जहं जहं जानियहु, जहां रूप तहां प्रेम ॥

रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा, दूनहु मिलि बिरहा उपजावा ।

रूप प्रेम बिरहा जगत, मूल श्रिष्ट के स्थंभ ।
हौं तीनहु के भेद कहुं, कथा करौं आरंभ ॥

प्रेम के साथ ही विरह की भी अनुभूति क्यों होती है इसका कारण, सूफ़ी कवि जायसी ने जीवात्मा एवं परमात्मा की प्रारंभिक 'बिछुड़न' बतलाया है, किंतु यह वियोग ही क्यों अस्तित्व में आया तथा क्यों न उन दोनों का साहचर्य अनन्त काल तक बना रह गया, इसका समाधान वे भी नहीं कर पाते और फलतः उनके हृदय में अनेक भाव निरन्तर उठा करते हैं ; जैसे—

हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा ।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ कछु ॥

अतएव सूफ़ी साधकों की भक्ति का स्वरूप रागानुगा अथवा प्रेमा-भक्ति जैसा है जिसके प्रेमभाव को भी विरहमूलक समझा जा सकता है । इस विरह के कारण वे अपनी साधना में अधिकतर अपने प्रेम-पात्र की सुध मात्र में ही लीन रहा करते हैं और उसे कोई स्पष्ट आकार प्रदान न कर सकने के कारण उन्मादन की दशा तक पहुँच जाते हैं । परंतु, वास्तव में उनका यह उन्मादन ही उन्हें उस आत्म-विस्मृति की भी अवस्था तक पहुँचा देता है, जहाँ वे अंत में फिर एक बार 'वस्ल' वा 'परम' के साथ पुनर्मिलन का भी अनुभव कर पाते हैं ।

सूफ़ी कवियों का रहस्यवाद

उपक्रम

प्रत्येक सूफ़ी के विषय में यह अनुमान कर लेना स्वाभाविक है कि वह अपने मत का अनुयायी होने के नाते उन सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास करता होगा और उन साधनाओं में यथासंभव और यथाशक्ति अभ्यस्त भी होगा। कारण यह है कि कम से कम सूफ़ी-प्रेमगाथा के कवियों का यह चरम लक्ष्य रहा है कि मैं अपने मत के सार-स्वरूप प्रेमतत्व का कथारूपक द्वारा प्रतिपादन करूँ और इस बात को वे कभी-कभी अपनी रचनाओं के अंत में स्पष्ट कर भी दिया करते हैं। अपनी रचना के अन्तर्गत वे न तो किसी कोरे दार्शनिक की भाँति तर्क-वितर्क ही करते हैं, न किसी धार्मिक साधक की भाँति अपनी साधना का कोई क्रम ही ठहराते हैं। वे अपने कथारूपक की रचना में प्रवृत्त होकर उसकी विविध घटनावलियों को विकसित करते हैं और उसके भिन्न-भिन्न पात्रों की सहायता से कहानी का पर्यवसान कर उसके गूढ़ रहस्य का उद्घाटन कर देते हैं। सूफ़ी कवियों के इस कार्यक्रम द्वारा यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती कि उनका निजी अनुभव क्या है और वे किस आध्यामिक स्तर पर बैठ कर अपने संदेश दे रहे है। उनकी रचना किसी पूर्वपरिचित कार्य-क्रम के अनुसार किसी रेखाचित्र में केवल रंगमात्र भर देती है और इस में प्रदर्शित उनका कला-नैपुण्य ही उन्हें अन्य कवियों की श्रेणी में स्थान दिलाता है। अतएव, इन सूफ़ी कवियों के रहस्यवाद का पता लगाना या तो इनकी रचनाओं में बिखरे हुए कतिपय विचारों के आधार पर संभव है अथवा उसकी रूपरेखा हम साधारण सूफ़ियों की विचारधारा को ध्यान में रख कर ही प्रस्तुत कर सकते हैं। उन सूफ़ी

कवियों के रहस्यवाद का परिचय पाना कहीं अधिक सरल है जिन्होंने फुटकल पद्यों की रचना की है और उनमें अपने निजी अनुभव प्रकट किये हैं।

रहस्यवाद का स्वरूप

रहस्यवाद के वास्तविक स्वरूप का पता किसी कवि की उन पंक्तियों द्वारा ही लग सकता है जिनमें उसने परमात्मा की निजी अनुभूति वा तज्जन्य आनन्दादि को व्यक्त किया है। परमात्मा की अनुभूति एक रहस्यमयी वस्तु की अनुभूति है जिसका वर्णन भी स्वभावतः अस्पष्ट और अधूरा हुआ करता है। अनुभूति की गहराई कवि को अपने विषय के साथ पूर्णतः तन्मय किये रहती है और वह लाख यत्न करने पर भी उसका यथावत् वर्णन नहीं कर पाता। इस अनुभूति एवं इसकी अभिव्यक्ति का इसी कारण, सुस्वादु मधुर वस्तु को खाकर आनन्दित हो उठने वाले तथा अपने उस अनुभव को दूसरे के प्रति प्रकट करने की चेष्टा करने वाले किसी गूँगे की अनुभूति और अभिव्यक्ति के सदृश होना कहा जाता है। यह एक साधारण अनुभव की भी बात है कि मनुष्य को जब किसी वस्तु का बहुत निकट से परिचय मिलता है और वह उसके पूरे संपर्क में आ जाता है तो उसकी रागात्मक वृत्तियाँ उसे उस वस्तु के साथ क्रमशः अधिकाधिक सम्बद्ध करती चली जाती हैं और वह इस प्रकार अपने को उसमें खोता हुआ-सा चला जाता है तथा अंत में, वह उसके साथ अपने को अभिन्नवत् समझने लगता है। इस दशा में उसे उस वस्तु का केवल परिचय वा बाहरी ज्ञानमात्र ही नहीं रह जाता वह उसके साथ अपने को तदाकार सा बन गया हुआ अनुभव करता है जिस कारण, वह उसका ठीक-ठीक पता नहीं दे पाता। अनुभूति के सारे साधनों जैसे रूप, रस, गंधादि का अनुभव करनेवाली इन्द्रियों का यह स्वभाव है कि अनुभूति की अधिकता वा गहराई के समय वे मानों

सिमट कर किसी केन्द्रिय साधन में मग्न हो जाती है जहाँ कि अभिव्यक्ति का स्पष्ट होना संभव नहीं। भाषा केवल वहीं तक काम करती है, जहाँ तक इन इन्द्रियों की साधारण पहुँच रहा करती है। गहराई की अनुभूति की अभिव्यक्ति के समय इनकी शक्ति कुंठित-सी हो जाती है और तब केवल इंगितों द्वारा काम लिया जाने लगता है।

वही

परमात्मतत्व का वर्णन करने वालों ने सदा उसे इन्द्रियातीत, अगोचर और अज्ञेय तक बतलाया है और कहा है कि वह केवल निजी अनुभव की ही वस्तु है तथा अनिर्वचनीय है। यहाँ पर इन्द्रियातीत जैसे उपर्युक्त शब्दों का अभिप्राय केवल यही है कि हमारी इन्द्रियों की साधारण शक्ति इस विषय में काम नहीं करती और न उसका वाह्य ज्ञान होता है। सूफ़ी दार्शनिकों ने उसे 'एक' और अकेला माना है और उनमें से कई ने उसे एवं जगत् को अभिन्न ठहराया है। जीव को वे इसी कारण परमात्मा का अंश कहा करते हैं और यह भी बतलाते है कि इसे साधारणतः अपने मूल से पृथक् रहने का भान हुआ करता है। उससे पृथक् की दशा में अपने को समझने के ही कारण यह उसे भूला रहता है और मनमानी भी किया करता है। जब कभी इसे इस बात का पता चल जाता है कि मैं उसका सजातीय हूँ अथवा उसका अंश हूँ तो यह उसे भलीभाँति जानना चाहता है और जब यह उसे जानने का यत्न करते-करते उसका अनुभव अति निकट से करने लगता है तो यह अपने को उसमें खो-सा देता है और तब इसकी दशा लगभग उसी ढंग की हो जाया करती है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर तो यह अपने को, अपने घर पहुँचकर, अपने आत्मीय से मिल गया हुआ समझने लगता है और आनन्द-विभोर हो जाता है। आनन्दातिरेक के कारण यह अपनी दशा को दूसरे के प्रति भलीभाँति प्रकट नहीं कर पाता।

और अनेक यत्न करता रहता है। गूँगा जिस प्रकार अपनी माधुर्यानुभूति की अभिव्यक्ति विविध इंगितों वा इशारों द्वारा करता है और मुस्कराता रहा करता है, उसी प्रकार परमात्मतत्व की अनुभूति कर लेने वाला व्यक्ति अधिकतर प्रतीकों (Symbols) द्वारा किया करता है और कथारूपकों का भी सहारा लेता है। कथारूपकों (Allegories) का सहारा लेने में एक लाभ यह हुआ करता है कि वह अपनी अनुभूति की कथा को दूसरे के प्रति आद्यन्त कह सुना देता है और उसकी रोचकता द्वारा दूसरे को उसकी ओर आकृष्ट भी कर लेता है।

सूफ़ी कवि की विशेषता

सूफ़ी-प्रेमगाथा के कवियों ने अपने आध्यात्मिक अनुभव के व्यक्तीकरण के लिए कथारूपकों को ही चुना है और उनके द्वारा उन्होंने अपनी अनुभूति का वर्णन विवरणों के साथ किया है। उनका संक्षेप में कहना है कि अपनी मूल वस्तु परमात्मा के प्रति हमारा आकर्षण उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक प्रेमी का प्रेम किसी प्रेमपात्र के प्रति हुआ करता है और लगभग उसी प्रकार वह आरंभ भी होता। जिस प्रकार स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन वा गुण-कथन द्वारा कोई व्यक्ति किसी के प्रति आकृष्ट होता है और उसके विषय में अधिक जान-सुन लेने पर, उसके अभाव में, उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक एवं अधीर हो जाता है, उसी प्रकार एक साधक भी अपने सद्गुरु वा पीर के द्वारा परमात्मा की एक झाँकी प्राप्त कर उसके विषय में चिन्तन करता हुआ उसकी उपलब्धि के लिए विरहाकुल हो उठता है। फिर जिस प्रकार उक्त प्रेमी अपने प्रेमपात्र से मिलने के लिए विविध यत्न करने लगता है और अपने बंधु-बांधवों तक के संग का परित्याग कर उस धुन में अपने प्राणों की बाजी लगा देता है, उसी प्रकार परमात्मा वा प्रेमी साधक भी उसके लिए कठिन से कठिन साधनाओं में प्रवृत्त हो जाता है और पूर्ण वैराग्य धारण कर उस ओर प्राणपण से लग जाता है तथा वह तब तक विश्राम नहीं लेता जब तक अपने लक्ष्य तक

उसकी पहुँच नहीं हो जाती। अंत में, जिस प्रकार एक प्रेमी अपने प्रेम-पात्र को पाकर हर्षित और प्रफुल्लित हो जाता है, उसी प्रकार उक्त साधक भी परमात्मा की उपलब्धि का अनुभव कर आनन्द के मारे फूला नहीं समाता और अपनी दशा को दूसरे के प्रति कहने के भी यत्न करने लगता है। सूफ़ी कवि अपनी परमात्मानुभूति का परिचय इस प्रकार सीधे-सादे कथन मात्र के द्वारा न देकर उसे किसी न किसी प्रेमकहानी के सहारे देने का यत्न किया करते हैं और यही उनकी विशेषता है।

विरहानुभूति

इन सूफ़ी कवियों के अनुसार साधक पहले पहल केवल परमात्मा-सम्बंधी किसी संकेत मात्र से ही अवगत होता है। उसे अपने सौन्दर्य की एक झलक-मात्र ही मिलती है, किंतु उसकी मनोहरता उसे बरबस आकृष्ट कर लेती है और वह उस अनुपम वस्तु का परिचय पाने के लिए उत्सुक होकर उसके जानकारों की शरण में जा पड़ता है। अपनी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए वह बार-बार प्रश्न करता हैं, सत्संग करता है, और एकान्त-चिन्तन के द्वारा उसके स्वरूप की रूपरेखा तैयार किया करता है। वह ज्यों-ज्यों उसके विषय में सोच-विचार करता है, त्यों-त्यों उस पर मुग्ध होता जाता है और इस बात पर पूरी आस्था रखता हुआ कि मैं मूलतः उसी का हूँ और उससे विलग हो पड़ा हूँ उसके साथ पुनर्मिलन के लिए वह आतुर हो जाता है। यही उसकी विरहावस्था कि स्थिति है जिसका वर्णन इन कवियों ने प्रेमियों की विरह-कातरता के रूप में किया है। सूफ़ियों ने यहाँ इस प्रारंभिक विरह को बहुत बड़ा महत्व दिया है। वास्तव में, प्रेम उनके अनुसार पहले विरह के रूप में ही उत्पन्न होता है और यह जाग्रत होते ही होते प्रेमी को सताना आरंभ कर देता है। जायसी ने रतनसेन के विषय में लिखा है कि यह सुआ द्वारा पद्मावती का रूप वर्णन सुनता ही सुनता मूर्च्छित हो गया और 'प्रेम-समुद्र' के 'विरह-भौंर' में पड़कर गोते खाने लगा। जायसी

के अनुसार 'जिस प्रकार मोम के घर अर्थात् मधुकोश में अमृत सदृश मधु-संचित रहा करता है, उसी प्रकार प्रेम के भीतर विरह निवास करता है ; जैसे—

पेमहि मांह विरह रस रसा। मैन के घर मधु अमृत बसा।

—जा० ग्रं०, पृ० ७६

अतएव विरह ही, वस्तुतः वह मूल पदार्थ है जिसमें अमरतत्व का गुण वर्त्तमान है और जिसके लिए प्रेम का आविर्भाव हुआ करता है अर्थात् प्रेम का यदि अस्तित्व है तो वह विरह के ही कारण है, क्योंकि वही प्रेम का सार है।[1] इस कथन की सार्थकता इस बात के द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि सूफ़ियों के वर्णनों में आया हुआ यह प्रेम ईश्वरोन्मुख प्रेम का प्रतीक है जो सारे ब्रह्मांड के मूलाधार जगन्नियन्ता के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण 'धरम प्रीति' बनकर सबके हृदयों में एक समान उत्पन्न हो सकता है और जिसमें सूफ़ी संप्रदाय वालों के अनुसार परमात्मा से बिछुड़ी हुई जीवात्मा की विरह-व्यथा का आरंभ होना अनिवार्य-सा है। जायसी ने इसे राजा रतनसेन और पद्मावती के सम्बंध में इस संकेत के द्वारा बतला दिया है कि उन दोनों का सम्बंध पूर्व निश्चित था। राजा रतनसेन के बचपन में ही उसकी सामुद्रिक रेखाओं को देखकर पंडित कह देता है—

रतनसेन यह कुल निरमरा। रतन जोति मनि माथे परा।
पदुम पदारथ लिखी सो जोरी। चाँद सुरुज जस होइ अँजोरी।

—जा० ग्रं०, पृ० ३२

और फिर उसी प्रकार उधर पद्मावती की सखी भी स्वप्न-विचार कर कह देती है—

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : जायसी और प्रेमतत्व, मध्यकालीन प्रेम-साधना, पृ० १३६-६६ द्वितीय संस्करण, १९५७ ई०।

पच्छिउं खंड कर राजा कोई। सो आवा वर तुम्ह कहं होई ।।.....

....

चांद सुरुज सौं होइ बियाहू। वारि विधंसब बेधब राहू।।
जस ऊषा कहं अनिरुध मिला। मेटि न जाइ लिखा पुरबिला।।

—जा० ग्रं०, पृ० ६२

जायसी ने परमात्मा से बिछड़े हुए मानव की ओर से अपनी 'अखरावट' में भी कहा है—

हुता जो एकहि संग, हौ तुम काहे वीछुरा ?
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ कछु ।।

—जा० ग्रं०, पृ० ३३६

अर्थात् सदा एक ही साथ रहने वालों में यह वियोग किस प्रकार घटित हो गया जिसके कारण, आज हृदय में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव जागृत हो रहे हैं और अपनी विचित्र दशा का वर्णन करते नहीं बनता। सूफ़ी प्रेम-गाथा के सभी कवियों ने इसी कारण, प्रेमियों को कहानी के प्रायः आरंभ में ही, विरह-यातना द्वारा अभिभूत सा कर दिया है।

विघ्न-बाधाएँ

सूफ़ी कवियों ने इसके अनन्तर उन यत्नों का विस्तृत वर्णन किया है जो प्रेमियों की ओर से अपने प्रेमपात्र के साथ मिलने के लिए निरन्तर अथक परिश्रमपूर्वक किये जाते हैं। इन यत्नों का आरंभ करने के पहले प्रेमी अपने धन-वैभव और कुटुंब परिवारादि की ओर से विरक्त हो जाता है और बहुधा 'जोगी' बनकर निकला करता है। मार्ग में उसे अनेक प्रकार के विघ्नों और बाधाओं का सामना करना पड़ता है। बीहड़ वन, विस्तृत समुद्र, हिंसक प्राणिवर्ग, राक्षस आदि से लेकर दैवी घटनाओं के प्रकोप तक उसे अपने पथ से विपथ करना चाहते हैं। कभी-कभी वह

पानी में बहा दिया जाता है, हवा में उड़ा दिया जाता है और अपने सहायकों-साथियों से वियुक्त करा दिया जाता है, किंतु अपने प्रिय के साथ मिलने की दृढ़ आस्था उसे अधीर नहीं होने देती और वह अवसर पाते ही फिर अग्रसर होने लगता है। अपने मार्ग में उसे कई प्रकार के प्रलोभन भी आ घेरते हैं और उसे जाने देना नहीं चाहते, किंतु वह उनकी ओर मुड़कर भी नहीं देखता। अंत में वहीं पहुँचकर कुछ विश्राम लेता है, जहाँ उसे अपने प्रेमपात्र का सान्निध्य जान पड़ता है। सूफ़ी साधना के अनुसार उपर्युक्त विघ्न-बाधाएँ किसी साधक वा 'सालिक' के सामने दैनिक जीवन के विविध संकटों के रूप में आया करती हैं और उक्त प्रलोभन उसे ऐश्वर्यादि की उपलब्धि के रूप में बीच में ही रोक रखना चाहते हैं। परंतु वह किसी प्रकार भी अपनी धुन से विरत होना नहीं जानता और जब तक उसे परमात्मा के शुभ्र आलोक की उपलब्धि नहीं हो जाती, तब तक वह अपनी साधना में अनवरत लगा ही रह जाता है और क्रमशः बढ़ता चला जाता है।

मार्ग के विभिन्न पड़ाव

प्रेमगाथा के सूफ़ी कवियों ने प्रेमियों के उपर्युक्त मार्ग को विकट और विलक्षण बतलाते समय कभी-कभी उसके बीच में पाये जाने वाले विविध नगरों और प्रदेशों का भी वर्णन किया है। ये स्थल अधिकतर वे ही हैं जो 'सालिक़' अर्थात् उस साधक वा यात्री की प्रगति की विभिन्न दशाओं को सूचित करते हैं और जिनकी संख्या के विषय में कुछ मतभेद है। सूफ़ी धर्माचार्यों ने कभी-कभी उनका नाम 'मुक़ामात' (Stages) करके भी दिया है जिन्हें वे संख्या में सात बतलाते हैं और क्रमशः अबूदिया, इश्क़, ज़ुहद, म्वारिफ़, वज्द, हक़ीक़ और वस्ल कहा करते हैं। प्रथम दशा वह है जब साधक के हृदय में प्रेम का भाव जाग्रत हो जाता है, किंतु वह आंशिक रूप में ही रहा करता है और फिर

वही दूसरी दशा में विरह का रूप धारण कर लेता है। तीसरी दशा वह है जब साधक अपनी चित्तवृत्ति के साथ ज़हाद वा धर्मयुद्ध करता है और 'ज़हद' की स्थिति में रहता है। फिर वह आगे की दशा 'म्वारिफ़' में आता है जब उसके भीतर ज्ञान का उदय होता है और उसके अनन्तर वह 'वज्द' अर्थात् तन्मयता की दशा को प्राप्त हो जाता है और तब फिर उसे 'हक़ीक़' की भूमि पर सत्य के निकट ठहरने का अवसर मिलता है। यही वह अवस्था है जहाँ पर उसे तनिक ठहरने का अवसर मिलता है। यही वह अवस्था है जहाँ पर उसे तनिक विश्राम मिलता है और जहाँ से अंत में, वह 'वस्ल' अर्थात् मिलन की अंतिम दशा में निरत हो जाता है। परंतु ये सातों 'मुक़ामात' वस्तुतः साधक की मानसिक स्थितियाँ ही हैं, इनका कोई वाह्य स्थान नहीं है। जायसी ने मार्ग के (इसी प्रकार, "चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार" कह कर) पड़ावों की संख्या अन्य ढंग से बतलायी है। उसमान कवि ने अपनी 'चित्रावली' के अन्तर्गत 'परेवा' द्वारा चार प्रमुख पड़ावों के नाम क्रमशः 'भोगपुर', 'गोरखपुर', नेहनगर' एवं 'रूपनगर' कहलाये हैं और उनकी भिन्न-भिन्न दशाओं का परिचय भी दिया है। उदाहरण के लिए भोगपुर में काया को भोग-विलास की सामग्रियाँ मिलती हैं, गोरखपुर में उसी का निर्वाह हो पाता है जो गुरु गोरख की भाँति जोगी की दशा में रहा करता है, नेहनगर में जाकर निर्धन भी धनी की दशा में आ जाता है और उसे शान्ति मिलती जान पड़ती है और फिर आगे के अंतिम देश रूपनगर तक पहुँचकर उसे अपने प्रेमपात्र की उपलब्धि हो जाती है और वह कृतकार्य हो जाता है।

मिलन की दशा

सूफ़ी कवियों के अनुसार अंतिम दशा अपने प्रियतम वा प्रियतमा के साथ मिलन की होती है। साधक अपने अभीष्ट को पाकर आनन्द-विभोर

हो जाता है। प्रेमगाथाओं में इस अवस्था तक प्रेमी को पहुँचा कर बहुधा छोड़ दिया जाता है और कहानी समाप्त कर दी जाती है। कहीं-कहीं तो प्रेमी, अपनी लंबी यात्रा के अंत में, अपनी प्रियतमा को पाकर कुछ दिनों तक वहीं रम जाता है और फिर घर की सुध किया करता है। फिर वहाँ से लौटते समय वह पूर्वपरिचित मार्ग से ही वापस आता है और मार्ग में त्यक्त पत्नियों को भी ले लेता है। किसी-किसी कहानी में उसे अपने घर लौटते समय, फिर मार्ग में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और वह सर्वत्र विजयी होता हुआ अपने घर पहुँच कर अपने माता-पिता के चरण छूता है। इस प्रकार की कथा के अंत में एक समस्या यह खड़ी हो जाती है कि अपनी प्रियतमा की उपलब्धि के अनन्तर प्रेमी फिर अपने किस आत्मीय के पास आ सकता है। कथारूपक की दृष्टि से कहानी का अंत तो वहीं पर होना ठीक जान पड़ता है जहाँ पर प्रेमी को अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि उस स्थिति में आकर साधक अपनी मूल वस्तु को पा लेता है और चिरकाल के बिछुड़े हुए दो व्यक्तियों की भाँति, परमात्मा और जीवात्मा का स्थायी मिलन हो जाता है। इसके अनन्तर फिर किसी अन्य के साथ, चाहे कहानियों के अनुसार वे अपने माता-पिता ही क्यों न हों, दो बिछुड़े हुए प्राणियों के रूप में मिलना कहानी के मूल उद्देश्य पर से पाठकों का ध्यान खींच लेता है और उन्हें अपने सामने प्रस्तुत कहानी को केवल एक कहानी के रूप में ही मानने को बाध्य कर देता है।

समीक्षा

सूफ़ियों द्वारा प्रेमगाथा के अन्तर्गत प्रदर्शित किये गए, रहस्यवाद के इस प्रकार, केवल तीन मुख्य अंग हैं। इसका प्रथम अंग प्रारंभिक है जो साधक की विरहावस्था को सूचित करता है, दूसरा मध्यवर्ती है

जो उसके विविध यत्नों का परिचय देता है और तीसरा अंतिम है जो अभीष्ट सिद्धि का सूचक है। इसके किसी अन्य अंग के सम्बंध में प्रेमगाथाओं के सूफ़ी कवि मौन दीख पड़ते हैं। वे इस बात की ओर ध्यान देते हुए नहीं जान पड़ते कि उनका साधक वास्तव में, एक व्यक्तिमात्र है और उसकी उक्त सफलता केवल व्यक्तिगत ही कही जायगी। वह साधक वास्तव में, एक बृहत् मानव समाज का अंग है जिसके प्रति भी उसके कर्त्तव्य और अधिकार निश्चित से हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठ सकता है कि उसने अपनी इस सिद्धि के द्वारा समाज के लिए भी कुछ किया वा नहीं। सूफ़ी दार्शनिकों एवं धर्माचार्यों ने अपने सिद्धान्तों और विविध साधनाओं को बड़े ऊँचे स्तर पर सिद्ध करना चाहा है। उनके अनुसार उनका परम लक्ष्य स्वयं परमात्मा है जो 'एक' और 'एकमात्र' सत्य है। जो कुछ है सो वही है और वह सभी के भीतर एवं बाहर व्याप्त होकर प्रत्येक कण वा परमाणु तक को प्रकाशित किये हुए है। अतएव, इस प्रकार की वास्तविक स्थिति के होने पर किसी एक व्यक्ति का उस तत्व को उपलब्ध कर लेना कोई महत्व तब तक नहीं रख सकता जब तक नहीं रख सकता जब तक कि उस तत्व द्वारा पूर्णतः अनुस्यूत जगत् पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव दिखायी न दे। सारांश यह कि '.खुदा' के साथ 'वस्ल' की हालत में आ चुकाने पर जब 'सालिक़' एक सच्चे 'सूफ़ी' का रूप ग्रहण कर लेता है और वह '.खुदा' के 'वजूद' में अपने को 'फ़ना' कर उसके साथ 'वक़ा' के स्तर पर भी पहुँच जाता है। उस समय उससे यह स्वभावतः आशा की जा सकती है कि वह जगत् के लिए भी कल्याण प्रद सिद्ध होगा। परंतु सूफ़ियों की प्रेमगाथाओं में इसके लिए न तो कोई आदर्श रखा हुआ दीख पड़ता है, न इसके लिए किसी प्रकार के कार्यक्रम की योजना ही प्रस्तुत की गई मिलती है। फुटकल सूफ़ी काव्यों के रचयिताओं ने इस ओर यदाकदा संकेत किया है और उन्होंने एक सुन्दर आध्यात्मिक जीवन तथा उसके नैतिक स्तर पर लक्षित होने वाली कतिपय बातों की

झाँकी भी किसी न किसी रूप में दिखलायी है, किंतु वह अपूर्ण मात्र है। संत प्रेमगाथाओं के कवियों ने सूफ़ी प्रेमगाथाओं के कवियों से इस इस विषय, में कहीं अधिक सजगता दिखलायी है। फिर भी उनकी रचनाओं के निश्चित आदर्श ने उन्हें भी पूरी सफलता नहीं मिलने दी है।

सूफ़ीमत का स्वरूप

विषय प्रवेश

सूफ़ीमत इस्लामधर्म का ही एक अंग है। इसलिए अपनी पृष्ठ-भूमि के लिए इसे अन्ततः मुस्लिम धर्मग्रंथों का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और उन्हीं के वातावरण में उत्पन्न संस्कार इसे स्वभावतः, अनुप्राणित भी किया करते हैं। फिर भी, भिन्न-भिन्न देशों और उनके महापुरुषों का प्रभाव निरन्तर पड़ते रहने के कारण, इसमें कई वाह्य बातों का भी समावेश हो गया है और इसके मौलिक सिद्धान्तों एवं साधनाओं तक में बहुत कुछ मतभेद आ गया है। उदाहरण के लिए ईश्वर, जगत् अथवा मानव सम्बंधी दार्शनिक प्रश्नों पर सभी सूफ़ी एक प्रकार का मत प्रकट करते हुए नहीं जान पड़ते। यही बात कभी-कभी उनकी धार्मिक साधना सम्बंधी विचारधारा की विभिन्नता में भी दीख पड़ती है। सूफ़ीमत के कुछ संप्रदाय सनातनपंथी इस्लामधर्म से अधिक दूर जाना नहीं चाहते। वे ऐसा यत्न करते हैं कि हमारी बातें भरसक उसके धर्मग्रंथों द्वारा भी पुष्ट कर दी जायँ, किंतु इसके कुछ अन्य ऐसे भी वर्ग हैं जो इसके लिए अधिक चिन्तित नहीं रहा करते और स्वानुभूति एवं स्वतंत्र विचारों का प्रमाण देने में बहुत कम संकोच करते हैं तथा कभी-कभी 'दीने-इस्लाम' के मार्ग से अपने को बहकता हुआ पाकर भी खेद प्रकट नहीं करते। सूफ़ीमत की विचारधारा पर

इस्लामेतर धर्मों का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ गया है जो इसके तुलनात्मक अध्ययन से प्रकट होता है।

(क) सिद्धांत (१) ईश्वर तत्व

ईश्वर सम्बंधी मत

ईश्वर-तत्व के सम्बंध में मुस्लिम दार्शनिक विचार प्रधानतः तीन प्रकार के दीख पड़ते हैं और उनके अनुसार इनके तीन वर्ग भी बन गए हैं। सबसे पहला वर्ग 'इज़ादिया' लोगों का है जो ईश्वर का अस्तित्व जगत् से पृथक् मानते हैं और इस बात में विश्वास करते हैं कि उसने इस सृष्टि को 'कुछ नहीं' अथवा शून्य से उत्पन्न किया। इस मत को हम शुद्ध 'एकेश्वरवाद' कह सकते हैं। इसी प्रकार एक दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो 'शूदूदिया' कहलाते हैं और जिनका विश्वास इस जगत् से परे है, किंतु उसकी सभी बातें इसमें किसी दर्पण के भीतर प्रतिबिंब की भाँति दीख पड़ती हैं। इस वर्ग के सिद्धान्त को हम एक प्रकार के 'सर्वात्मवाद' की संज्ञा दे सकते हैं। तीसरा वर्ग उन लोगों का है जो 'वुजूदिया' कहलाते हैं और जिनका कहना हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त वास्तव में, अन्य कोई वस्तु नहीं है। वही एक मात्र सत्ता है और विश्व की अन्य जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें हम 'हम अस्त' (वही सब कुछ है) के अनुसार उसी का रूप समझ सकते हैं। इस वर्ग के लिए हम एकात्मवादी अथवा एकतत्ववादी का नाम प्रयोग में ला सकते हैं। इन तीनों में से प्रथम इस्लाम-धर्म की मूल विचारधारा के अनुकूल है और उसमें सभी प्रकार के मुस्लिम विश्वास रखते हैं। केवल दूसरे और तीसरे वादों का ही ठेठ सूफ़ीमत के साथ सम्बंध है और इन्हीं में से किसी न किसी को प्रकट करते समय उसके भीतर मतभेद का प्रश्न उत्पन्न हो जाता है।

ईश्वर और जगत्

ईश्वर जगल्लीन (Immanent) अर्थात् जगत् के भीतर ओत-प्रोत है अथवा वह जगद्बहिर्भूत (Transcendent) अर्थात् दृश्यमान जगत् से नितान्त परे है ? के विषय में सूफ़ियों के पाँच प्रकार के मत दीख पड़ते हैं। (क) उनमें से अधिकांश इस बात में आस्था रखते हैं कि ईश्वर जगत् से परे रहकर भी उसमें लीन है। उदाहरण के लिए 'गुलशने राज़' का सूफ़ी कवि कहता है "हमारे प्रियतम का सौन्दर्य अणु-परमाणु तक के अवगुण्ठन में लक्षित होता है।" फिर भी उसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो जगत् है वही ईश्वर है और जो ईश्वर है वही जगत् है अर्थात् उसे दार्शनिकों के सर्वात्मवाद (Pantheism) में विश्वास नहीं है, अपितु वह ईश्वराधिकत्ववाद (Pantheism) को स्वीकार करता है। उसके अनुसार ईश्वर जगत् में उसके अन्तरात्मा के रूप में परिव्याप्त है, किंतु उसके कारण वह किसी प्रकार सदोष वा सीमाबद्ध नहीं कहा जा सकता। (ख) सूफ़ियों में से इब्न अरबी ने सर्वात्मवाद वा विश्वात्मवाद का प्रचार किया और उनके अनुसार ईश्वर एवं जगत् समपरिमाणरूप है। (ग) ज़िली का इसी प्रकार कहना है कि जगत् की कोई भिन्न सत्ता नहीं, स्वयं ईश्वर ही जगत् रूप है, दोनों दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं। (घ) परंतु हुज्विरी के मत से ईश्वर एवं जगत् पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं और ईश्वर जगत् से बाहर है। यह मत एकदेववाद (Deism) का समर्थन करता है। (ङ) अंत में इन चारों से भिन्न उन सभी प्रमुख सूफ़ियों का मत जान पड़ता है जो ईश्वर को न तो जगत् में लीन समझते हैं, न उसे इससे बाहर ही मानते हैं। वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि वह एक ही साथ इसके भीतर एवं बाहर दोनों प्रकार से रहता है अथवा उसकी स्थिति इन दोनों अर्थात् बाहर और भीतर के अतिरिक्त किसी मध्यवर्ती ढंग की है। 'बाहर' और 'भीतर' शब्दों के प्रयोग केवल भौतिक

पदार्थों के लिए होते हैं, इनके द्वारा उसके स्वरूप का वर्णन असंभव है।

ईश्वर निर्गुण एवं सगुण

सूफ़ियों ने ईश्वर का गुणादि के अनुसार भी वर्णन करते समय, आपस में मतभेद प्रकट किया है। इब्न अरबी, हल्लाज़ एवं जामी प्रभृति सूफ़ियों का कहना है कि ईश्वर केवल शुद्ध-स्वरूप अथवा सत्ता-मात्र, निर्गुण एवं निर्विशेष है। यह उसका अनभिव्यक्त रूप है जो अपूर्व और अवर्णनीय है तथा जिसे निरपेक्ष (Absolute) भी कह सकते हैं। उस परमात्मा का, इनके अनुसार एक अन्य भी रूप है जो सगुण और सविशेष है तथा जिसे ही वास्तव में, हम 'ईश्वर' (God) भी कह सकते हैं। वह परमात्मा के परमतत्व रूप से इस दूसरे व्यक्त रूप में आकर ही ईश्वर नाम से अभिहित किया जाता है। परंतु हुज्विरी तथा कालाबाधी जैसे सूफ़ियों के अनुसार वह तत्व सर्वप्रथम दशा से ही सगुण रूप में विद्यमान है और उसके गुणों की संख्या अनन्त है। इन दोनों में से प्रथम, वेदान्त के शांकराद्वैतवाद की भाँति जान पड़ता है और दूसरा विशिष्टाद्वैत-सा प्रतीत होता है। फिर भी ऐसा कहना भ्रमात्मक है। शांकराद्वैत के अनुसार ब्रह्म को एक बार निर्गुण और फिर उसी को व्यक्त रूप में सगुण नहीं कहा जा सकता। उसका ब्रह्म सगुण रूप में परिणत न होकर वैसा केवल प्रतीयमान भर होता है। परमार्थतः वह निर्गुण, निरुपाधि एवं निर्विशेष है। उसका व्यवहारतः लक्षित होने वाला 'सगुण ब्रह्म' रूप उसका परिणाम न होकर केवल विवर्त एवं सामयिक प्रतीतिमात्र है। इसी प्रकार ईश्वर के गुण एवं कार्य के सम्बंध में सूफ़ियों तथा विशिष्टाद्वैतवादियों की विचारधाराओं में बहुत अन्तर दीख पड़ता है।

(२) सृष्टितत्व

सृष्टि का उद्देश्य

सूफ़ियों ने जगत् की सृष्टि के अंतिम उद्देश्य, उसकी प्रक्रिया, उसके स्वरूप आदि सभी आवश्यक बातों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। शामी परंपरानुसार कहा जाता है एक बार हज़रत दाऊद ने ईश्वर से प्रश्न किया था "हे प्रभो, आपने मानव जाति की सृष्टि क्यों की ?" जिसका उन्हें उत्तर मिला था "मैंने अपने गूढ़ रहस्य को व्यक्त करने की इच्छा से ऐसा किया।" वास्तव में हल्लाज़ आदि सूफ़ियों के उपर्युक्त ईश्वर सम्बंधी मत से इस बात की संगति दीख पड़ती है, क्योंकि उनके अनुसार भी निर्गुण एवं अव्यक्त ईश्वर ने अपने को व्यक्त एवं सगुण रूप में परिणत किया था जिसका कार्य विश्व रूप में हुआ। हल्लाज़ ने कहा है कि ईश्वर अपने स्वरूप का निरीक्षण कर अपने आप रीझ गया और उसके उस आत्म-प्रेम का ही सृष्टिरूप में आविर्भाव हुआ। मानव-रूपी दर्पण में अपनी प्रतिच्छवि देखकर उसे आत्मज्ञान के साथ-साथ तज्जनित आनन्द लाभ की इच्छा भी पूर्ण हो गई। ईश्वर की यह आनन्दाभिलाषा, संभवतः उस लीलाजनित आनन्द के द्वारा पूर्ण हुई जिसकी कल्पना का आभास हमें वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद में मिलता है। विश्व की सृष्टि इस प्रकार, ईश्वर के स्वतः स्फूर्त एवं अपरिमेय आनन्द का एक मूर्त विकासमात्र है। उसका उद्देश्य किसी साधारण अभाव की पूर्ति अथवा किसी वासना की पूर्ति के समान नहीं है अन्यथा ईश्वर में किसी कमी का भी आरोप हो जायगा।

सृष्टि की प्रक्रिया

सूफ़ियों के अनुसार उक्त प्रकार के उद्देश्य को स्वीकार कर लेने पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अव्यक्त ईश्वर ही स्वयं व्यक्त रूप में

परिणत हो गया और इस आधार पर सृष्टि-प्रक्रिया को परिणामवाद कहना उचित ठहरता है। किंतु ऐसी दशा में उनके 'शून्य से सृष्टि-रचना' वाले मत के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। अव्यक्त के अनन्तर उसके व्यक्त गुणों की सृष्टि और तदुपरान्त जगत् की सृष्टि के नियमानुसार, जहाँ पर जगत् के उपादान कारण ईश्वरीय गुण कहे जा सकते हैं, वहाँ पर परमेश्वर द्वारा शून्य से जगत् की सृष्टि वाले मत के अनुसार जगत् का उपादान कारण कोरा-'शून्य' सिद्ध हो जाता है। इन दोनों में से पहला मत हल्लाज़ जैसे विज्ञानवादियों का है और दूसरा हुज्विरी जैसे मूल इस्लाम धर्म के प्रेमी सूफ़ियों का है। फिर भी विश्वसृष्टि (Cosmology) के विषय में सभी सूफ़ी प्रायः एक मत के दीख पड़ते हैं। अधिकांश सूफ़ियों के अनुसार परमेश्वर ने सर्वप्रथम अपने नाम के आलोक से 'नूरुल-मुहम्मदिया' अर्थात् 'मुहम्मदीय आलोक' की सृष्टि की और वही आदि-भूत बन गया। फिर उसी 'नूर' सम्बंधी उपादान कारण से पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि नाम के चार तत्वों की सृष्टि हुई, फिर आकाश और तारे हुए और उसके अनन्तर सप्त भुवन, धातु, उद्भिज पदार्थ, जीव-जन्तु एवं मानव की रचना हुई जिनके द्वारा ब्रह्मांड बना तथा अनेक ब्रह्मांडों का विश्व प्रादुर्भूत हुआ।

मानव शरीर

सूफ़ियों के अनुसार 'मानव' सृष्टि का चरमोत्कर्ष है और वही ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति भी है। अतएव जो कुछ मानव शरीर में निर्मित है वह ईश्वर की आंशिक प्रतिच्छवि जगत् से भी अधिक है और वह उसका पूर्ण प्रतिरूप कहा जा सकता है। मानव शरीर में उपर्युक्त पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि के अतिरिक्त जड़, आत्मा, अर्थात् 'नफ़्स' का भी समाहार है और यह उसका जड़ अंश बनाते हैं। मानव शरीर का आध्यात्मिक अंश उसके हृदय (क़ल्ब), आत्मा (रूह), ज्ञान-शक्ति

(सिर्र), उपलब्धि-शक्ति (खफ़ी) तथा अनुभूति-शक्ति (आख्फा) का समाहार है और इनमें से क़ल्ब उसकी बाँयीं ओर, आत्मा दाहिनी ओर, सिर्र दोनों ओर के मध्य भाग में, खफ़ी ललाट देश में और आख्फा मस्तिष्क अथवा वक्ष-स्थल में अवस्थित है और विशेषतः इन्हीं के कारण उसके मानवत्व की सिद्धि होती है। इन उक्त पाँच जड़ एवं पाँच आध्यात्मिक उपादानों द्वारा निर्मित मानव पृथ्वीतल पर वर्त्तमान रहकर भी उसके पार्थिव तत्व पर अधिकार प्राप्त करके अपने आध्यात्मिक स्वरूप की उत्तरोत्तर उन्नति में प्रवृत्त होता है और उसी को अपना कर्त्तव्य समझता है। नफ्स अथवा जड़ आत्मा उसे कार्य में बाधा पहुँचाती है और उसे पाप की ओर ले जाने की चेष्टा करती है, किंतु रूह अथवा अजड़ आत्मा की ईश्वरीय शक्ति उसे क़ल्ब अथवा हृदय के स्वच्छ दर्पण में परमेश्वर को प्रतिबिंबित कर देती है और उसका अपने प्रियतम के साथ मिलन हो जाता है।

(३) मानवतत्व

पूर्ण मानव

अधिकांश सूफ़ियों के अनुसार मानव की पूर्णता उसके जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए। प्रसिद्ध सूफ़ी इब्न अरबी ने इस पूर्ण मानव (अल् इंसानुल कामिल) के प्रश्न को सबसे पहले महत्व दिया था। उन्होंने बतलाया था कि किस प्रकार पूर्ण मानव ही ईश्वर की एक मात्र पूर्ण अभिव्यक्ति है और जगत् की अन्य वस्तुएँ केवल उसके गुणों को ही व्यक्त करती हैं। सृष्टि का चरमोत्कर्ष जिस प्रकार मानव कहा जाता है, उसी प्रकार पूर्ण मानव उसका भी परमोत्कर्ष कहा जा सकता है। प्रत्येक मानव के भीतर परिपूर्णता बीज रूप में स्वभावतः निहित रहा करती है और इसी कारण उसमें सभी ईश्वरीय गुणों की संभावना है। पूर्ण

मानव के रूप में वह अन्य मानवों तथा ईश्वर के बीच मिलन-सेतु का काम करता है। ज़िली के अनुसार मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ पूर्ण मानव हैं और इसी कारण, मुहम्मदीय ज्ञान (अल् हक़ीकतुल मुहम्मदिया) का विशेष महत्व है। अतएव, सूफ़ियों का पूर्ण मानव अथवा सिद्ध पुरुष अद्वैत-वादियों के जीवन्मुक्त से नितान्त भिन्न हो जाता है। सूफ़ियों का पूर्ण मानव उक्त प्रकार से सृष्टि का आदि उपादान कारण है, जहाँ पर अद्वैत-वादियों का जीवन्मुक्त ऐसा कुछ भी नहीं। वह ईश्वर की अभिव्यक्ति नहीं स्वयं ब्रह्मस्वरूप है। उसके एवं परमेश्वर के बीच कोई सेवक-सेव्य सम्बंध नहीं, न कोई उपासक एवं उपास्य का ही भाव काम करता है। पूर्ण मानवत्व की उपलब्धि प्रेममूलक है, जहाँ पर जीवन्मुक्ति की स्थिति ज्ञानमूलक है और वह जगत् का धर्मगुरु न होकर ज्ञानगुरु हुआ करता है।

नबी और औलिया

सूफ़ियों ने अपने साधुओं को भी पूर्ण मानव के रूप में माना है और उन्हें 'वली' वा पीर की संज्ञा दी है। मूल इस्लाम धर्म के प्रेमी सूफ़ी साधारणतः धर्मप्रवर्तकों (नबियों, पैगंबरों) एवं साधुओं (पीर, औलिया) में कुछ विभेद पाते हैं। उनका कहना है कि द्वादश प्रसिद्ध धर्म प्रवर्तकों (अर्थात् नूह, इब्राहिम, इस्माइल, आइज़क, जेकब, जोब, ईसा, मूसा, सुलेमान, दाऊद, अर्न तथा मुहम्मद) ही सबसे अंतिम और सर्वश्रेष्ठ हैं और उसके अनन्तर इस कोटि का कोई नहीं समझा जा सकता। इसके सिवाय धर्मप्रवर्तकों अर्थात् नबियों का ईश्वर के साथ नित्य सम्बंध है जो अन्य प्रकार के पूर्ण मानव को उपलब्ध नहीं। किंतु विज्ञानवादी सूफ़ी इस बात में आस्था नहीं रखते और कहते हैं कि पूर्ण मानव होने पर मुहम्मद के अनन्तर भी वह स्थिति मिल सकती है। रूमी का स्पष्ट शब्दों में कहना है कि प्रत्येक मानव ईश्वर के संपर्क में आकर उसका साक्षात् कर सकता है। नबी की सहायता अपेक्षित

नहीं है और न किसी मध्यस्थ के बल पर आशा करके उसे आध्यात्मिक साधना में प्रवृत्त होना चाहिए। हाँ, पीर अथवा सद्गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए उससे संकेत लेना तथा आध्यात्मिक जीवन के लिए उसका आदर्श ग्रहण करना आवश्यक माना जा सकता है। पूर्ण मानव को कतिपय सूफ़ियों ने अवतार रूप में भी स्वीकार करने की भावना प्रदर्शित की है, किंतु इसमें अधिकांश सहमत नहीं हैं।

फ़ना और बक़ा

सूफ़ियों ने मानव जीवन के उद्देश्य को दो प्रकार से समझा है जिनमें से एक अभावबोधक और दूसरा भावबोधक है। अभाव सत्ता का नाम उन्होंने 'फ़ना' अर्थात् विलय वा ध्वंस दिया है और भावबोधक को 'बक़ा' के नाम से अभिहित किया है। किंतु इत दोनों शब्दों के अर्थ के सम्बंध में सभी सूफ़ी एकमत नहीं जान पड़ते। (१) कालाबाधी एवं हुज्विरी जैसे सनातनपंथ-प्रेमी सूफ़ियों का कहना है कि 'फ़ना' शब्द का अर्थ जीव की अहंता का ध्वंस होना तथा 'बक़ा' शब्द का अर्थ उसका ईश्वरीय स्वरूप में संस्थिति उपलब्ध कर लेना नहीं है, अपितु पहले से तात्पर्य केवल इतना ही है कि जीव की जगत् के प्रति बनी हुई आसक्ति का लोप हो जाय और वह ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग तथा उसकी अधीनता में अवस्थित हो जाय, ईश्वर एवं जीव दोनों पूर्णतः पृथक्-पृथक् और नितान्त भिन्न हैं जिस कारण मानव की सत्ता का ईश्वरीय सत्ता में विलीन होना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। (२) परंतु जो सूफ़ी सर्वात्मवाद में विश्वास रखते हैं वे इस प्रश्न को नितान्त भिन्न रूप से देखते हैं। ज़िली के अनुसार ईश्वर एवं जगत् का सम्बंध क्रमशः जल एवं बर्फ की भाँति केवल एक ही वस्तु के दो रूप होने के समान है। दोनों मूलतः अभिन्न हैं। इस कारण 'फ़ना' का अर्थ मानव का ईश्वर में वस्तुतः विलीन होना ही समझा जा सकता है और

उसी प्रकार 'वक़ा' से भी अभिप्राय उसके उसमें अवस्थान का ही हो सकता है।

वही

'गुलशने-राज' के रचयिता सविस्तारी का मत भी इस विषय में प्राय: वही जान पड़ता है जो ज़िली का उपर्युक्त मत है। (३) किंतु इनके जगत् सम्बंधी दृष्टिकोण के कारण दोनों में कुछ अन्तर भी आ जाता है। सविस्तारी के अनुसार ईश्वर एवं जगत् दोनों वस्तुत: अभिन्न नहीं हैं, प्रत्युत ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है और जगत् संपूर्ण मिथ्या वा मरीचिका मात्र है। अतएव 'फ़ना' शब्द के अर्थ का मानवोचित गुणों का विलय होना और 'वक़ा' के अर्थ का ईश्वर के साथ स्वरूप वा गुणावली के अन्तर्गत स्थिति पा लेना ठीक एक ही दृष्टिकोण के के अनुसार नहीं कहा जा सकता। पहले के अनुसार जहाँ एक मृण्मय घट नष्ट हो जाने पर पुनः मृत्तिका का रूप ग्रहण कर लेता है, वहाँ दूसरे के अनुसार जल के ऊपर पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिंब जल के न रहने पर नष्ट हो कर सूर्य में मिल जाता है। (४) रूमी का मत इस विषय में, इन तीनों मतों से भिन्न है, क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर एवं जीव स्वरूपत: भिन्न, किंतु गुणत: अभिन्न हैं। इस कारण 'फ़ना' का अर्थ मानवीय गुणावली का नाश तथा 'वक़ा' का अर्थ ईश्वरीय गुणों का लाभ मानना चाहिए। इस प्रकार वेदान्त के साथ इन मतों की तुलना करने पर जान पड़ेगा कि कालाबाधी का उपर्युक्त प्रथम मत मध्वाचार्य के तद्विषयक मत से मिलता-जुलता है। ज़िली का उपर्युक्त मत वल्लभाचार्य के मत के समान जान पड़ता है, सविस्तारी का उपर्युक्त तीसरा मत शांकराद्वैतवाद से बहुत भिन्न प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार रूमी का उपर्युक्त चौथा मत भी रामानुज एवं निंबार्क के मतों के साथ कुछ अंश में मेल खाता दीख पड़ता है।

(ख) साधना : साधना का मार्ग

इमाम ग़ज़ाली ने एक स्थल पर लिखा है "अल्लाह सत्तर हज़ार पर्दों के भीतर है जिनमें से कुछ प्रकाशमय और कुछ अंधकारमय हैं और यदि उन आवरणों को हटा लेवें तो जिस किसी की दृष्टि उस पर पड़ेगी वह उसके प्रखर प्रकाश द्वारा दग्ध हो जायगा।" इन पर्दों में से आधे प्रकाश के और आधे अंधकार के बतलाये गए हैं और कहा गया है कि साधक को परमेश्वर से मिलने के लिए जाते समय, मार्ग में सात स्थानों से होकर गुज़रना पड़ता है जिनमें से प्रत्येक दस पर्दों से आवृत्त हैं। परमेश्वर के समक्ष पहुँचते-पहुँचते साधक अपने सारे ऐन्द्रिय एवं भौतिक गुणों से रहित हो जाता है और वही उसके जीवन का वास्तविक एवं अंतिम लक्ष्य है। जन्म-ग्रहण करने के अनन्तर मानव प्रकाशमय पर्दों की ओर से क्रमशः अंधकारमय पर्दों की ओर जाता है और उसका एक-एक ईश्वरीय गुण कम होता जाता है, किंतु वही जब एक सालिक़ (साधक) के रूप में उधर से प्रत्यावर्तन करता है तो उसके विपरीत आलोक की ओर बढ़ता है। उस दशा में उसे सप्त सोपानों से होकर अग्रसर होना पड़ता है जिनके क्रमादि के विषय में सूफ़ियों में मतभेद दीख पड़ता है। कुछ प्रसिद्ध सूफ़ियों के अनुसार ये सप्त सोपान केवल प्राथमिक दशा को ही सूचित करते हैं। इन्हें अतिक्रान्त कर साधक को फिर चार प्रकार के अन्य सोपानों को भी लाँघना पड़ता है जो इनसे अधिक उच्चस्तर पर विद्यमान हैं।

(१) साधना के सोपान

सप्त सोपान

प्रायः सभी प्रकार के सूफ़ियों ने सप्त सोपानों के अन्तर्गत (क) 'अनुताप' को बहुत बड़ा महत्व दिया है। अनुताप की ज्वाला में दग्ध

मानव ही वस्तुतः जगत् के प्रति विराग एवं ईश्वर के लिए अनुराग प्रदर्शित कर सकता है। यह अनुताप भी भरसक भयजन्य न होकर प्रेमज होना चाहिए और तभी उसका परिणाम अधिक सुन्दर होता है। (ख) अनुताप का परिणाम प्रायः 'आत्म-संयम' हुआ करता है जिसमें नफ़्स (जड़ आत्मा) पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेने की चेष्टा की जाती है। उपवास, तितिक्षा, मानसिक क्लेशवरणादि इसके अंग समझे जाते हैं, क्योंकि उनके द्वारा ही अपने ऊपर अधिकार का अभ्यास बढ़ा करता है। (ग) आत्मसंयम के अनन्तर 'वैराग्य' का आ जाना अवश्यंभावी है और इसमें वासना का परित्याग एवं पार्थिव सुख के प्रति विराग आते हैं। इस वैराग्य का फल अधिकतर (घ) 'दारिद्र्य में परिणत हो जाता है जिसके अन्तर्गत सर्वहारा की लोकनिंदा तथा अपमान भी सम्मिलित है। (ङ) दारिद्र्य की दशा को अकातर एवं शान्त भाव के साथ सहन कर लेना 'धैर्य' के गुण का द्योतक है और यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सोपान को सूचित करता है। यह धैर्य ही फिर (च) ईश्वर-विश्वास में परिणत हो जाता है जिसका अंतिम फल (छ) 'संतोष' हुआ करता है। इस सप्तम सोपान तक आते-आते सालिक़ वा यात्री साधक बहुत शान्तभाव को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार उसमें ऐसी योग्यता आ जाती है जिसके आधार पर वह अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान का भी अधिकारी हो जाता है।

चतुर्विध सोपान

सप्त सोपान अतिक्रान्त कर लेने पर साधक आगे के चतुर्विध सोपानों का भी अधिकारी बन जाता है जो, उपर्युक्त सप्त सोपानों की भाँति कोटि विशेष को सूचित करने के अतिरिक्त उच्च मानसिक स्तर की ओर भी संकेत करते हैं। इन चारों में से सर्वप्रथम नाम (क) 'मारिफ़त' का आता है जो इन्द्रियज अथवा विचार बुद्धि प्रसूत ज्ञान अर्थात् 'इल्म' न होकर हृदय-प्रसूत हुआ करता है और जिसमें गहरी अनुभूति का अंश

बहुत अधिक रहा करता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रतिबिंब को स्वच्छ दर्पण पूर्ण रूप से ग्रहण कर उसे अपने में धारण कर लेता है, उसी प्रकार मानव-हृदय भी परमेश्वर की प्रत्यक्ष उपलब्धि कर लेता है। (ख) इस मारिफ़त के भावावेगमय रूप का नाम ही 'प्रेम' है जो सूफ़ी साहित्य का सबसे प्रिय विषय है और जिसकी दशा तक पहुँचकर साधक अपने आप को विस्मृत करना आरंभ कर देता है। इस 'प्रेम' के अनुसार स्वभावतः वह स्थिति भी आ जाती है जिसे (ग) 'वज्द' (उन्मादना) वा समाधि कहा करते हैं, जो साधक के साधना-मार्ग का उच्चतम सोपान समझी जा सकती। इसके अनन्तर ही वह अवसर उपस्थित हो जाता है जिसे (घ) 'वस्ल' (ईश्वर-मिलन) कहते हैं और जो उसकी अपरोक्षानुभूति की दशा अथवा उसकी अभेदोपलब्धि की स्थिति को भी सूचित करता है। इन अन्तिम तीन दशाओं के अन्तर्गत मादन भाव का भी अंश वर्त्तमान रहता है जो क्रमशः सूक्ष्मतर होता चला जाता है। कारण यह कि इनका मूल स्रोत परमेश्वर के प्रति साधक के किसी न किसी यौन परक सम्बंध पर भी आश्रित रहा करता है। इसीलिए इनके वर्णनों में भी स्वभावतः उन बातों का समावेश हो जाता है जिनका किसी रागरंग वा उन्मुक्त विलासिताजन्य मस्ती से सम्बंध है। 'इश्क़ मज़ाजी' तथा 'इश्क़ हक़ीकी' के तत्वतः एक समझे जाने का भी यही रहस्य हो सकता है।

मुक़ामात और हाल

उपर्युक्त सोपानों का नाम सूफ़ियों ने 'मुक़ामात' रखा है और कहा है कि उन तक पहुँचना साधक के यत्नों पर निर्भर है। किंतु साधकों की कुछ अवस्थाएँ भी हुआ करती हैं जिन्हें 'हाल' की संज्ञा दी जाती है जो भगवत्कृपा पर निर्भर रहा करती हैं और जो वस्तुतः उनके भावविशेष की ही द्योतक हैं। मुक़ामात के द्वारा यह सूचित होता

है कि अमुक साधक अपने साधना-मार्ग की अमुक कोटि तक पहुँचा हुआ है और वे उसकी तद्विषयक योग्यता को निर्दिष्ट करते हैं। किंतु 'हाल' के द्वारा यह प्रकट हो जाता है कि वह अपनी ओर से मृतकवत् बनकर भगवत्प्रसाद का भाजन हो चुका है। पहले के लिए वह स्वयं यत्न करता है, किंतु दूसरे के लिए स्वयं ईश्वर ही यत्नशील हो जाता है। साधक की ईश्वरोपदिष्ट यात्रा को सूफ़ियों ने 'सफ़रुल अब्द' अर्थात् प्राणियों की यात्रा कहा है, जहाँ ईश्वर के जगत् की ओर आने को 'सफ़रुल हक़' बतलाया है। साधक की यात्रा की इस प्रकार की प्रथम दशा 'नासूत' की रहा करती है जिसमें वह 'शरीअत' वा धर्म-शास्त्रों का अनुसरण करता है। उसकी दूसरी दशा, इसी प्रकार 'मलकूत' की आ जाती है जिसमें वह देवलोक निवासी-सा बनकर तरीक़त वा उपासना में प्रवृत्त हो जाता है। उसकी तीसरी दशा 'ज़बरूत' की आती है जिसमें वह 'ज्ञानकांड को स्वीकार करता है और वह सालिक़ से 'आरिफ़' बन जाता है। अंत में, वह उस 'लाहूत' की दशा तक पहुँच जाता है, जहाँ पर वह ज्ञाननिष्ठ हो जाता है और उसे 'हक़ीक़त' वा सत्य की उपलब्धि हो जाती है। इन दशाओं को कुछ लोगों ने क्रमशः नरलोक, देवलोक, ऐश्वर्यलोक एवं माधुर्यलोक के रूपों में भी स्वीकार किया है। इसके आगे भी एक 'हाहूत' नामक अवस्था की ओर संकेत किया गया है जिसे इसी के अनुसार, हम 'सत्यलोक' की संज्ञा दे सकते हैं।

(२) क्रिया-पद्धति

नमाज़ एवं ज़िक्र आदि

सूफ़ियों की साधना में प्रधानतः छह प्रकार की क्रिया-पद्धति देखी जाती है जिनमें से तीन साधारण एवं शेष तीन विशेष रूप की हैं। प्रथम अर्थात् साधारण तीन क्रियाओं में पहला नाम 'नमाज़' का आता

है जिसे 'सलात' भी कहा करते हैं जो बहुधा प्रत्येक मुसलमान द्वारा नियमित रूप से पाँच बार की जाती हुई देखी जाती है। सूफ़ियों की ऐसी दूसरी क्रिया का नाम 'तिलावत' अर्थात् '.कुरान शरीफ़' का नियमित रूप से पारायण करने का अभ्यास है। इनकी तीसरी साधारण क्रिया, इसी प्रकार 'अवराद' कहलाती है जो कतिपय चुने हुए भजनों का दैनिक पाठ समझी जा सकती है। सूफ़ियों की विशेष क्रिया-पद्धति में सबसे पहला नाम 'मुज़ाहद' अर्थात् आत्म-निग्रह का आता है और वह नफ़स अर्थात् जड़ आत्मा के साथ युद्ध करने में प्रकट होता है। इसकी दूसरी क्रिया 'ज़िक्र' अथवा स्मरण की होती है जो अपने प्राणों के विशेष रूप से नियमन द्वारा संचालित हुआ करती है। यह या तो 'ज़िक्र जली' अर्थात् विहित वाक्य के उच्च स्वर में उच्चारण करने की होती है अर्थात् 'ज़िक्र खफ़ी' अथवा उसके अत्यन्त मंद स्वर में जप करने के रूप में हुआ करती है और इन दोनों की विधियाँ पृथक्-पृथक् निश्चित कर दी गई हैं। सूफ़ियों की तीसरी विशेष क्रिया का नाम 'मराक़ब' अर्थात् चिन्तन अथवा ध्यान है जो जपी जाती हुई पंक्तियों का किया जाता है।

(३) उपासना

गुरु एवं औलिया

अपनी साधना का रहस्य जानने एवं तदनुसार अभ्यास करने के लिए साधक को किसी पीर की शरण लेनी पड़ती है। वह अपने पीर (गुरु) की आज्ञा के पालन की शपथ ग्रहण करता है और अपने को उसका मुरीद स्वीकार करता है। मुरीद को अपना पीर वा मुर्शिद का अनुकरण अंध विश्वास के साथ करना पड़ता है। वह अपने पीर के स्वरूप को निरन्तर अपने ध्यान में रखा करता है और उसके प्रभाव का अपने ऊपर इस प्रकार अनुभव करता है जैसे उसने अपने को उसमें लीन कर दिया हो। सूफ़ियों के अनुसार मुरीद पहले अपने शेख़ के प्रति

आत्मसमर्पण करता है। फिर शेख़ उसे पीर के सिपुर्द कर देता है और पीर के द्वारा वह क्रमशः रसूल अर्थात् हज़रत मुहम्मद के प्रभाव से आगे बढ़ता हुआ स्वयं अल्लाह के समक्ष तक पहुँच जाता है। पीरों के अतिरिक्त साधक प्रसिद्ध औलिया (वली वा फकीर लोगों) की भी उपासना करता है और उनके मज़ारों (समाधियों) की ज़ियारत (तीर्थयात्रा) करता तथा उन पर पुष्पादि चढ़ा कर उनसे वरदान पाने की अभिलाषा प्रकट करता है। सूफ़ियों की यह एक विशेषता है कि वे ख़्वाजा खिज्र नामक एक प्राचीन पौराणिक फकीर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और उससे पथ-प्रदर्शन की याचना करते हैं। प्रसिद्ध है कि इस खिज्र ने तथा इलियास नामक एक अन्य फकीर ने भी अल्लाह से अपने लिए अमरत्व का वरदान प्राप्त कर लिया ।

सूफ़ीमत और सूफ़ीसाहित्य का अध्ययन

सूफ़ीमत एवं सूफ़ीसाहित्य के अध्ययन का प्रारंभिक रूप हमें केवल जायसी-सम्बंधी शोधमूलक उल्लेखों में उपलब्ध होता है। गार्सां द तासी ने तो, इस कवि की चर्चा करते समय, इसका एक नाम 'जायसीदास' भी दिया है, इसे हिन्दुई में कवित्त और दोहरों की रचना करने वाला कहा है तथा इसकी 'पद्मावत' के अतिरिक्त 'सोरठ', 'परमार्थजपजी' और 'घनावत' रचनाओं के भी नाम लिये हैं। उन्होंने 'पद्मावत' की कई हस्तलिखित प्रतियों के पते भी अवश्य दिये हैं, किंतु उस रचना के विषय में कोई आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने न तो उसमें लक्षित होने वाली विशिष्ट बातों की समीक्षा का यत्न किया है, न इस कवि के रचना-कौशल पर ही कोई प्रकाश डाला है। तासी की 'इस्त्वार' का निर्माण ईसवी सन् की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में हुआ था और उसके द्वारा 'हिन्दुई और हिन्दुस्तानी' के ज्ञात कवियों एवं लेखकों तथा उनकी उपलब्ध रचनाओं के केवल परिचय देने का ही कदाचित्, सर्वप्रथम प्रयास किया गया था जिस कारण, उनका ध्यान किसी दूसरी ओर न जा सका। डॉ० ग्रियर्सन ने भी एक वैसा ही यत्न अपनी पुस्तक 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' द्वारा सन् १८८६ ई० में किया। परंतु उन्होंने जायसी का प्रसंग आने पर उसकी 'पदमावत' वाली कथा के ऐतिहासिक आधार का भी प्रश्न छेड़ दिया, उसके भाषा-पक्ष पर प्रकाश डाला तथा उसे पूरा साहित्यिक महत्व भी प्रदान किया। उनका तो कहना था कि 'पद्मावत' हिंदी साहित्य का वस्तुतः सबसे अधिक अध्ययन योग्य ग्रन्थ है और उस कृति का मूल्य, एक मौलिक

काव्य के रूप में भी कुछ कम नहीं है। फिर भी डॉ० ग्रियर्सन ने उसकी विशेषताओं पर अधिक विचार नहीं किया, न उन्हें उसके तुलनात्मक अध्ययन की ही कोई आवश्यकता प्रतीत हुई।

जायसी के विषय में विशेष विस्तार के साथ लिखने का यत्न, पहले-पहल बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण का लगभग अंत होते समय किया गया। स्वर्गीय शुक्ल जी ने सन् १९२४ ई० में 'जायसी-ग्रन्थावली' का संपादन किया और उसके लिए 'भूमिका' लिखते समय, उन्होंने केवल जायसी के जीवन-वृत्त, 'पदमावत' के शुद्ध पाठ, कथानक, प्रबन्ध-कल्पना, काव्य-सौन्दर्य एवं भाषा आदि पर विशेष रूप से प्रकाश डाला, अपितु इसी प्रसंग में, उन्होंने इस काव्य-ग्रन्थ को, शेख़ क़ुतबन-जैसे सूफ़ी कवियों की प्रेमगाथाओं के साथ एक विशिष्ट वर्ग में स्थान देकर भी परखने की चेष्टा की। फलतः इसके अनन्तर, हिंदी साहित्य के इतिहासों में प्रेमाख्यान के विषय को भी क्रमशः अधिकाधिक महत्व दिया जाने लगा और कहीं-कहीं इसके लिए एक नवीन प्रकरण की योजना तक आरंभ कर दी गई। तदनुसार, नयी खोजों के परिणाम-स्वरूप, इसके व्यापक अध्ययन की ओर भी हमारी प्रवृत्ति जगी और क्रमशः इस बात के स्पष्ट होने में भी देर न लगी कि लगभग एक-जैसी रचनाओं की एक लंबी-सी परंपरा, जायसी के पूर्व से लेकर उसके पीछे तक भी बराबर चली आई है तथा उसमें सूफ़ी प्रेमगाथाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसी भी रचनाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जिनके रचयिताओं का सूफ़ी संप्रदाय के साथ कदाचित् किसी प्रकार का भी सम्बंध सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय इधर स्वयं सूफ़ी प्रेमगाथाओं के भी वर्ग की बहुत-सी ऐसी रचनाएँ मिलती जा रही हैं जिनका निर्माण दक्खिनी हिंदी में किया गया है तथा जिनकी रचना-शैली में अधिक-से-अधिक फ़ारसी साहित्य के आदर्श एवं परंपरा का अनुसरण लक्षित होता है।

इसी प्रकार, जायसी की 'अखरावट' और 'आखिरी क़लाम' तथा बहुत-से अन्य सूफ़ी कवियों की भी फुटकर रचनाओं के प्रकाश में आते जाने के कारण, इधर हमारा ध्यान अनेक ऐसी कृतियों के अध्ययन की ओर भी जाने लगा है जिन्हें प्रेमगाथा नहीं कहा जा सकता, किंतु जिनके अनुशीलन द्वारा हमें सूफ़ियों के प्रेमतत्व विषयक सिद्धान्त एवं साधना का ज्ञान, प्रचुर मात्रा में, उपलब्ध हो सकता है। फलतः डॉ० लक्ष्मीधर शास्त्री ने शाह बर्कतउल्लाह की रचना 'प्रेम प्रकाश' का गंभीर अध्ययन करके उसके आधार पर 'हिंदी साहित्य के लिए शाह-बर्कतउल्लाह की देन' शीर्षक से एक महत्वपूर्ण प्रबन्ध प्रस्तुत किया है जिससे इस धारणा को पुष्टि भी मिलती है कि हिंदी के सूफ़ी साहित्य का सम्यक् अध्ययन केवल प्रेमगाथाओं पर ही आश्रित नहीं रखा जा सकता। अतएव, जो अध्ययन पहले अकेले जायसी विषयक परिचयात्मक उल्लेखों से ही आरंभ हुआ था उसका बहुमुखी विकास हो चुका है तथा उसके वैसे प्रायः प्रत्येक अंग पर पृथक्-पृथक् भी ध्यान दिया जाने लगा है और स्वयं जायसी-सम्बंधी अनुशीलन में भी कहीं अधिक व्यापकता एवं गंभीरता आ गई है।

'पदमावत का काव्य-सौन्दर्य' सूफ़ी कवि जायसी की प्रसिद्ध प्रेम-गाथात्मक रचना का 'अपने ढंग का पहला विस्तृत अध्ययन' है। 'विषय निर्देशिका' के अनुसार यह क्रमशः 'कथावस्तु का संघटन', 'रूप-सौन्दर्य और अप्रस्तुत विधान', 'प्रकृति वर्णन का सौन्दर्य', 'रहस्यवाद का सौन्दर्य', 'पदमावत की सांकेतिकता', 'भाषा-सौन्दर्य', 'छंद-विधान', 'चरित्र-चित्रण', 'सामाजिक स्थिति' एवं 'प्रेम का आदर्श' नामक शीर्षकों में प्रस्तुत किया गया है। ये शीर्षक उन दस प्रमुख अध्यायों का भी नाम निर्देश करते हैं जिनमें पुस्तक विभाजित की गई है और इनमें से प्रत्येक में एक से अधिक उपशीर्षकों का भी समावेश कर दिया गया है। पुस्तक के ग्यारहवें अथवा अंतिम अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने 'पद्मावत' में पाये जाने वाले कतिपय दोषों का दिग्दर्शन कराया है

तथा उसी में एक 'उपसंहार' देकर उसके द्वारा उसने अपने वास्तविक वक्तव्य का सारांश दे देने की भी चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने पुस्तक के आरंभ में एक पाँच पृष्ठों का 'आमुख' भी जोड़ दिया है, जिसमें प्रधानतः 'पद्मावत' के विषय में अद्यावधि किये गए अध्ययन की एक रूपरेखा आ जाती है। इसी प्रकार पुस्तक के अंत में दिया गया 'परिशिष्ट', 'भाषा सौन्दर्य' वाले अध्याय के लिए एक पूरक का काम करता है। पुस्तक वस्तुतः 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' की एम० ए० परीक्षा के दो प्रश्न पत्रों के स्थान पर लिखे गए प्रबन्ध का प्रकाशित रूप है इससे स्पष्ट है कि यह बड़े परिश्रम और मनोयोग पूर्वक लिखी गई है। इसमें 'पद्मावत' के काव्य-सौन्दर्य का विवेचन अनेक दृष्टियों से बड़े विशद् रूप में किया गया है और लेखक का यत्न सर्वथा स्तुत्य कहा जा सकता है।

पुस्तक का लेखक 'पद्मावत' को केवल एक महान् 'साहित्यिक कृति'-मात्र के ही रूप में देखना चाहता है जिसमें **"अनेक लौकिक तथा साहित्यिक काव्य-रूढ़ियों के प्रयोगों द्वारा सौन्दर्य वर्धन किया गया है"**; और उसका बिना किसी हिचक के कहना है कि **"उसमें सर्वत्र कवि-कल्पना और संभावना का काव्य-सौन्दर्य ही दर्शनीय है।"** उसने इसीलिए इस काव्य-ग्रन्थ की कहानी की ऐतिहासिकता पर विचार करने अथवा इसे सूफ़ीधर्म के प्रचार का साधन ठहराने का भी घोर विरोध किया है। उसकी दृष्टि में 'पद्मावत' के सम्बंध में इस प्रकार की चेष्टा करना उसके प्रति अन्याय करना कहा जा सकता है। उसने इस बात को कई स्थलों पर दोहराया है—जैसे, **"उसकी ऐतिहासिक चीर-फाड़ बन्द होनी चाहिए"** (पृ० २४)। **"इतिहास का स्वर अब सर्वथा बन्द होना चाहिए और काव्य सौन्दर्य का रसास्वादन अत्यावश्यक है"** (पृ० २६)। **'ऐतिहासिक और भौगोलिकता का यह स्वर बन्द होना चाहिए"** (पृ० ११)। **ऐतिहासिक चीर-फाड़ करके इसे अनैतिहासिक घोषित करना इसके प्रति अन्याय होगा"** (पृ० २३२)। इसी

प्रकार, "**उसका संपूर्ण सौन्दर्य काव्यात्मक है, धर्म-प्रचारात्मक नहीं**", (पृ० १२८) और "**इतिहास, धार्मिक सिद्धान्त या किसी रूपक रूप का आरोप उसके प्रति अन्याय होगा। उसका संपूर्ण सौन्दर्य काव्य का है**" (पृ० १३१) इत्यादि। लेखक ने इसके लिए एक प्रमुख कारण यह दिया है कि जायसी ने 'संपूर्ण पद्मावत में', 'अपने कवि होने का उल्लेख डंके की चोट पर' किया है तथा यह रचना "**कवि मुहम्मद जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।**" (पृ० २५ और १३१) इसका समर्थन उसने जायसी द्वारा अपने को कवि कहने से सम्बद्ध अनेक पंक्तियों को उद्धृत करके किया है।

लेखक ने अपने कथन पर कदाचित् आवश्यकता से अधिक बल दिया है जिसके कारण, उसकी भाषा कहीं-कहीं आदेशात्मक और आवेशपूर्ण भी हो गई है। कोई कवि यदि अपने प्रबन्ध-काव्य के पात्रों को ऐतिहासिक नाम देता है तथा उसके स्थल-विशेष वा घटना विशेष की चर्चा ऐतिहासिक तथ्य के अनुरूप करता दीख पड़ता है तो उसमें ऐतिहासिक बातों की संगति का पता लगाने वाला आलोचक हठात् अपराधी ही नहीं ठहराया जा सकता, न किसी आलोच्य ग्रन्थ में पायी गई अनैतिहासिकता के कारण उसका साहित्यिक मूल्य ही कम कर दिया जा सकता है। इसी प्रकार 'पद्मावत' को सूफ़ीधर्म के प्रचारार्थ निर्मित की गई रचना कह देने मात्र से ही उसका महत्व अनिवार्यतः कम नहीं हो जाता। यह बात प्रायः निर्विवाद रूप में स्वीकार कर ली जाती है कि 'पद्मावत' की रचना, सूफ़ी प्रेमगाथाओं की परंपरा के ही अनुसार की गई है, जो जायसी के पूर्व से आरंभ होकर पीछे तक चली आई है। उन रचनाओं के कवियों ने एक विशिष्ट रचना-शैली का प्रयोग किया है तथा कभी-कभी उन्होंने प्रेमकहानियों के 'रहस्य' का उद्घाटन तक किया है। यह भी स्पष्ट है कि स्वयं जायसी ने भी 'पद्मावत' के कई स्थलों पर उसकी कहानी पर अलौकिकता का रंग चढ़ाने की चेष्टा की है। ऐसी

दशा में क्या इस बात की संभावना नहीं कि अपनी इस प्रेमगाथा की रचना का उद्देश्य जायसी ने धर्म-प्रचार भी रखा होगा। यदि गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' उनके 'स्वातःसुखाय' निर्मित होते हुए भी 'सुरसरि सम सब कँह हित' करने वाला बन सकता है तो 'जायसी के अन्तर की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति' वाले 'पद्मावत' के लिए भी हम क्यों नहीं कह सकते कि वह उस सूफ़ी साधक की ओर से दिये गए धार्मिक सन्देशों का वाहक भी होगा। इसके लिए उन्हें 'सांप्रदायिकता' का प्रचार करने वाला भी ठहराना आवश्यक नहीं और न केवल इसी के कारण हम उनके काव्य-कौशल की उपेक्षा ही कर सकते हैं। यों तो 'पद्मावत' की कतिपय पंक्तियों के आधार पर उन्हें कट्टर मुसलमान तक कह डालने का यत्न किया जाता है और उसमें से दो पंक्तियाँ निम्न लिखित हैं—

जगत बसीठ दई ओइँ कीन्हे। दोउ जग तरा नांउ ओहि लीन्हे॥
जेइ नहिं लीन्ह जनम सो नाऊँ। ताकहँ कीन्ह नरक मँह ठाऊँ॥

लेखक की आवेशपूर्ण कथन-शैली के उदाहरण इस पुस्तक के अन्तर्गत, कई अन्य स्थलों पर भी मिल सकते हैं। उसमें एक ही बात को कई जगहों पर, लगभग एक ही प्रकार के शब्दों में, दोहराया भी गया है जिसे कदाचित् किसी विषय पर आवश्यकता से अधिक बल देना कहा जायगा, जैसे पृष्ठ ११ पर 'सिंहलदीप पद्मिनी रानी' आदि 'पद्मावत' की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए जो-कुछ कहा गया है उसका उसी प्रकार एक बार फिर उद्धरण देकर पृष्ठ २३ पर भी कथन किया गया है। इस वर्णन-शैली के अन्य कुछ उदाहरण, पृष्ठ १३८, १५६, १६२ आदि की तुलना करने पर भी मिल सकेंगे। इसी प्रकार लेखक ने पृष्ठ १६ और २१ पर जो अमीर ख़ुसरो की मसनवी 'देवल रानी-ख़िज्र खाँ' की कथावस्तु को 'ऐतिहासिक तथ्यपूर्ण' बतलाया है वह भी बहुत-कुछ भ्रमात्मक है। क्योंकि स्वयं ख़ुसरो के ही अनुसार,

"**एक दासी ने लिखी हुई कहानी मुझे लाकर दी। मैंने विशेष परिश्रम से कहानी लिखी।**" मात्र पता चलता है ('खलजी कालीन भारत' पृ० १७१) इसके सिवाय लेखक का पृष्ठ १७७ पर यूसुफ़ को मजनूँ एवं फरहाद के सदृश, 'साधारण श्रेणी का नायक' बतलाना भी उचित नहीं प्रतीत होता। यूसुफ़ हज़रत याकूब के प्रिय पुत्र थे और पीछे वे वन्दनीय नबी लोगों में ही गिने गए थे तथा उनकी कथा 'कुरान शरीफ़' के १२वें पारे (सूरे यूसुफ़) में पूरे विस्तार के साथ दी गई है। फिर पुस्तक के पृष्ठ १६ पर '१५४०' का '१६४०', पृ० ४५ पर 'साथ' का 'साख', पृ० १८० पर 'उदात्त' का 'उदास' और पृ० २२२ पर 'हिजानी' का 'हिसाबी' हो गया है, जो प्रेस की भूलों के कारण संभव है। किंतु जहाँ 'कडवक' का परिचय देते समय "**अपभ्रंश के कवि अरिल्ल या पंझटिका छंद की कई पंक्तियाँ देने के पश्चात् ध्रुवक के रूप में एक द्विपंक्तिबद्ध छन्द दे दिया करते थे। इस पूरे शब्द को कड़वक कहते थे।**" (पृ० १६२) कहा गया मिलता है, वहाँ 'शब्द' को किस शब्द की जगह छप गया मान लिया जाय, जल्दी स्पष्ट नहीं हो पाता।

फिर भी ऐसी त्रुटियाँ पुस्तक के मुख्य विषय 'पद्मावत' के काव्य-सौन्दर्य-प्रदर्शन को सीधी प्रभावित करती नहीं जान पड़तीं। जो-कुछ अभीष्ट और प्रतिपाद्य है उसका वर्णन लेखक ने न केवल विस्तार के साथ, अपितु अच्छे ढंग से भी किया है। यद्यपि उसके द्वारा सौन्दर्य की दृष्टि से उद्धृत किये गए प्रत्येक उदाहरण के औचित्य के विषय में सभी पूर्णत: सहमत नहीं हो सकते, तो भी इतना कहना सत्य से दूर न होगा कि इसमें उसे बहुत-कुछ सफलता मिली है।

'जायसी के परवर्ती हिंदी सूफ़ी कवि और काव्य' नामक पुस्तक लखनऊ-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखित प्रबन्ध का प्रकाशित रूप है। इसका विषय उन सूफ़ी कवियों की रचनाओं का विशेष अध्ययन है जिन्होंने जायसी के अनन्तर प्रेमगाथाओं तथा स्फुट

काव्यों के रूप में लिखा था। जैसा इसके पहले कहा जा चुका है सूफ़ियों की प्रेमगाथा-परंपरा की ओर हमारा ध्यान सर्वप्रथम, कदाचित् स्व० शुक्लजी ने आकृष्ट किया था और उन्होंने अपनी 'हिंदी साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में पीछे ऐसी अनेक रचनाओं का कुछ-न-कुछ परिचय देने का भी यत्न किया था। उन्होंने उस समय तक उपलब्ध सूफ़ी-प्रेमाख्यानों के आधार पर शेख़ .कुतबन की मृगावती (सन् १५०१ ई०) से लेकर शेख़ उसमान की 'चित्रावली' (सन् १६१३ ई०) तक का परिचय कुछ विस्तार के साथ दिया था और शेख़ नबी की रचना 'ज्ञान-दीप' (सन् १६१९ ई०), कासिम शाह की 'हंसजवाहिर' (सन् १७३६ ई०), नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' (सन् १७४४ ई०) और फाज़िलि शाह की 'प्रेमरतन' की प्रायः चर्चा-मात्र ही कर दी थी तथा उसके साथ ही उन्होंने यह भी कथन कर दिया था कि **"शेख नबी से प्रेमगाथा-परंपरा समाप्त समझनी चाहिए।"** परंतु पीछे की गई खोजों के अनुसार जब ऐसी रचनाओं की संख्या में वृद्धि होती चली गई तो पता चला कि यह समय कवि नसीर के प्रेमाख्यान 'प्रेमदर्पण' (सन् १९१७ ई०) तक भी लाया जा सकता है और आलोच्य पुस्तक की लेखिका ने अपना प्रस्तुत प्रबन्ध केवल ऐसी ही धारणा के आधार पर तैयार किया है। इसके सिवाय इस पुस्तक की लेखिका ने इसमें कई ऐसी सूफ़ी रचनाओं का भी एक अध्ययन सम्मिलित कर दिया है जिन्हें हम प्रेमगाथा नाम नहीं दे सकते, किंतु जिन्हें सूफ़ी कवियों की विचारधारा अथवा मत समझने का हम बहुत उपयुक्त एक साधन ठहरा सकते हैं।

पुस्तक में दी गई 'विषय-सूची' के अनुसार इसमें पन्द्रह अध्याय हैं (यद्यपि मूल ग्रन्थ में भूल से अध्याय '३' की जगह '४' देकर फिर आगे भी उसकी क्रमिक संख्याएँ '१६' तक पहुँचा दी गई है) और इस प्रकार, लेखिका ने वर्ण्य विषय को विविध खण्डों में विभाजित करके लिखा है। 'विषय-सूची' में फिर लगभग प्रत्येक खण्ड को, एक से अधिक विभिन्न प्रकरणों में भी विभाजित करके दिखलाया गया है, किंतु मूल ग्रन्थ के

'दशम अध्याय' तक ये सभी फिर नियमित रूप से दिये नहीं गए हैं और कहीं-कहीं पर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इनमें से किसको किस जगह से आरंभ हुआ समझा जाय। 'षष्ठ अध्याय' में जो छह प्रकरणों के नाम, 'विषय सूची' में, लिखे हैं उनमें से तो कोई भी एक, ग्रन्थ में शीर्षक बनकर नहीं आ सका है। इसी प्रकार पुस्तक के शीर्षक वाले अंश 'हिंदी सूफ़ी कवि और काव्य' से जहाँ पता चलता है कि लेखिका ने उसके अन्तर्गत प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त स्फुट काव्यों की भी चर्चा की होगी वहाँ कतिपय अध्यायों के शीर्षकों से यह भ्रम होने लगता है कि 'सूफ़ी' एवं 'सूफ़ी काव्य' शब्दों से कहीं उसका अभिप्राय केवल क्रमशः प्रेमाख्यानों के ही कवि एवं काव्य से न रहा हो। उदाहरण के लिए 'पंचम', 'षष्ठ', 'एकादश', 'द्वादश' एवं 'चतुर्दश' अध्यायों में वस्तुतः प्रेमाख्यान साहित्य की ही चर्चा आई है, किंतु उनके शीर्षकों के नाम अधिक व्यापक अर्थ वाले जान पड़ते हैं। उसके सिवाय 'त्रयोदश अध्याय' में जहाँ सूफ़ियों के स्फुट साहित्य का वर्णन किया गया है, वहाँ वस्तुतः 'चतुर्थ अध्याय' के चौथे प्रकरण को ही अधिक विस्तार दे दिया गया जान पड़ता है और वह भी आलोचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक बनकर ही रह गया है। लेखिका को चाहिए था कि वह सूफ़ी-कवियों की उपलब्ध मुक्तक-रचनाओं के आधार पर भी, उनकी कवित्व-शक्ति के मूल्यांकन का यत्न करती अथवा कम-से-कम उनकी विशेषताओं की ही समीक्षा करती।

पुस्तक की रचना के उद्देश्य, उसके विषय-क्षेत्र की सीमा तथा उसमें दिये गए प्रकरणों की एक संक्षिप्त चर्चा पहले 'प्राक्कथन' में ही कर दी गई है। उससे पता चलता है कि लेखिका ने 'सूफ़ी साहित्य की परंपरा के अध्ययन' को अपने प्रबन्ध का विषय बनाया है। इस प्रकार 'सूफ़ी-काव्य' एवं 'सूफ़ी साहित्य' समानार्थक-से बन गए हैं। कदाचित् इसीलिए लेखिका ने पुस्तक के 'त्रयोदश अध्याय' का नामकरण भी 'सूफ़ियों का स्फुट साहित्य' रूप में किया है तथा उसमें सभी प्रकार के

ग्रन्थों की चर्चा कर दी है। किंतु यह भी, संभव है कि लेखिका ने सूफियों के स्फुट साहित्य में काव्यत्व का कोई उदाहरण ही न पाया हो। पुस्तक के 'पञ्चदश अध्याय' में, प्रत्यक्षतः, केवल सूफ़ी प्रेमगाथाओं का ही 'विशिष्ट अध्ययन' किया गया जान पड़ता है, किंतु उसका शीर्षक 'प्रमुख कवि और काव्य' है। यहाँ पर भी लेखिका का प्रेमाख्यानों के अन्तर्गत शाह नजफ़ अली सलोनी की रचना 'प्रेम चिनगारी' की चर्चा करना वैसा उपयुक्त नहीं जँचता। यदि लेखिका ने इसके अन्तर्गत मौलाना रूमी की दो मसनवियों के आने के ही कारण इसे प्रेमाख्यान मान लिया हो तो उस दशा में या तो 'मसनवी' और 'प्रेमाख्यान' दोनों शब्द समानार्थक कहे जा सकते हैं अथवा 'प्रेमाख्यान' की ही कोई ऐसी व्यापक परिभाषा देनी पड़ सकती है जिसमें प्रेम-सम्बंधी कोई भी प्रसंग सम्मिलित कर लिया जा सके। इसके सिवाय इस अध्याय के अन्तर्गत कतिपय ऐसे प्रेमाख्यानों की भी चर्चा आ गई है जिन्हें एक साथ ही 'सूफ़ी प्रेमाख्यान' भी कहना ठीक नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'मोहिनी' (पृ० ३६६), 'नल दमयन्ती' (पृ० ४००-१), 'लैला मजनूँ' (पृ० ४०१-२), 'कलावती' (पृ० ४०२-३) आदि, जिनके विषय में स्वयं लेखिका ने भी यथास्थल संकेत कर दिया है। 'अज्ञात' कवि की 'कामरूप की कथा' की भी कम-से-कम यह एक विशेषता दीख पड़ती है कि उसमें दक्खिनी हिंदी वाली ऐसी रचनाओं की भाँति फ़ारसी वह्रों का प्रयोग किया गया है।

फिर भी जहाँ तक उपलब्ध सामग्री के अध्ययन तथा उसके आधार पर प्रवन्ध के प्रस्तुत करने का प्रश्न है लेखिका ने उसे बड़ी योग्यता के साथ पूरा किया है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में सूफ़ीमत के आविर्भाव एवं विकास का वर्णन करके, द्वितीय अध्याय से प्रायः सभी उल्लेखनीय बातों के समर्थन में, भरसक उद्धरण दिये गए हैं, जो प्रचुर मात्रा में हैं और जिनकी एक विशेषता यह है कि वे अधिकतर हिंदी के सूफ़ी कवियों की रचनाओं से ही लिये गए हैं। द्वितीय एवं तृतीय अध्यायों में क्रमशः

'सूफ़ी दर्शन' एवं 'सूफ़ी-साधना' का परिचय केवल बाहरी ग्रन्थों के आधार पर भी दिया जा सकता था, किंतु लेखिका ने उसके लिए प्रायः सभी प्रमाण अपने अध्ययन वाले प्रेमाख्यानों से ही उद्धृत किये हैं। यदि यहाँ हिंदी सूफ़ी कवियों के फुटकर काव्य-ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया होता तो और भी उत्तम कहा जाता और वह कदाचित् अधिक उपयुक्त भी होता। लेखिका ने पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में प्रमुख सूफ़ी कवियों की प्रबन्ध-रचनाओं का अध्ययन विशेष विस्तार के साथ उपस्थित किया है। वहाँ पर उसके प्रत्येक ऐसे कवि का, अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर कुछ-न-कुछ परिचय दिया है, उसकी रचना में आयी हुई कहानी का सारांश दे दिया है तथा फिर आगे उसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उन पर अपना एक आलोचनात्मक वक्तव्य भी जोड़ दिया है जिससे वर्ण्य विषय के मूल्यांकन में अच्छी सहायता मिल सकती है। पुस्तक का यह अध्याय स्वभावतः सबसे बड़ा हो गया है और इसके लिखने में विशेष परिश्रम भी किया गया दीख पड़ता है। जिस प्रकार यहाँ प्रबन्धात्मक रचनाओं का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उसी ढंग से यदि 'त्रयोदश अध्याय' के स्फुट साहित्य पर भी आलोचनात्मक विचार होता तो और भी अच्छा होता।

पुस्तक में एकाध स्थलों पर कुछ भ्रमात्मक बातें भी छप गई जान पड़ती हैं, जिनका संशोधन अपेक्षित है। उदाहरण के लिए पृ० १३५ पर शेख़ इब्राहीम फ़रीद को **'पन्द्रहवी शताब्दी'** का **'सर्व प्रथम-पंजाबी में लिखना आरंभ'** करने वाला कहा गया है, पृ० १४१ पर उसका मृत्यु-संवत् '६१०' लिखा है तथा पृष्ठ ३०२ पर उसी के विषय में कहा गया है **"डॉ० मेकालिफ़ ने इनकी मृत्यु २१ वीं रज्जब हिज़री १९६० अर्थात् सन् १९३ में निश्चित की है।"** परंतु वास्तव में मेकालिफ़ ने अपनी पुस्तक 'दि सिख रिलिजन' (भा० ६) के पृ० ३५७-८ पर शेख़ फ़रीद की चर्चा करते समय, उसकी मृत्यु का, हिज़री

सन् ६६० में होना कहा है, जो सन् १५५२-३ ई० अथवा सं० १६०६ में पड़ सकता है। पंजाबी साहित्य का इतिहास लिखने वालों में से कुछ ने बाबा फ़रीद शकरगंज (सन् ११७३-१२६५ ई०) के लिए (शेख़ इब्राहीम के लिए नहीं) कहा है कि वे **"लहन्दी में की गई कविता के सर्व प्रथम योग्य कवि वा लहन्दी काव्य के पिता"** तक थे। इसी प्रकार पृ० ३५१ पर शेख़ उसमान की 'चित्रावली' का रचना-काल सन् १०२२ ई० और पृ० ४३१ पर कासिमशाह की रचना 'हंस जवाहिर' का निर्माण-काल 'सन् १७६३ मुद्रित हैं जिन्हें क्रमशः 'सन् १०२२ हिज़री' तथा 'संवत् १७६३' होना चाहिए था। यह अशुद्धि कदाचित् प्रेस की भूल के कारण भी हो गई होगी।

'सूफ़ीमत : साधना और साहित्य' किसी परीक्षा के लिए लिखित प्रबन्ध वा थीसिस न होकर, स्वतंत्र रूप से लिखा गया एक अध्ययन-है, जिसके विषय में उसके लेखक का कथन है कि उसने इसमें **"सहानुभूति और श्रद्धा लेकर" "सूफ़ियों के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की** है। जायसी साहित्य को समझने के लिए लेखक ने **"सन् १६४६ ई० के प्रारंभ में** सूफ़ीमत का अध्ययन शुरू किया था और यह पुस्तक उसके उसी पठन-पाठन एवं चिन्तन के परिणाम-स्वरूप है। लेखक ने इसे १७ अध्यायों में समाप्त किया है जिनमें से प्रथम पाँच द्वारा उसने इस्लाम एवं रहस्यवाद तथा संन्यास के साथ उसके सम्बंध का विस्तृत विवेचन करके उसके अनन्तर अरब एवं ईरान की सामाजिक अवस्था पर प्रकाश डाला है और फिर इस्लाम के विभिन्न संप्रदायों की चर्चा कर दी है। प्रकृत विषय इससे आगे वाले अध्यायों में आता है, जहाँ क्रमशः सूफ़ीमत के आविर्भाव, उसके क्रमिक विकास तथा प्रारंभिक सूफ़ी-साधकों का परिचय दिया गया मिलता है और तत्पश्चात् सूफ़ी-सिद्धान्त, सूफ़ियों के चरम लक्ष्य एवं साधक और साधना का वर्णन भी पाया जाता है। लेखक ने फिर यहीं पर एक अध्याय में, सूफ़ीमत का अन्य धर्मों एवं मतों के साथ तुलनात्मक

अध्ययन भी प्रस्तुत कर दिया है। इसके आगे के चार अध्यायों में भारतवर्ष में सूफ़ीमत के प्रचार तथा यहाँ के विविध सूफ़ी संप्रदायों का विवरण देकर फिर अन्तिम अध्याय के अन्तर्गत, सूफ़ी-साहित्य की विशेषताओं की चर्चा करते हुए कतिपय प्रसिद्ध सूफ़ी कवियों तथा उनकी रचनाओं का उल्लेख भी कर दिया है।

इस प्रकार इस पुस्तक के अन्तर्गत प्रायः वे सभी बातें आ जाती हैं जिन पर प्रकाश डालना इसके लेखक का अभीष्ट था और उनसे भली भाँति अवगत कराने के उद्देश्य से उसने भूमिका रूप में, उन कतिपय विषयों की भी अवतारणा कर दी है जिनका पूर्व ज्ञान इसके लिए आवश्यक था। लेखक के अनुसार यह गलत होगा कि सूफ़ियों को इस्लाम से पृथक् संगठित किसी संप्रदाय विशेष का अंग माना जाय। वे मुस्लिम समाज के अन्तर्गत थे और इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों से अलग जाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे अपने सिद्धान्तों और क्रियाओं को 'क़ुरान' और 'हदीस' की दृष्टि से सदा परखा भी करते थे। किंतु वे इन मान्य ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर उतना नहीं जाते, जितना उनकी आध्यात्मिक और रहस्यवादी व्याख्या का आधार ग्रहण करते थे। सूफ़ियों के सिद्धान्त बहुत-कुछ व्यक्तिगत आध्यात्मिक एवं रहस्यवादी अनुभूति पर आधारित हैं, जिस कारण उनके विभिन्न मतमतान्तर तक हो गए हैं। यह अवश्य है कि सूफ़ी-मत के क्रमिक विकास की एक स्थिति विशेष में, बहुत-से सूफ़ी इस्लाम से पृथक् होकर सोचते भी जान पड़ते थे, किंतु सामंजस्य की प्रवृत्ति ने फिर उसे भली भाँति सँभाल लिया। सूफ़ीमत का प्रचार संसार के अनेक देशों में हुआ है और सूफ़ियों को विभिन्न मतवाद वालों के संपर्क में आने का अवसर भी मिलता रहा है। इस कारण अपने क्रमिक विकास की दशा में उसका दूसरों द्वारा किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित होना भी अनिवार्य-सा रहा है। लेखक ने इस सम्बंध में किये गए विभिन्न विद्वानों के अनुमानों का सप्रमाण उल्लेख किया है

और उनमें से प्रायः प्रत्येक की समीक्षा करते हुए भी, उनसे अपने को तस्टथ रखा है।

जहाँ तक सूफ़ीमत के प्रमुख सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने का प्रश्न है इस पुस्तक के लेखक ने इस सम्बंध में भी अच्छी सफलता पायी है। उसने प्रत्येक बात को अधिक-से-अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया हैं और इसके लिए न केवल उसने अवतरण दिये हैं, अपितु कहीं-कहीं आवश्यक प्रसंगों का भी उल्लेख कर दिया है। सूफ़ी-साधना के विविध अंगों को समझाने के लिए सूफ़ी-साधकों के जीवन की प्रमुख घटनाओं का भी प्रासंगिक उल्लेख करते चलना बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। सूफ़ीमत की बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण पुस्तक के बारहवें अध्याय में भी किया गया है, जहाँ इसे अन्य मतों से विभिन्न दृष्टियों के अनुसार भिन्न ठहराते हुए भी उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रभावित हुआ भी बतलाया गया है तथा जहाँ पर संयोग-वश हमें उनके दूसरे विविध रूपों का भी ज्ञान हो जाना संभव है। इस प्रकार लेखक के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है और इसका परिणाम भी गंभीर एवं ज्ञानप्रद हो सकता है। परंतु यहाँ पर हमारा ध्यान एक अभाव की ओर भी चला जाता है। लेखक को चाहिए था कि सूफ़ीमत के सिद्धान्तों और साधना-सम्बंधी रहस्यों का उद्घाटन करते समय कहीं-न-कहीं हमें उन विशेषताओं से भी अवगत कराता जो मूल सूफ़ीमत एवं उसके भारतीय विकसित रूप की तुलना करने पर निर्दिष्ट की जा सकती हैं तथा जो लेखक के वर्त्तमान अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी कही जा सकती हैं। पुस्तक के तेरहवें अध्याय में 'भारतवर्ष में सूफ़ीमत का प्रवेश तथा भारतीय परिपार्श्व में सूफ़ी-मत' जैसा शीर्षक देकर भी, जितना ध्यान इस विषय के ऐतिहासिक परिचय की ओर दिया गया है, उतना उसके सैद्धान्तिक प्रतिपादन अथवा उसकी विशेषताओं के स्पष्टीकरण का यत्न नहीं किया गया है। लेखक का ध्यान इस ओर न जा सकने के ही कारण, कदाचित् पुस्तक के

अंतिम अर्थात् सूफ़ी साहित्य वाले अध्याय को भी बहुत-कुछ अधूरा ही रह जाना पड़ गया है। स्पष्ट है कि लेखक ने यहाँ पर केवल फ़ारसी-काव्य की ही चर्चा की है और हिंदी के प्रेमाख्यान अथवा ऐसे किसी अन्य साहित्य का नाम-मात्र तक नहीं लिया है। फिर भी उसे चाहिए कि फ़ारसी सूफ़ी साहित्य के नाते, कम-से-कम अमीर ख़ुसरो-जैसे भारतीय कवियों तथा उनकी रचनाओं का भी कुछ अध्ययन प्रस्तुत कर देता।

पुस्तक के अंत में दी गई 'सहायक ग्रन्थों की सूची' से पता चलता है कि उसने अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थों से सहायता ली है और यह बात इसके भीतर दिये गए विविध उपयुक्त उद्धरणों द्वारा भी प्रमाणित होती है जिसके लिए लेखक का यत्न सर्वथा सराहनीय है। लेखक ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो परिणाम निकाले हैं उन्हें उसने अधिकतर नपे-तुले शब्दों में ही व्यक्त किया है और वह उनके द्वारा अपने को कहीं पूर्ण प्रभावित सिद्ध करता भी नहीं जान पड़ता। उसकी भाषा बहुत स्पष्ट और संयत है तथा उसकी कथन-शैली में पर्याप्त सरलता के साथ रोचकता भी लक्षित होती है।

तीनों आलोच्य पुस्तकें सूफ़ीमत एवं सूफ़ी साहित्य-सम्बंधी अध्यन के पृथक्-पृथक् अंगों को उदाहृत करती हैं और ये अद्यावधि उपलब्ध सामग्री का अनुशीलन करके मनोयोग पूर्वक लिखी गई तथा अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसार बहुत अंश तक पूर्ण और पठनीय भी कही जा सकती हैं। इनकी त्रुटियाँ अधिकतर साधारण कोटि की हैं और वे या तो बाहरी, प्रासंगिक अथवा प्रेस की भूलों के रूप में हैं जिनके कारण, इनके वास्तविक मूल्य में वैसी कमी नहीं आ सकती। इनके द्वारा सूफ़ीमत एवं सूफ़ी साहित्य के अध्ययन में निस्सन्देह अभिवृद्धि हुई है, जिस कारण इनके लेखक बधाई के पात्र हैं। हमें आशा करनी चाहिए कि गंभीर अध्ययन का यह क्रम और आगे बढ़ेगा तथा उत्तमोत्तम कृतियों द्वारा हिंदी साहित्य भांडार की श्रीवृद्धि हो सकेगी।

भारतीय सूफ़ियों का सांस्कृतिक योगदान

भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है और इसका इतिहास भी कम पुराना नहीं है। इसके निवासी चिरकाल से ही विदेशी लोगों के साथ संपर्क रखते आये हैं और आचार-विचार के विषय में, उनसे इनका बराबर आदान-प्रदान भी होता रहा है। इसलिए यहाँ के लोगों की संस्कृति क्रमशः बहुरंगिनी बनती चली आई है और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसके संश्लिष्ट होने में ही दीख पड़ती है। क्या भाषा-भाव, क्या मत-मतान्तर, क्या कला-उद्योग, क्या रहन-सहन, क्या प्रथा-परंपरा, क्या पर्व-त्योहार क्या उत्सव-मनोरंजन—यदि हम इन पर कुछ भी ध्यान देकर विचार करें तो—इसके इन सभी अंगों में एक विचित्र वैविध्य प्रतीत होगा और यह पंचमेल भी केवल रूपगत मात्र ही नहीं है। इसकी बहुत-सी बातें हमें मानव-समाज के उन स्तरों तक की ओर भी संकेत करती जान पड़ती है जो अभी तक अर्द्धविकसित कहे जाते हैं। बात यह है कि हमारा संपर्क कभी न कभी अर्द्धसभ्य आर्येतर जातियों से लेकर पूर्णसभ्य एवं प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र तक से रहता चला आया है और हमारी वर्त्तमान संस्कृति के निर्माण एवं विकास में उन सभी ने अपना-अपना हाथ बँटाया है। इसके सिवाय भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत हमें विभिन्न विषमताओं का केवल समाहार ही नहीं लक्षित होता। इसके भीतर उन सभी का कुछ न कुछ परिमार्जन भी होता आया है और तदनुसार उन पर सामंजस्य और समन्वय का रंग भी चढ़ता गया है।

सूफ़ी लोगों का प्रवेश इस देश में पहले पहल ऐसे समय हुआ, जब इसके प्राचीन युग का प्रायः अंत हो चुका था। उस समय तक

इसके मध्ययुग का, वस्तुतः आरंभ भी हो चुका था और भारतीय समाज उसके लिए तैयारियों में लगा हुआ था। इसकी चिरकालीन भावनाओं पर उस समय तक बौद्ध एवं जैन धर्मों की श्रमण संस्कृति का प्रभाव पूर्णरूप से पड़ चुका था और तंत्रमत एवं योगमार्ग के प्रचार ने इसकी धार्मिक मनोवृत्ति में बहुत कुछ परिवर्तन भी ला दिया था। अपनी स्थिति पर एक बार पुनर्विचार करने की चेष्टा में प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों पर विभिन्न भाष्यों की रचना आरंभ हो गई थी। नवीन युग के आदर्शों पर समाज का पुनःसंगठन करने के लिए विविध निबन्धों एवं स्मृतियों द्वारा व्यवस्थाएँ भी दी जाने लगीं थीं। इस प्रकार भारतीय लोग उस समय तक अपनी परंपरागत रूढ़ियों और स्वीकृतियों को समझने और सँभालने की ओर पूर्णतः अग्रसर हो चुके थे। इसके लिए यत्न करते समय, उनकी प्रवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख भी होता जा रहा था। फलतः ऐसे ही वातावरण ने पीछे सर्वजनोपयोगी भक्ति विषयक आन्दोलनों का मार्ग प्रशस्त किया और इसी ने देश में प्रचलित अपभ्रंशों के आधार पर विविध लोकभाषाओं को जन्म देकर उन्हें प्रश्रय और प्रोत्साहन भी प्रदान किया। सूफ़ियों के इस समय आ जाने के कारण हमारे इस सांस्कृतिक विकास में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ और उन्होंने इसके निर्माण-कार्य में योग-दान भी दिया।

सूफ़ियों का संप्रदाय इस्लाम धर्म का एक अंग था और उस पर 'क़ुरान शरीफ़' तथा हज़रत मुहम्मद के जीवन का गहरा प्रभाव था। किंतु उसके प्रमुख प्रचारकों ने अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाये रखने की चेष्टा में, उसमें बहुत सी ईसाई, नव अफ़लातूनी, बौद्ध, फ़ारसी एवं हिन्दू मान्यताओं का भी समावेश कर लिया था। तदनुसार उसका भी रूप कुछ न कुछ समन्वयात्मक ही हो गया था और उनके प्रचार कार्य की आकर्षक शैली के भी कारण, उसके लोकप्रिय बन जाने में उतनी कठिनाई नहीं पड़ी। फलतः भारत में इस्लाम धर्म का स्थायी

प्रभाव जितना इसके द्वारा पड़ा, उतना मुस्लिम शासकों की बलपूर्वक धर्मान्तरित करने वाली नीति के सहारे भी नहीं पड़ पाया। यदि सच पूछा जाय तो भारतीय इस्लाम धर्म का वर्त्तमान रूप भी अधिकतर उन सूफ़ियों की ही देन है। सूफ़ियों ने यहाँ आकर भारतीय विचारधारा पर अपना प्रभाव डाला, नवीन धार्मिक आन्दोलनों को अनुप्राणित किया और भारतीय समाज के नव विकसित रूप तथा लोकभाषा-साहित्य के निर्माण में भी अपना सहयोग प्रदान किया।

भारतीय समाज का तात्कालीन रूप विभिन्न जातियों के न्यूनाधिक विश्रृंखलित समुदाय मात्र का था। इसका प्रत्येक अंग अपनी-अपनी मान्यताओं के लिए स्वतंत्र था। उसमें से किसी में न तो सामूहिक एकता की भावना थी, न वह इसे आवश्यक मानता था। धार्मिक विश्वासों और साधनाओं का भी रूप यहाँ पर प्रायः व्यक्तिगत ही था, सामुदायिक नहीं। परंतु इस्लाम धर्म के इन सूफ़ी अनुयायियों ने जब संघबद्ध धर्माचरण पर विशेष बल देना आरंभ किया तो इनके प्रचार-कार्य की प्रतिक्रिया में यहाँ के लोगों के भीतर भी क्रमशः 'हिन्दूपन' का भाव जाग्रत होने लगा और इनके सामने किसी प्रकार की सामूहिक एकता का एक धुँधला आदर्श निर्मित होने लगा। धर्मशास्त्रों के पंडित विविध जातियों और संप्रदायों के लिए सर्वसम्मत नियम ढूँढ़ निकालने के यत्न करने लगे और सभी हिन्दुओं के लिए लगभग एक ही प्रकार के पर्व-त्यौहार, व्रत-उपवास एवं संस्कारों के लिए समुचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से शास्त्रीय वचनों की चर्चा एवं व्याख्या भी की जाने लगी। इसी प्रकार, भक्ति-मार्ग के अनुयायियों में कहीं-कहीं पर सामूहिक प्रार्थना की परंपरा भी, उनके अनुकरण में चल निकली और सबका सामूहिक भजन एवं कीर्तन भी होने लगा।

सूफियों के कारण भारतीयों की गुरु-भक्ति विषयक भावनाओं में भी एक बहुत बड़ा परिवर्त्तन हो गया। भारतीय विचारधारा के अनुसार किसी

गुरु के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली भक्ति विशेषतः उसके द्वारा शिक्षा प्राप्त शिष्य की ओर से ही देखी जाती थी। यह उसे कभी-कभी अपने पिता से भी बढ़कर समझा करता था और दार्शनिक उपदेशों का प्रदाता गुरु 'यथा देवे तथा गुरौ' के अनुसार देवतुल्य भी हो जाता था शिष्य वा साधक ऐसे गुरु के निकट 'समित्पाणि' होकर जाता था और 'परिप्रश्न' तथा 'सेवा' द्वारा उससे रहस्यों का ज्ञान उपलब्ध करता था। परंतु सूफ़ियों की धारणा के अनुसार प्रत्येक धर्मोपदेशक पीर में मानवत्व के साथ ही देवत्व की भावना भी अन्तर्हित रहा करती थी। वह स्वयं देवरूप हो जाया करता था और उसका प्रत्येक मुरीद उससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उसके साथ एक ऐसी आनुवंशिक श्रृंखला निर्मित कर देता था जिसकी सभी कड़ियाँ तत्वतः एक और अभिन्न थीं। सूफ़ियों की इस मान्यता का भी पूरा प्रभाव पड़ा। शांकराद्वैतवाद के अनुयायियों ने स्वामी शंकराचार्य को स्वयं शिव का रूप मान लिया और विशिष्टाद्वैत के आचार्यों तथा आडवारों की मूर्तियों की पूजा स्वयं विष्णु की भाँति, सांप्रदायिक मंदिरों में होने लगी। इसके सिवाय इन दोनों संप्रदायों के प्रधान मठों में क्रमशः शंकराचार्यों तथा रामानुजाचार्यों की परंपराएँ भी चल निकलीं जो आज तक वर्त्तमान हैं।

इसी प्रकार सूफ़ियों की प्रेमतत्व सम्बंधी धारणा का भी प्रभाव यहाँ पर बिना पड़े न रह सका। भारतीय प्रेम-भाव का रूप पहले शुद्ध मानवीय मात्र था और उसकी गति ईश्वरोन्मुख नहीं थी और न उसे आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचाने की कभी कल्पना भी की जाती थी। सूफ़ियों ने ही यहाँ पहले पहल 'इश्क़ मज़ाजी' तथा 'इश्क़ हक़ीकी' की सात्विक एकता का आदर्श सबके सामने रखी। उन्होंने अपने यहाँ की प्रेमगाथा-शैली के सहारे इस बात को सिद्ध करने का सफल यत्न भी किया कि पार्थिव प्रेम किस प्रकार ईश्वरीय बन सकता है। यह अवश्य है कि सूफ़ियों के आदर्शानुसार केवल पुरुष की ओर से स्त्री के प्रति प्रदर्शित किये जाने वाले प्रेम को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा और इसी

बात को ये ईश्वरीय प्रेम के सम्बंध में घटाने की चेष्टा करते रहे। किंतु इसके कारण, यहाँ पर कोई बाधा नहीं पड़ सकी और भारतीयों ने अपने, स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति व्यक्त किये जाने वाले प्रेम के आदर्श का निर्वाह दाम्पत्य भाव की भक्ति का एक ऐसा मार्ग निकाल कर किया जिसके अनुसार केवल परमात्मा ही एक पुरुष समझा गया और सभी आत्माएँ उसकी नारी मान ली गई। इसके सिवाय भारत में, जहाँ स्वकीया का प्रेम अधिक महत्व रखता था और परकीया सम्बंधी प्रेम-भाव को उससे निम्नतर कोटि में स्थान दिया जाता था, वहाँ सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति के अनुसार इन दोनों की ही महत्ता एक समान स्वीकार कर ली गई।

सूफ़ियों के प्रेमादर्श का परिणाम यहाँ पर एक दूसरे ढंग से भी दीख पड़ा। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के लगभग उत्तरी भारत में निर्गुणोपासक संतों की एक परंपरा चल निकली जिनकी बहुत-सी बातें सूफ़ियों के सिद्धान्तों से मिलती-जुलती थी। इन संतों ने भी सूफ़ियों की ही भाँति निराकार परमात्मा को अपनी प्रेमलक्षणा-भक्ति का लक्ष्य बनाया और उस अशरीर प्रेमपात्र के साथ प्रत्यक्ष संयोग उपलब्ध न कर सकने की दशा में, उन्हीं के आदर्शानुसार विरहावस्था का अधिक वर्णन भी किया। इतना ही नहीं संत कबीर साहब आदि की उपलब्ध रचनाओं को पढ़ने पर कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन लोगों ने उन सूफ़ियों का अनुसरण कई अन्य बातों में भी किया था। कबीर साहब की रचनाओं के शीर्षकों पर प्रसिद्ध सूफ़ी फ़रीदुद्दीन अत्तार के ग्रन्थ 'पंदनामा' का भी प्रभाव बतलाया जाता है[1]। इसी प्रकार गुरु नानक की उपासना के चार अंगों—सरनखंड, ज्ञानखंड, करमखंड, एवं सचखंड—के आदर्श सूफ़ियों के शरीअत, मारिफ़त, उक्बा तथा लाहूत नामक मुक़ामात समझे जाते हैं।[2] इसके सिवाय इन संतों ने

1. Dr. Tarachand : Influence of Islam on Indian Culture, p. 151
2. Do. p. 176

सूफ़ियों के ही सिद्धान्तों के अनुकरण में सृष्टि के उपादान कारण को 'नूर' की संज्ञा दी, इसके स्रष्टा को 'कर्त्ता' के नाम से अभिहित किया, अपने सद्गुरु को, हृदय को दर्पणवत् स्वच्छ एवं निर्मल कर देने वाला 'सिकलीगर' ठहराया, भारतीयों के शास्त्रसम्मत षड्रिपुओं में से केवल पाँच के ही नाम लिए। उनकी शब्दावली के महत्वपूर्ण शब्दों को अपनाने मात्र से ही संतोष न कर बहुधा अशिक्षित होने पर भी फ़ारसी भाषा में रचना का प्रयास किया। इन संतों में से कई एक का प्रत्यक्ष सम्बंध भी क़िसी न किसी सूफ़ी के साथ बतलाया जाता है। गुरु नानक एवं शेख़ फ़रीद् के बीच गाढ़ी मैत्री थी, संत दादू दयाल को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने शेख़ बुड्ढन सूफ़ियों के क़ादिरी संप्रदाय के एक प्रसिद्ध पीर थे। संत बाबालाल के साथ सत्संगों के ही परिणाम स्वरूप शाहज़ादा दाराशिकोह को 'मारिफ़त' का राज़ हासिल हुआ था। इसी प्रकार सूफ़ी पीरों के वातावरण में आने के कारण, संत प्राणनाथ, रामचरन एवं दरिया साहब (बिहारी) की विचारधारा में इस्लामी धारणाओं का प्रवेश हुआ था और उन्होंने अपने अनुयायियों में इनका प्रचार भी किया था।

सूफ़ियों की विचारधारा तथा साधना-पद्धति आदि का प्रभाव दक्षिण एवं पूर्वी भारत पर भी कम नहीं पड़ा। स्वामी रामानुजाचार्य की प्रवृत्ति विषयक भावना के मूलस्रोत का पता लगाते समय बहुत से विद्वान इस्लाम शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ आत्मसमर्पण की भी ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार लिंगायत शैवों के जगद्गुरु सूचक शब्द 'अल्लामा प्रभु' का साम्य अरबी भाषा की शब्दावली में ढूँढ़ा करते हैं। इन वैष्णव एवं शैव संप्रदायों की ओर से वर्णाश्रमधर्म की संकीर्णता का परित्याग किये जाने का श्रेय भी सूफ़ियों के प्रभाव को ही दिया है। लिंगायतों ने अपने संप्रदाय के सर्वप्रथम प्रचारक बसव को स्वयं शिवरूप में स्वीकार किया और उनके सर्वप्रथम चार उत्तराधिकारियों अर्थात् रेवान, मरूल-एकोराम एवं पण्डित को हज़रत मुहम्मद के चार इमामों की ही भाँति,

लगभग उतना ही महत्व प्रदान किया। इन लिंगायतों को अपने अल्लामाओं के नेतृत्व में अधिक से अधिक आस्था रखना और युद्धादि तक में प्रवृत्त होना भी इसी बात को सिद्ध करता है।

पूर्वी भारत के बंगदेशीय 'धर्मसंप्रदाय' के ग्रन्थ 'शून्यपुराण' में एक आख्यान मिलता है जिसके अनुसार जिस समय ब्राह्मणों ने सर्वसाधारण के ऊपर अपना अत्याचार आरंभ किया, उस समय सबकी रक्षा के लिए 'धर्म' स्वयं वैकुण्ठ से चल पड़े और यहाँ आते समय उन्होंने मुस्लिम का रूप धारण करके अपना नाम 'खोदा' रख लिया और सभी देवों ने भी ऐसा ही किया। इस प्रकार की भावनाओं द्वारा प्रभावित होने के ही कारण, वहाँ की जनता में 'सत्यपीर' की भी उपासना स्वीकार की गई थी। महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय की एक शाखा के रूप में 'कर्त्ताभाजा' लोगों का पंथ प्रचलित हुआ था। इन कर्त्ताभाजाओं के मंतव्यानुसार ईश्वर एकमात्र है जो कर्त्ता के रूप में अवतरित होता है, महाशय अर्थात् सद्गुरु को ही सर्वेसर्वा मानना चाहिए, सांप्रदायिक मंत्र का पाठ दिन में पाँच बार नियमित रूप से करना चाहिए। शुक्रवार को अधिक महत्व देना चाहिए और प्रेमाभक्ति ही एक मात्र ऐसी साधना है जिसके द्वारा अंतिम सांप्रदायिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। ये सभी बातें सूफ़ियों के ही अनुकरण में स्वीकृत थीं। इसके सिवाय बंगाल के सहजिया वैष्णवों की प्रेमसाधना तथा वहाँ के बाउलों की रहनी अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के आदर्शों का निर्माण भी ठीक सूफ़ियों की भावधारा के ही अनुकूल हुआ था और इन दोनों का प्रचार वहाँ पर सफल भी रहा।

बंगाल के इन धार्मिक आन्दोलनों ने जिस प्रकार, यहाँ की जनता में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना प्रचलित की, उसी प्रकार भारत के सुदूर उत्तर काश्मीर प्रान्त में भी वहाँ के शाह हमदाना मखदूम शाह, शेख नूरुद्दीन आदि सूफ़ियों ने अपना प्रभाव डाला। वहाँ की प्रसिद्ध स्त्री

संत लालदेद का शाह हमदान के साथ मित्रता का भाव था और उन दोनों ने इस भावना के प्रकार में सहयोग किया। काश्मीर की 'मियाँ राजपूत' जैसी कई जातियों की उत्पत्ति भी ऐसे ही कारणों से हुई थी। इसी प्रकार सूफ़ी संतों द्वारा ऐक्य भावना का प्रचार भारत के सुदूर पश्चिमी प्रदेश सिंध में भी हुआ था और उसके कारण वहाँ पर सांप्रदायिक संकीर्णता का प्रायः लोप हो गया था। शाह लतीफ़ और सचल जैसे सूफ़ियों ने वहाँ पर ऐसा मंत्र फूँका जिसके प्रभाव में वहाँ की भाषा एवं भाव दोनों में प्रचुर उदारता आ गई। भारतवर्ष के अन्तर्गत पूर्वी बंगाल, काश्मीर एवं सिंध ही ऐसे तीन प्रदेश थे, जहाँ पर हिन्दू एवं मुस्लिम समाजों में अत्यन्त कम अंतर रहा।

भारत के साहित्य, संगीत एवं अन्य ललित कलाओं पर भी सूफ़ियों का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं है। हिंदी भाषा के संत-साहित्य पर पड़े हुए इनके प्रभाव का उल्लेख अभी कुछ ही पहले कर चुके हैं। सूफ़ियों ने इस भाषा के लिए जो पृथक् प्रेमगाथा साहित्य का निर्माण किया है उसका महत्व भी इसके किसी भी अन्य वाङ्मय से कम नहीं। मुल्ला दाऊद से लेकर अभी विक्रम की बीसवीं शताब्दी तक के सूफ़ी कवियों ने इसे एक से एक अनमोल रत्न प्रदान किये हैं। भारत के फ़ारसी एवं उर्दू साहित्यों से तो यदि सूफ़ी भावनाएँ तथा सूफ़ी शब्दावली निकाल दी जाय तो उनमें कुछ अधिक रह ही नहीं जाता। लहंदी, सिंधी, पंजाबी, एवं काश्मीरी साहित्यों में भी जो कुछ ठोस और आकर्षक है वह अधिकतर इन सूफ़ियों की ही देन है। सूफ़ियों ने भारतीय संगीत की परंपरा को भी क़व्वाली, ग़ज़ल, ख्याल, एवं अन्य इस प्रकार के गति एवं तर्ज़ें दी हैं। भारतीय शिल्प के लिए उन्होंने जो कर्बला और समाधियों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे इस देश के लिए गौरव की वस्तु है।

सूफ़ियों के इस प्रकार हमें स्थायी रूप से प्रभावित करने का

वास्तविक रहस्य इस बात में निहित था कि उन्होंने यहाँ आकर हमारी सभी बातों को पहले समझने का यत्न किया और उनमें से बहुतों को अपनाकर हमारे समान ही लेने की भरपूर चेष्टा भी की थी। इसके अतिरिक्त ईरानी संस्कार एवं आर्य संस्कार के मूल में भी कम समानता न थी।

भारतीय साहित्य में विश्व-बन्धुत्व की भावना

भारतीय संस्कृति के प्रारंभिक रूप की एक झलक हमें वैदिक साहित्य में मिलती है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि वेद कालीन आर्यों का जीवन-क्रम अत्यन्त सीधा सादा था और उनकी आवश्यकताएँ भी बहुत सीमित थीं। वे अधिकतर वनों में रहा करते थे, खेती किया करते थे और पशुओं का पालन भी करते थे। उनकी मित्र-मंडली में स्वभावतः अपने वर्ग के ही लोग रहा करते थे और इसी प्रकार उनके शत्रुओं में वे लोग गिने जाते थे जिन्हें वे अनार्य कहते थे। उन अनार्यों के साथ में प्रायः लड़ा-भिड़ा करते थे और उन पर विजय प्राप्त कर इन्होंने विस्तृत भूमि उपार्जित करली थी। परंतु, फिर भी ये उनके प्रति किसी प्रकार के स्थायी वैर की भावना रखते हुए नहीं जान पड़ते। जब ये कभी परमात्मा की स्तुति करने लगते हैं तो उनके प्रति भी इनके हृदयों से प्रायः मैत्री भाव की ही अभिव्यक्ति होती हुई प्रतीत होती है। ऐसे अवसरों पर इनका कहना है—"मुझे मित्र से भय न रहे, अमित्र वा शत्रु से भय न रहे, अपने परिचितों से भय न रहे अपरिचितों से भय न रहे, रात को भय न रहे, दिन को भय न रहे और सभी दिशा के लोग मेरे मित्र बने रहें।"[1] वास्तव में, ये अन्यत्र इस प्रकार भी कहते हैं—"हे परमेश्वर मुझे समस्त प्राणी गण मित्र की आँख से देखें और मैं भी सभी प्राणियों को मित्र की आँख से देखूँ। हम सभी एक दूसरे को, भले प्रकार से, एक मित्र की ही आँख से देखा करें।"[2]

---

१. अथर्ववेद (१६-१५-६)। २. यजुर्वेद (३६-१८)।

वेद कालीन आर्यों के अनुसार उनके पशुओं के लिए भी शान्ति और अभय की दशा उसी प्रकार अभीष्ट थी। उनका कहना था कि "हे भगवन् हमारी प्रजाओं के लिए शान्ति प्रदान कर तथा पशुओं के लिए भी अभय प्रदान कर[१]" और "हे इन्दु! तुम हमारे द्विपदऽभृत्यादि) और चतुष्पद (चौपायों) के लिए भी कल्याणकारी बनो।"[२] बहुत से लोग उनकी इस प्रकार की उक्तियों को कोरी स्वार्थपरता पर ही आधारित मान लेने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। परंतु, यदि उपनिषद् साहित्य की ओर भी दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसका मूल कारण उनका वह दार्शनिक दृष्टिकोण भी हो सकता है जिसके अनुसार, सारे विश्व के भीतर एवं बाहर तक भी, सिवाय एक आत्मा के और कुछ भी सत्य नहीं, एक ही आत्मा सर्वत्र ओतप्रोत है जिस कारण किन्हीं भी दो व्यक्तियों वा पदार्थों में भी कोई मौलिक भेद नहीं है। जैसा कि 'ब्रह्मविन्दूपनिषद्' में कहा गया है— "एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूत वा पदार्थ में व्यवस्थित है और वही, जल में चन्द्र के प्रतिबिंब की भाँति, एक होता हुआ भी, अनेक रूपों में प्रतीत होता रहता है।"[३] फिर इसी बात को, एक दूसरे प्रसंग में, 'ईशोपनिषद्' के अन्तर्गत भी इस प्रकार कहा गया है—"यह सारा का सारा जगत् और उसमें जो कुछ भी दीखता है वह ईश्वर द्वारा अधिष्ठित है। इस कारण तू उसका त्याग भाव से ही उपभोग कर और किसी के धन का लोभ न कर।"[४] अतएव, इसी उपनिषद् के अनुसार "जो व्यक्ति संपूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा का ही अनुभव करता है, वह इस सर्वात्मवादी मनोवृत्ति के कारण, किसी से भी घृणा नहीं करता।"[५] तथा, इसीलिए "जिस समय

---

१. यजुर्वेद (३६-२२)।
२. वही, (३६-८)।
३. ब्रह्मविन्दूपनिषद् (१-१२)।
४. ईशोपनिषद् (१-१२)।
५. वही, (६)।

ज्ञानी पुरुष के लिए स भी भूत आत्मवत् हो गए। उस समय क्या उस एकत्वदर्शी को कभी शोक वा मोह हो सकता है ?"[१]

इस प्रकार, यदि ऐसा कहा जाय कि विश्व-बन्धुत्व की भावना के लिए, कम-से-कम उपनिषदों की रचना के समय, उसके दार्शनिक मूलाधार पर अधिक बल दिया जाता था तो कदाचित्, अत्युक्ति न होगी। इस बात के उदाहरण हमें 'महाभारत' की रचना के समय तक भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं और 'गीता' में तो ऐसे ही ज्ञान को 'सात्विक' भी कहा गया है; जैसे, "जिस ज्ञान से यह समझ पड़ता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों में एक ही अविभक्त और अव्यय भाव (आत्मा) है वही सात्विक ज्ञान[२] है, तथा उसी ग्रन्थ में अन्यत्र, सर्वोत्कृष्ट योगी का परिचय देते समय भी कहा गया है—"हे अर्जुन, 'सुख हो या दुःख', अपने ही समान औरों को भी होता है जो ऐसी आत्मोपम्य दृष्टि से सर्वत्र देखने लगे वही योगी परम वा उत्कृष्ट माना जाता है।"[३] किंतु इस मनोवृत्ति का कहीं अधिक स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूप हमें वहाँ लक्षित होता है जब हम अनेक महापुरुषों द्वारा यह कहते हुए भी सुनते हैं कि हम न केवल सभी प्राणियों के दुख से दुखी हैं, अपितु उन्हें दुःख रहित कर देने के लिए कटिबद्ध भी हैं। ऐसा स्वर हमें सर्वप्रथम, कदाचित् 'महाभारत' में ही सुन पड़ता है, जहाँ कहा गया है—"मैं न तो राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग की इच्छा रखता हूँ और न मोक्ष ही मेरा परम ध्येय है, मैं तो यही चाहता हूँ कि किसी प्रकार दुखी प्राणियों का कष्ट दूर कर सकूँ।"[४] यही बात कहीं-कहीं ऐसी शुभेच्छा के रूप में भी दीख पड़ती है—"सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी अपने कल्याण के भागी बने और कोई भी किसी प्रकार दुख का अनुभव न करे।"[५]

---

१. वही, (७)।
२. भगवद्गीता (१८-२०)
३. वही, (६-३२)।
४. महाभारत
५. गरुड़ पुराण, उत्तर ३५-५१।

और न बातों से वह भावना, वस्तुतः क्रियात्मक रूप ग्रहण कर लेती है।

विश्व-बन्धुत्व की भावना के इस दूसरे वा क्रियात्मक रूप के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण हमें श्रमण-साहित्य में मिलते हैं। महात्मा गौतम बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व की ओर से पूरी उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए सारी संसृति को ही दुःखमूलक ठहराया था। अतएव, उनके अनुसार सभी प्राणी दुख के गर्त्त में पड़े हैं और उनका उद्धार करना हमारा परम कर्त्तव्य होना चाहिए। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'करुणा' की भावना को भी विशेष महत्व दिया तथा 'मेत्ता' वा मैत्री को पूर्णतः व्यवहार में लाने की चेष्टा की। सारिपुत्त के अनुसार—"अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अंगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और अपने पुत्र राहुल के प्रति, इन सभी के प्रति वे मुनि एक समान थे।"[1] भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है—"हे वाशिष्ठ, जैसे कोई बलवान शंख बजाने वाला थोड़े ही परिश्रम से चारों दिशाओं को गुंजा देता है, उसी प्रकार मित्र-भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से भी जो कार्य होता है उसकी व्यापकता बढ़ जाती है।"[2] और इसी बात को 'धम्मपदं' के भी अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है—"वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अवैर से वैर शान्त होता है, यह सनातन धर्म है,"[3] जैन धर्म के महान तीर्थङ्कर महावीर ने इस तथ्य को पूर्ण महत्व देते समय, 'अहिंसा' को सर्वप्रमुख स्थान दिया है। उनके मतानुसार तो ज्ञानी होने का भी सार यही है कि किसी की हिंसा न की जाय। इस हिंसा से अभिप्राय केवल जीव-हत्या का ही नहीं, न इसे किसी का जी दुखाने तक भी सीमित किया जा सकता है। इसकी व्यापकता का कुछ

---

१. मिलिन्द प्रश्न (ओपम्म कथा)। ३. धम्म पदं (१-६)।

२. तेविज्ज सुत्त (दीघ० १-१३)।

आभास जैन दर्शन के उस अनेकान्तवाद के आधार पर भी कराया जा सकता है जिसके अनुसार प्रत्येक मत का अपना एक पृथक महत्व है मेत्ता और अहिंसा इन दोनों के ही लिए अन्तर्वृत्तियों की समुचित साधना अपेक्षित रही। इनका व्यावहारिक रूप विशुद्ध नैतिक आचरण में दीख पड़ता था जिसे पीछे निर्वैर धर्म की भी संज्ञा दी गई और जिसका कबीरादि संतों ने भी प्रचार किया।

संतों के समय तक भारत में इस्लाम धर्म का भी प्रवेश हो चुका था और मुस्लिम संस्कृति का क्रमशः कुछ-न-कुछ प्रभाव भी पड़ने लगा था, जिस कारण उसके द्वारा प्रचारित विश्व-बन्धुत्व की भावना का भी यहाँ यत्किंचित् अपना लिया जाना असंभव न था। इस्लामी विश्व-बन्धुत्व के मूल में कोई दार्शनिक सिद्धान्त नहीं काम करता था और न विश्व के प्राणियों के प्रति पूरी सहानुभूति का ही भाव था। इसका प्रमुख आधार किसी जगन्नियन्ता के केवल एकमात्र होने में दृढ़ विश्वास मात्र था। इस्लाम के अनुयायियों का यह एक दावा भी था कि उस विश्वव्यापक भ्रातृ-भाव का सम्बंध भी केवल उन्हीं में संभव है जो उनके "इस प्रकार के दीन में पूरा ईमान लाने" वाले हों। इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनकी विश्व-बन्धुत्व-सम्बंधी इस भावना के कारण विभिन्न धार्मिक वर्गों का अस्तित्व भी स्वीकृत हो जाय। कम-से-कम भारतवर्ष की जनता पर तो इसका प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सका और भारतीय संस्कृति के मध्यकालीन रूप में हमें इस प्रकार की दो भिन्न-भिन्न मान्यताओं के चिह्न अवश्य लक्षित हुए जिनमें से एक के पोषक यदि मुसलमान थे तो दूसरी को प्रश्रय देने वाले अपने को स्पष्ट शब्दों में 'हिन्दू' कहने लगे और इन दोनों के पारस्परिक विरोध की मात्रा में वृद्धि हो गई। कबीर आदि निर्गुणी संतों एवं सूफ़ियों को ऐसी ही स्थिति को सँभालने एवं प्रेम-भाव फैलाने के लिए जीतोड़ यत्न करने पड़े।

भारतवर्ष पर मुसलमानों का आधिपत्य पाँच सौ वर्षों से भी कुछ अधिक समय तक रहा और इस अवधि के भीतर तथा इसके आगे भी

कुछ दिनों तक, विश्व-बन्धुत्व की भावना पर, यहाँ न्यूनाधिक मज़हबी रंग ही चढ़ता चला गया जिसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि ईश्वरवाद को इसके लिए मूलाधार मानते हुए भी, न तो वहाँ वैदिक युग की भाँति किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष बल था, न उसके पीछे श्रमण संस्कृति वाले त्याग की नैतिक प्रेरणा ही काम करती थी। इसके सिवाय इस्लामी ईश्वरवाद के साथ अनेक ऐसी अन्य स्वीकृतियाँ भी लगी हुई थीं जो सब किसी धार्मिक वर्गों के लिए एक समान मान्य नहीं हो सकती थीं। इनके कारण, इसीलिए विश्व-बन्धुत्व की भावना में बाधा भी पड़ सकती थी जिसका एक परिणाम यह हुआ कि यहाँ की भारतीय संस्कृति पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका। आधुनिक जगत की विविध आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियों के फलस्वरूप स्वयं ईश्वरवाद की मूल धारणा को ही ठेस पहुँचते देर नहीं लगी और तदनुसार विश्व-बन्धुत्व की भावना को भी कोई नया रूप देने की जरूरत पड़ी। इसीलिए हम देखते हैं कि जो बात पहले आत्मनिष्ठ एवं आचरणपरक मात्र ही लगती थी, वह आज क्रमशः वस्तुनिष्ठ एवं संगठनप्रसूत बनती चली जा रही है और एक ऐसी भावना उदय ले रही है जो अनेक तत्वों पर आधारित होगी।

आधुनिक जगत के विभिन्न देशों वा जातियों ने अपने-अपने यहाँ राष्ट्रीय संघटन सम्बंधी आन्दोलनों को जन्म देकर आपस में प्रतिस्पर्धा के भाव जाग्रत कर लिए हैं जिससे प्रायः अशान्ति की आशंका खड़ी हो जाया करती है। उनके चिन्तनशील नेताओं ने इसी कारण कई बार अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं की योजना का उसके द्वारा विश्वशान्ति लाने का स्वप्न देखा है और इस बात में उनके साथ स्वयं भारत ने भी सहयोग किया तथा हाथ बँटाया है। इसने अपने यहाँ धर्म-निरपेक्ष राज्य की प्रतिष्ठा की है और दूसरों के साथ व्यवहार के लिए यह 'पंचशील' सम्बंधी आदर्श का भी पूरा प्रचार करने लगा है। यह देश उन मनीषियों के स्वर में अपना स्वर मिलाने के लिए भी उत्सुक रहता है जो विशुद्ध

मानवतावाद के प्रचारक रहे हैं। अतएव, अन्य अनेक देशों के लोग जहाँ इन सारी बातों को केवल किसी राजनीतिक सहूलियत जैसा ही महत्व देते होंगे, वहाँ यह देश अपने प्राचीन आदर्शों के आधार पर आज भी बहुत स्पष्ट शब्दों में कहता है—"भारत का धर्म समस्त समाज का धर्म है, इसका मूल पृथ्वी में, किंतु इसका शिखर आकाश में है और फिर भी दोनों अन्योन्याश्रय हैं। भारत ने धर्म को सदा द्युलोक वा भूलोक के समस्त प्राणियों के ही जीवन-व्यापी विशाल वृत्त के रूप में देखा है।" —रवीन्द्रनाथ टैगोर

संस्कृत काव्य में कल्याण-कामना

काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य भरत ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के अंतर्गत एक स्थल पर काव्य के प्रयोजन की ओर संकेत करते हुए कहा है कि यह धर्म, यश और आयु का साधक, हित एवं बुद्धि का वर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है। उनके इस कथन का आशय यह है कि काव्य-रचना का उद्देश्य जितना उसके द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति को लाभ पहुँचाना रहता है उससे कहीं अधिक स्वयं कवि के लिए भी उसे कल्याणप्रद बनाना रहा करता है। इस बात का कुछ और स्पष्टीकरण भरत के परवर्ती आचार्य भामह के इस कथन से भी हो जाता है जिसमें उन्होंने सत्काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—अर्थात् चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति, कलाओं में निपुणता तथा कीर्ति एवं प्रीति की उपलब्धि का सिद्ध होना बतलाया है। इस प्रकार, उन्होंने लोकोपदेश अथवा दूसरों के लिए पथ-निर्देशन का उल्लेख तक भी नहीं किया है। इनके पीछे आने वाले अन्य अनेक भारतीय आचार्यों ने भी उधर लगभग इसी पथ का अनुसरण किया है। काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते समय, उन्होंने चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति एवं यश तथा आनन्द की अवाप्ति और अशिव अर्थात् अनिष्ट के निराकरण जैसे व्यतिगत उद्देश्यों को विशेष महत्व प्रदान कर भरत मुनि के ही वक्तव्य की पुष्टि की है।

आधुनिक समय के काव्य-मर्मज्ञ काव्य रचना का प्रयोजन बहुधा आनन्द अथवा लोक-मंगल बतलाते हुए जान पड़ते हैं। इनका कहना है कि आनन्द का भाव किसी कवि के हृदय में, अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण, आपसे आप उठ जाया करता है। लोक-मंगल की संभावना स्वभावतः केवल तभी होती है जब कि उसकी कृति के अंतर्गत निहित

उत्तम आदर्शों की प्रेरणा से सर्वसाधारण का कल्याण भी संभव हो। हिंदी के मध्यकालीन कवि गो० तुलसीदास ने भी इन दोनों की चर्चा की है और अपने प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ 'रामचरितमानस' की रचना करते समय, उन्होंने एक ओर जहाँ उसका 'स्वान्तः सुखाय' निर्मित किया जाना कहा है, वहाँ दूसरी ओर सत्काव्य का आदर्श ठहराते हुए, उन्होंने यह भी बतलाया है कि उसका सुरसरि वा गंगा नदी के समान सब किसी के लिए हितकारी होना भी आवश्यक है। परंतु पाश्चात्य देशों के कतिपय साहित्य-मर्मज्ञों ने, 'कला कला के लिए' के आधार पर काव्य-रचना का निरुद्देश्य होना भी ठहराया है और कहा है कि "धर्म, धन, जातीयता, यश, शिक्षा—आदि सारी बातें कविता के मुख्य विषय नहीं, न इन्हें लक्ष्य करके लिखा गया काव्य किसी प्रकार महत्वपूर्ण ही समझा जा सकता है। कविता के उत्कृष्ट वा निकृष्ट होने का प्रमाण स्वयं कविता में ही निहित है, उसका अपना एक संसार ही है जो सर्वथा स्वतंत्र, पूर्ण और सर्वाङ्गीण है।' किंतु इस प्रकार के विचार वहाँ के लिए भी सर्वसम्मत नहीं कहे जा सकते। प्लेटो जैसे प्राचीन पण्डितों ने काव्य का उद्देश्य प्रधानतः नैतिक शिक्षा प्रदान करना तथा आधुनिक टालस्टाय जैसे मनीषियों ने उसका जीवन-सुधार परक होना भी माना है। फिर भी इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के प्रयोजन का वह रूप जिसे प्राचीन भारतीय आचार्य भरत मुनि ने कवि के व्यक्तिगत कल्याण में देखा था, उसे इधर वह महत्व उपलब्ध नहीं हुआ।

बात यह है कि आचार्य भरत ने जिस समय अपने ग्रन्थ 'नाट्य-शास्त्र' की रचना कर उसमें काव्य के प्रयोजन का धर्म, यश, आयु जैसे व्यक्तिगत हितों का साधक होना बतलाया था, उसके बहुत पहले से तथा पीछे तक भी अधिकतर ऐसे काव्यों की ही रचना होती रही जिनमें आत्मकल्याण की प्रवृत्ति प्रायः प्रमुख रूप में लक्षित होती थी। प्राचीन वैदिक साहित्य के देखने से पता चलता है कि उसके अंतर्गत स्तुतियों, प्रशस्तियों तथा शांतिपाठों की भरमार है और उसमें अनेक ऐसे

भी मंत्र वा छंद आये हैं जिनके केवल विधिवत् उच्चारण मात्र से भी कभी निखिल अनिष्टों का निराकरण सर्वथा संभव माना जाता था।

देवीं षड्उर्वीरुदनः कृणोत, विश्वे देवास इह मादयध्वम्।
मा नो विददभिभामो अशस्ति र्मानो विददवृजिना द्वेष्याया॥

अर्थात् हे छहों विस्तारमयी दिव्य दिशाओं, हमारा भी विस्तार करो। हे समस्त देवगण, हमारे भीतर भी आनन्द का विस्तार करो। हमें न तो कभी निराश होना पड़े, न किसी के द्वारा प्रसारित अपकीर्ति ही हमें प्रभावित कर सके। हमें कभी किसी अनिष्ट की आशंका भी न हो!

इस प्रकार के मंत्र वा छंद वैदिक साहित्य के अंतर्गत प्रचुर मात्रा में आये हैं और उनमें से अधिक मुक्तकों के ही रूप में हैं। उनमें विनय है, प्रार्थना है और मंगलमय अभीष्ट के लिए कामना भी प्रकट की गई है। किंतु उनमें किसी संकीर्ण हृदय की अभिव्यक्ति का प्रायः सर्वथा अभाव है। वे अपने रचयिताओं की अपूर्व निश्छलता एवं सदाशयता का ही स्पष्ट परिचय देते हैं। उनमें साधारण याचकों जैसी गिड़गिड़ाहट नहीं, न वैसे दीन-दुखियों की कोई करुण पुकार ही दीख पड़ती है। उनमें बहुधा वैसे कर्मठ व्यक्तियों का ही स्वर सुन पड़ता है जो स्वावलम्बन के महत्व से कभी अपरिचित नहीं कहे जा सकते। इसी कारण, यदि जो कभी किसी से कुछ चाहते हैं तो वह केवल इस विश्वास के ही साथ कि वह उन्हें किसी न किसी रूप में सहयोग वा निर्देश मात्र दे सकता है।

स्तुतिपरक रचनाओं के उदाहरण हमें पिछले संस्कृत साहित्य में भी बराबर मिला करते हैं। 'रामायण' एवं 'महाभारत' के उपलब्ध प्रामाणिक संस्करणों में तो हमें इनकी संख्या उतनी बड़ी नहीं दीख पड़ती, किंतु जहाँ तक पौराणिक साहित्य का सम्बंध है, ये वहाँ विविध

वह उनके संपर्क में रहना चाहता है, उनसे अपनी रक्षा की याचना करता है और सर्वदा इस बात के लिए लालायित रहता है कि हमारा कल्याण हो। इन स्तोत्रों में हमें पौराणिक स्तुतियों की भी अपेक्षा कहीं अधिक भाव-प्रवणता दीखती है। सुन्दर शब्द-चयन तथा उपयुक्त वाक्य-प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं और प्राय: ऐसी कथन-शैली भी पायी जाती है जिसमें काव्य का चमत्कार होता है। इनके उत्कृष्ट उदाहरणों में हम शंकराचार्य कृत 'देव्यपराध क्षमापन स्तोत्र', बाल्मीक रचित 'गंगा स्तुति' एवं रावण द्वारा निर्मित कहे जाने वाले प्रसिद्ध 'शिवताण्डव स्तोत्र' के नाम ले सकते हैं। इनमें से प्रथम के अंतर्गत जहाँ वात्सल्य भाव की अनुपम अभिव्यक्ति मिलती है, वहाँ द्वितीय में शब्द-चयन की पटुता एवं कथन-शैली का अपूर्व सौन्दर्य दीख पड़ता है। इसी प्रकार तृतीय की पंक्तियों में ऐसे शब्दालंकारों और लयाश्रित गति के दर्शन होते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन तीनों में भक्तों की वह भावना ही हमें दृष्टिगोचर होती है जो सभी ऐसे स्तोत्रों का बीजरूप है और जिसके पीछे एकांतिक प्रेरणा बन कर सदा आत्मकल्याण की कामना ही काम करती रहा करती है।

पौराणिक साहित्य के अंतर्गत इस सम्बंध में एक और भी बात उल्लेखनीय है जो कम महत्व की नहीं है। प्रायः सभी पुराणों की रचना किसी-न-किसी मंगलाचरणपरक श्लोक से ही आरंभ की गई पायी जाती है। वास्तव में मंगलाचरण कथन की परंपरा केवल पुराणों तक ही सीमित नहीं समझी जा सकती। मंगलाचरण अथवा स्तुतिपरक पद्यों के प्रयोग नाटकों, महाकाव्यों, कथाओं, आख्यानों तथा चरितों आदि से लेकर सैद्धान्तिक वा शास्त्रीय विवेचन वाले ग्रन्थों तक में बराबर देखे गए हैं तथा ये पालि एवं प्राकृत की रचनाओं तक में भी पाये जाते हैं। उनका प्रमुख उद्देश्य कवि या लेखक के लिए अपनी कृति में सफ़लता का पाना ही हो सकता है। हिन्दू पुराणों का आरंभ, जिस

प्रकार, उनके शैव, वैष्णव वा शाक्त जैसे संप्रदायों से सम्बद्ध होने के कारण, क्रमशः केवल उन्हीं के आराध्य की स्तुति से होता है, उसी प्रकार जैन पुराणों का आरंभ भी जिन स्तुति से ही हुआ करता है। इन स्तुतियों में प्रशंसात्मक वाक्य कहे जाते हैं, आराध्यों की जय मनायी जाती है और प्रायः स्पष्ट शब्दों में अपने मंगल की कामना भी व्यक्त की जाती है। परंतु नाटकों, महाकाव्यों अथवा अन्य इस प्रकार की रचनाओं में कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि उनके कवियों ने मंगलाचरण के व्याज से ही अपनी कृति के वर्ण्य विषय की ओर कुछ-न-कुछ संकेत कर दिया है। इसी प्रकार नाटकों के अंत में प्रायः 'भरतवाक्यम्' के नाम से कोई-न-कोई एक ऐसा पद्य भी जोड़ दिया गया मिलता है जिसमें सारे समाज के कल्याण की कामना प्रकट की गई रहती है। ये 'भरतवाक्यम्' आशीर्वादात्मक से प्रतीत होते हैं और उनका रूप सदा फलितार्थवत् नहीं हुआ करता। किंतु स्तोत्रों के अंत में बहुधा पाये जाने वाले ऐसे पद्यों का वास्तविक उद्देश्य केवल उन्हें पाठ करने वालों का ही कल्याण करना रहता है।

मंगलाचरण के कथन का किसी ग्रन्थ के केवल प्रारंभ में ही रहना अनिवार्य नहीं है। जिन ग्रन्थों में काण्ड, अध्याय वा सर्ग जैसे खण्ड होते हैं उनके ऐसे प्रत्येक भाग के आरंभ में भी इस प्रकार का मंगलसूचक पद्य दिया जा सकता है। ऐसे पद्य प्रायः उन काव्य ग्रन्थों में नहीं पाये जाते जिनमें किसी कथा वा चरित के वर्ण्य विषय का क्रम-विकास दिखलाना रहता है, क्योंकि उनके घटना-प्रवाह के बीच बराबर आते रहने से हमें किसी बाधा का भी अनुभव हो सकता है। परंतु जो ऐसे ग्रन्थ केवल विभिन्न मुक्तकों के संग्रह मात्र रहा करते हैं और उनमें संगृहीत पद्यों को उनके विषयानुसार वर्गीकरण कर एक से अधिक सर्गों वा खण्डों में विभाजित कर दिया गया रहता है, वहाँ कभी-कभी प्रत्येक खण्ड के आदि में वैसा पद्य रह सकता है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध

'भर्तृहरिशतकत्रयम्' के प्रत्येक शतक का आरंभ एक-न-एक नवीन मंगलाचरण से ही होता है और वहाँ पर भी उसमें विशेषता यह रहा करती है कि वह ठीक उसी मेल का होता है जो उसके शतक विशेष का प्रधान विषय हो ; जैसे, 'वैराग्य शतक' का आरंभ जहाँ 'दिक्कालाद्य-नवच्छिन्नानंत चिन्मात्र मूर्ति' परमतत्व के प्रति नमस्क्रिया से होता है वहाँ 'श्रृङ्गार शतक' के आदि में 'वाचामगोचरमनेकविचित्र' 'भगवान कुसुमायुध' कामदेव की वंदना की जाती है। इसी प्रकार 'नीतिशतक' का आरंभ करते समय भी सर्वप्रथम एक ऐसा पद्य रखा जाता है जो कदाचित्, ग्रन्थ के कवि के सारे जीवन के अनुभवों का निचोड़ है। इन तीनों शतकों की समस्त रचनाओं का जो चरम उद्देश्य है वह भी केवल मानव जीवन के कल्याण का ही बोधक हो सकता है।

प्राचीन समझे जाने वाले संस्कृत साहित्य के अंतर्गत कुछ ऐसे भी काव्य ग्रन्थ मिलते हैं जिनकी रचना का अन्तिम उद्देश्य उसके लेखक के लिए किसी विशिष्ट प्रकार का लाभ पहुँचाना रहा करता है। जैसे भर्तृ-हरि के ही कालज्येष्ठ समसामयिक माने जाने वाले मयूर कवि की एक रचना 'सूर्य शतक' नाम से प्रसिद्ध है जो उनका कुष्ठरोग दूर करने के लिए निर्मित की गई थी। कहा जाता है कि मयूर कवि प्रसिद्ध कादम्बरी के रचयिता वाण कवि के श्वसुर थे जिन्हें कुष्ठ रोग था और उन्होंने 'सूर्य शतक' की रचना कर सूर्य भगवान को प्रसन्न करके उससे मुक्तिलाभ की थी। इसी प्रकार 'आदित्य हृदय' नामक स्तोत्र का पाठ करके श्री रामचन्द्र का लंका के युद्ध में रावण के ऊपर विजय प्राप्त कर लेना भी बतलाया गया है। 'गंगालहरी' की रचना करके प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ का गंगा को प्रसन्न कर लेना तथा उनकी कृपा से मुक्ति-लाभ करना तो मध्यकाल की घटना है और वैसे ही, 'हनुमान बाहुक' की रचना द्वारा गो० तुलसीदास का बाहुपीड़ा से मुक्त हो जाना भी कहा

जा सकता है। इस प्रकार की रचनाओं को कभी कोरा मंत्र-समूह नहीं कह सकते, क्योंकि इनका रूप स्पष्टतः काव्यात्मक जैसा है और इनमें आये हुए विनय भरे शब्दों द्वारा किसी इष्टदेव के प्रति अपने कल्याण विशिष्ट की याचना की गई दीख पड़ती है। कवियों के ऐसे यत्न ठीक उसी प्रकार के जान पड़ते हैं जैसे किसी राजा-महाराजा वा धनी-मानी व्यक्ति को अपनी काव्यकृतियों द्वारा रिझाकर उनसे द्रव्यादि लाभ करने में दीखते हैं अथवा विशुद्ध यशमात्र के लिए भी किये जाते हैं।

अतएव, काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने काव्य के प्रयोजन की चर्चा करते समय जिन धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धिवर्द्धन, चर्तुवर्ग की प्राप्ति अथवा अशिवेतर की क्षति के नाम लिये हैं, उन सभी के कुछ न कुछ उदाहरण संस्कृत काव्य के अंतर्गत मिल सकते हैं, जिनसे पता चल सकता है कि उनकी प्रवृत्ति आज कल से कितनी विलक्षण भी थी। प्राचीन काल के समाज में धार्मिकता का विशेष प्रचार था और उस समय के लोग चाहे वे पूर्व देशों के हों अथवा योरुप आदि के ही निवासी हों, अधिक श्रद्धालु और आस्था संपन्न भी हुआ करते थे। इस कारण काव्य-रचना करते समय भी वे अपने हित विशेष को लक्ष्य बना लेना नहीं भूलते थे। उन्हें इस बात में पूरा विश्वास रहा करता था कि हम अपनी रचनाओं द्वारा अपने इष्टदेव को अवश्य द्रवित कर सकते हैं और जिस कष्ट वा कमी का अनुभव अपने जीवन में कर रहे हैं उसका इस प्रकार सर्वथा निवारण भी किया जा सकता है। इसके सिवाय उन कवियों की उन दिनों कुछ ऐसी भी दृढ़ धारणा रही होगी कि यदि कोई शब्द वा वाक्य कभी किसी शुभाशंसा अथवा आशीर्वाद के रूप में कहा जाता है तो उसका भी फल अवश्य मिला करता है। वैदिक कालीन कवियों में यही बात अधिकतर उनके दृढ़ संकल्प के रूप में लक्षित होती है जिसका अपना एक मनोवैज्ञानिक महत्व भी हो सकता है। किंतु

पिछले खेवे के उधर वाले संस्कृत कवियों में इसका अभाव-सा दीख पड़ता है। वैदिक साहित्य की काव्य-रचनाओं में जहाँ विनय और प्रार्थना के शब्द आये हैं, वहाँ भी उनके पीछे एक सात्विक प्रेरणा ही काम करती दीखती है। किंतु भक्तिपरक विविध आन्दोलनों द्वारा प्रभावित अथवा राज्याश्रय पर आश्रित कवियों की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत सीमित बन जाती है और उनमें वह उल्लास भी नहीं रह जाता। इनमें प्राचीन वैदिक ऋषियों की वह पवित्र कामना नहीं जाग्रत होती जो 'तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु' पर आधारित रहती थी।

दक्षिण और उत्तर भारत का सांस्कृतिक आदान-प्रदान

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि इसके उत्तरी भाग में आर्यों के सम्यक् प्रकार से बस जाने पर भी, दक्षिण की ओर बहुत काल तक द्रविड़ संस्कृति ही प्रचलित थी, कम-से-कम ईसवी शताब्दी से सहस्र वर्ष पूर्व तक आर्य लोग वहाँ तक नहीं पहुँच पाये थे। साधारणतः अनुमान किया गया है कि आर्यों द्वारा विंध्यगिरि एवं नर्मदा नदी को पार किये जाने का आरंभ किसी समय 'ऐतरेय ब्राह्मण' के रचना-काल अथवा ईसा पूर्व की ९वीं शताब्दी में हुआ होगा।[1] ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के व्याकरण में कात्यायन ने सर्वप्रथम वहाँ के कतिपय स्थानों के नाम लिये हैं अथवा इस देश की ओर संकेत किया है। यदि वे स्वयं भी दाक्षिणात्य रहे हों, जैसा कि कई इतिहासज्ञों का अनुमान है, तो यह निश्चय है कि उनके समय तक पश्चिमोत्तर भारत के निवासी पाणिनि के विषय में, दक्षिण के लोगों को परिचय मिल चुका था। इस प्रकार उस युग तक भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी प्रदेशों के बीच आना-जाना आरंभ हो गया था। दक्षिण की ओर प्रचलित अनेक जन-श्रुतियों के अनुसार सबसे पहले महापुरुष जिन्होंने उत्तर की ओर से आकर वहाँ आर्य संस्कृति का प्रचार आरंभ किया था, वे अगस्त्य नामक थे। कहते हैं कि जिस समय ये उत्तर से

---

१. डॉ. एस. के. आयंगर : साउथ इण्डियन कल्चर, कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया, खण्ड ३, पृ० ७२.

दक्षिण की ओर चले, आर्यावर्त की सीमा बने हुए विंध्य पर्वत ने उनके सामने झुककर उन्हें आगे बढ़ने के लिए मार्ग दिया। उनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने समुद्र की समूची जलराशि को ही उठाकर पी लिया था। इसका अभिप्राय कदाचित् यह हो सकता है कि जिस प्रकार उनके प्रचार-कार्य को रोकने में विंध्य जैसी पर्वत-शृंखला तक असमर्थ हो गई, उसी प्रकार उनके सामने समुद्र भी बाधक न हो सका और उन्होंने एक दृढ़ संकल्प कार्यकर्त्ता के रूप में अपने सन्देशों को सुदूर द्वीपों तक पहुँचा दिया।

अगस्त्य वाला यह आख्यान चाहे ऐतिहासिक तथ्य न भी हो, तमिल साहित्य की प्राचीन रचनाओं को देखने से ये स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि कम-से-कम उसके कतिपय अंशों का निर्माण तो आर्य संस्कृति का उधर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ने लगने पर ही हुआ होगा। ईसा की प्रथम पाँच शताब्दियों की अनेक तमिल रचनाओं में न केवल विचारधारा के प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं, अपितु उनमें 'रामायण' एवं 'महाभारत' की कथाओं तक की ओर किये संकेत पाये जाते हैं। इसके सिवाय ईसा के पूर्व निर्मित किये गए अशोक के कुछ स्तूपों तथा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर यह अनुमान करते अधिक विलंब नहीं लगता कि उत्तरी भारत के निवासियों को दक्षिण का पर्याप्त परिचय मिल चुका होगा। उन दिनों प्रस्तुत की गई ऐतिहासिक सामग्रियों से पता चलता है कि आर्य संस्कृति का प्रभाव उधर प्रचुर मात्रा में पड़ चुका था और हिन्दू धर्म के साथ ही वहाँ तक बौद्ध एवं जैन धर्मों तक का प्रवेश हो चुका था। फलतः दक्षिणी भारत में जो सामाजिक नियम अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित थे, वे क्रमशः कुछ न कुछ परिवर्तित होने लगे थे और वहाँ के धार्मिक विश्वासों में भी बहुत कुछ अन्तर आ गया था।

ईसा की प्रथम सात-आठ शताब्दियों में ही उन वैष्णव एवं

शैव धर्मों का उदय तथा विकास हुआ जिन्होंने आगे चलकर उत्तरी भारत के अंतर्गत एक धार्मिक लहर उत्पन्न कर दी। तमिल प्रदेश के शैव नायमारों तथा वैष्णव आडवारों के अपूर्व जीवन-दर्शन और उनकी भक्तिरस प्लावित रचनाओं ने केरल एवं कर्णाटक प्रान्त वालों को भी प्रभावित किया और उधर आन्ध्र एवं महाराष्ट्र तक अपने सन्देश पहुँचाये। इसका परिणाम यह हुआ कि ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक सारे दक्षिणी भारत में भक्तिरस की सरिता उमड़ चली और उसके विभिन्न स्रोतों का उत्तरी की ओर तक प्रवाहित होने लगना सरल हो गया। उसके अनन्तर लगभग चार सौ वर्षों तक दक्षिणी भारत के भक्तों, आचार्यों एवं धर्म-प्रचारकों का उत्तर की ओर जाना बना रहा तथा उनके सिद्धान्तों और साधनाओं का प्रचार-कार्य भी चलता रहा। तदनुसार उसी समय वहाँ से स्वामी शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य अपने-अपने सन्देशों को लेकर उत्तरी भारत की ओर बढ़े थे। इन धर्माचार्यों के सिद्धान्तों के मूलाधार प्राचीन आर्यों के ही ग्रन्थ थे। किंतु इन्होंने अपने चिन्तन एवं मनन के द्वारा उनकी नवीन व्याख्या कर दी थी और इस प्रकार उन्हें अपने ढंग से अधिक आकर्षक उपयुक्त भी बना दिया था। इन आचार्यों की ही भाँति इनसे कुछ शताब्दी पहले नागार्जुनजैसे बौद्ध विद्वान भी दक्षिण से उत्तरी भारत की ओर गये थे और उन्होंने भी उधर प्रचलित बौद्धधर्म में अपने शून्यवाद को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया था।

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इन दक्षिणी महापुरुषों की यात्राओं का परिणाम विशेष रूप से लक्षित हुआ और उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र इनके मतों का ही प्रचार होता दिखायी पड़ा। नागार्जुन की विचारधारा से प्रेरणा पाकर बौद्धधर्म के अंतर्गत क्रमशः अनेक दार्शनिक वादों की सृष्टि होती चली गई और बहुत-सी ऐसी तान्त्रिक साधनाओं को भी प्रवेश मिलता गया जो अत्यन्त विलक्षण थीं। इन

विचित्र साधनाओं के कारण बौद्धधर्म की प्रतिष्ठा कम हो गई और वह अंत में, प्रचलित हिन्दू धर्म में विलीन तक हो गया। परंतु स्वामी शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद एवं आचार्यों द्वारा उपदिष्ट भक्ति-साधना का प्रभाव इससे बहुत भिन्न सिद्ध हुआ और उसके कारण भारतीय संस्कृति के विकास में पूरी सहायता मिली। एक ओर जहाँ दार्शनिक पक्ष में भारतीयों की चिन्तन-शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई, वहाँ दूसरी ओर उनकी कोमल हार्दिक वृत्तियों के भी पूर्ण विकास का अवसर मिल गया। इनके कारण न केवल उत्कृष्ट गंभीर ग्रन्थों और साहित्यिक रचनाओं को पूरा प्रोत्साहन मिला, अपितु भारतीय समाज को एक अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस प्रकार यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाये कि अगस्त्य ऋषि किसी समय आर्य-संस्कृति को उत्तर से दक्षिण की ओर किसी रूप में ले गए होंगे तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि दक्षिण के आचार्यों ने उस मूल-धन को उत्तर में जाकर पर्याप्त व्याज के साथ चुका दिया और वे महान् भारतीय राष्ट्र के कर्णधार भी बन गए।

उत्तर एवं दक्षिण के लोगों के पारस्परिक आदान-प्रदान का क्रम अन्य रूपों में भी चलता रहा है। जब कभी किसी दक्षिण के विजेता ने उत्तर की ओर प्रयाण किया अथवा जब कभी किसी उत्तर के आक्रमणकारी ने दक्षिण के प्रान्तों पर विजय प्राप्त की, उन दोनों दशाओं में कुछ-न-कुछ व्यापक परिणाम निकले और उनके कारण हमारी कला एवं साहित्य की उन्नति में सहायता मिली। उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध है कि दक्षिण-विजेताओं के ही साथ उत्तरी साकेत का स्वयम्भू कवि गया था, जिसने अपभ्रंश के **'पउम चरिउ'** जैसे महान काव्यों की रचना की थी और उधर के अन्य कवियों के लिए भी आदर्श स्थापित किया था। इसी प्रकार ख़िलजी एवं तुग़लक बादशाहों के दक्षिण आक्रमणों के समय जो उत्तर के निवासी दक्षिण

की ओर पहुँचे थे, उन्होंने वहाँ जाकर एक ऐसे दक्खिनी साहित्य की रचना में सहयोग दिया जो पीछे हिन्दुओं तथा मुसलमानों के लिए एक सामान्य वाङ्मय सा सिद्ध हुआ। दक्खिनी भाषा के आधार पर न केवल मुस्लिम धर्म-प्रचारकों ने अपने सूफ़ीधर्म को सर्व साधारण के सामने लाना आरंभ किया, अपितु उससे प्रमुख सहायता पाकर अनेक महाराष्ट्रीय संतों ने भी उत्तर भारत में अपने सन्देश पहुँचाये। संत नामदेव ने तो इस प्रकार की भाषा के ही साधन द्वारा प्रायः सारे पंजाब प्रान्त तक अपनी प्रचार यात्राएँ कीं और अपने महत्वपूर्ण उपदेशों द्वारा उत्तर के लोगों को संतमत की ओर आकृष्ट किया।

आर्य संस्कृति एवं हिन्दू धर्म के सर्वथा देशव्यापी बनते जाने के साथ भारतवर्ष अंतर्गत चारों ओर विभिन्न तीर्थ-स्थानों कल्पना होती जा रही थी और संस्कृत को देववाणी का महत्व प्रदान कर उसमें धर्म-ग्रन्थ की रचना भी होती आई थी। इस कारण उत्तरी एवं दक्षिणी भूभागों के पारस्परिक आदान-प्रदान में इन दोनों ने और भी अधिक सहायता पहुँचायी। दक्षिण के लोग उत्तर मथुरा, अयोध्या, काशी, प्रयाग, पुरी, द्वारिका जैसे तीर्थ स्थानों में जाया करते थे। इसी प्रकार उत्तरी भारत के निवासी दक्षिण के पण्ढरपुर, काँची, मदुरा, रामेश्वरम् आदि पवित्र स्थानों तक पहुँचकर वहाँ की देव-मूर्तियों का दर्शन करना अपना परम धर्म समझा करते थे। इसी प्रकार संस्कृत भाषा की विविध रचनाएँ, चाहे उनके रचयिताओं के निवास-स्थान जो भी रहे हों, सभी हिन्दुओं के लिए सर्वमान्य रूप से अपनी निजी वस्तु बनती आ रही थी और उनसे प्रेरणा ग्रहण करने की प्रवृत्ति सबल होती आई थी। तदनुसार एक ओर जहाँ तीर्थ-यात्रियों ने पारस्परिक सम्मिलन द्वारा एक दूसरे को अपनी रहन-सहन एवं वेषभूषादि से से प्रभावित किया, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत से कवियों तथा ग्रन्थकारों

की विभिन्न विचारधाराओं से भी एक दूसरे के सहयोग द्वारा सर्व-साधारण पाठकों तक की एक सामान्य संस्कृति के निर्माण में सहायता मिली। उसी प्रकार महाभारत, रामायण तथा अन्य ऐसे ग्रन्थों के माध्यम द्वारा सर्वत्र प्रायः एक ही उच्चादर्श के प्रतिष्ठित किये जाने में पूरा बल मिला और उनका प्रभाव प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों तक पर लक्षित हुआ।

उत्तरी भारत की विविध भाषाएँ दक्षिणी भारत की भाषाओं से अनेक बातों में भिन्न कही जा सकती हैं। बहुत-से विद्वानों ने यहाँ तक अनुमान किया है कि कम-से-कम तमिल जैसी एकाध भाषा सर्वथा पृथक् वर्गों की है। किंतु यदि प्रान्तीय भाषाओं में रचे गए साहित्यों की पारस्परिक तुलना की जाये और उनके सर्वप्रमुख वर्ण्य हिन्दू परंपराओं तथा पौराणिक वृत्तों की दृष्टि से विचार किया जाये तो उनमें आश्चर्यजनक साम्य दीख पड़ेगा। उनमें न केवल प्रसिद्ध हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद ही मिलेंगे, प्रत्युत उनके अंतर्गत आयी हुई विभिन्न कथाओं के आधार पर प्रस्तुत की गई ऐसी उत्कृष्ट काव्य-कृतियों के भी उदारहण मिलेंगे जिन्हें हम किसी भी प्रकार न तो एक देशीय कह सकते हैं और न किसी एक समय विशेष के उपयुक्त ही ठहरा सकते हैं। इसके सिवाय, रामायण एवं महाभारत जैसे ग्रन्थों के अपने अनुवादों तक में दक्षिण के साहित्यकारों ने अपनी प्रतिभा द्वारा कुछ ऐसी नवीन बातों का सम्मिश्रण कर दिया है जिन्हें उत्तर वाले सहर्ष अपना ले सकते हैं। यही कारण है कि बहुत सी सांस्कृतिक अनुश्रुतियाँ जो साधारणतः अपरिचित सी जान पड़ती हैं, उस प्रकार के साहित्यिक माध्यमों द्वारा अनायास अपनी बन जाती हैं और उनके आधार पर एक सार्वदेशिक भाव की कल्पना संभव हो जाती है।

आधुनिक युग में यातायात के विभिन्न साधनों द्वारा उत्तर एवं दक्षिण के बीच की दूरी क्रमशः नष्ट होती जा रही है और धार्मिक

के अतिरिक्त राजनीतिक कारणों के आधार पर भी दोनों ओर के निवासी अपने को एक दूसरे के अधिकाधिक निकट समझते जा रहे हैं। इस प्रकार दोनों के आदान-प्रदान में विशेष प्रकार की सुविधा का आ जाना निश्चित है और उसमें प्रगति के स्पष्ट लक्षण भी दीख रहे हैं। भारतवर्ष के स्वतंत्र हो जाने पर यहाँ के राष्ट्रीय उन्नायकों ने सारे भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक राष्ट्रभाषा के माध्यम की भी कल्पना कर ली है जो प्राचीन संस्कृति की भाँति न न केवल धार्मिक दृष्टि से, अपितु अन्य सभी प्रकार से भी उपयोगी सिद्ध होगी। इसके लिए उन्होंने हिन्दी को चुना है जो आज निश्चित रूप से सर्वाधिक भारतीयों के लिए बोधगम्य कही जा सकती है। जिस प्रकार संस्कृत को माध्यम बनाकर पुराने हिन्दू धर्माचार्यों ने अपने विचारों का प्रचार किया था, जिस प्रकार उन्होंने उसके आधार पर भारतीय संस्कृति में सर्वत्र एक रूप लाने की चेष्टा की थी, उसी प्रकार आज के लोग भी यत्नशील हैं कि सम्पूर्ण देश के भीतर उस हिन्दी के द्वारा राष्ट्रीयता का भाव भरा जाये। किसी समय प्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ और उनके अनुयायियों वे हिन्दी के द्वारा भारतीय जन-जीवन में जागृति उत्पन्न करने के विचार से उत्तर से दक्षिण एवं दक्षिण से उत्तर की ओर जाकर अनेक बार यत्न किये थे और उनके आदर्शों पर उस कार्य को पीछे अन्य अनेक संतों और महात्माओं ने भी आगे बढ़ाया था। आज उन्हीं के प्रयोगों को पहले से अधिक व्यापक क्षेत्रों में व्यवहृत करने के प्रयास हो रहे हैं और पुराने अनुभवों से लाभ उठाया जा रहा है यह कहना कठिन है कि किसी आर्य-संस्कृति ने कभी किसी द्रविड़-संस्कृति को प्रभावित किया था अथवा वैसे ही द्रविड़ संस्कृति ने ही आर्य संस्कृति पर अपने प्रभाव डाले थे। इन दोनों में कितना अन्तर था और किसने किसको कितनी दूरी तक अपने साँचे में ढालने में सफलता प्राप्त की, यह ऐतिहासिक अनुसन्धान का विषय है। स्पष्ट बात तो यह है कि आज हमें ऐसी दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के विषय में

अन्तर का ज्ञान प्राप्त करने की भी आवश्यकता नहीं। इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण उत्तरी भारत के अगस्त्य द्वारा निर्मित बतलाया जाता है। इसी प्रकार केरल का सांस्कृतिक सम्बंध परशुराम से जोड़ा जाता है जो उत्तरी भारत के ही निवासी थे। आज तो दोनों उत्तर एवं दक्षिण के लिए एक साहित्य का निर्माण होने जा रहा है। एक दृष्टि से दोनों ओर के निवासी अपनी सभी सांस्कृतिक सम्पति को अपनी समझते जा रहे हैं और सामान्य भावी जीवन की कल्पना भी करते हैं।

हरिजन और कबीर

कबीर की रचनाओं में 'हरिजन' शब्द का प्रयोग कई बार हुआ हुआ है, किंतु वह वर्त्तमान रूप में अछूतों के लिए स्पष्ट रूप में कहीं भी प्रयुक्त नहीं। 'कबीर ग्रन्थावली' की सर्वप्रथम साखी के अंतर्गत जो—'हरिजी संगन को हितू, हरिजन संई न जाति' कहकर उन्होंने हरिजनों की जाति को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, वह भी वर्त्तमान अछूतों से सम्बद्ध नहीं। कबीर के हरिजन, वास्तव में वे लोग हैं जिनके मुख्य गुण उनके नीचे लिखे पद्यों में दी गई परिभाषा के अंतर्गत व्यक्त किये गए हैं; जैसे—

> रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाषंड अभिमान।
> ऐसा जो जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ॥१४॥
>
> रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देई।
> हरिजन ऐसा चाहिए, जिसी जिमीं की खेह ॥१८॥
>
> खेह भई तो क्या भया, उड़ि उड़ि लागे अंग।
> हरिजन ऐसा चाहिए, पाणी जैसा रंग ॥१९॥
>
> पाणी भया तो क्या भया, ताता सीता होई।
> हरिजन ऐसा चाहिए, जैसा हरि ही होई ॥२०॥
>
> हरि भया तो क्या भया, जासौं सब कुछ होई।
> हरिजन ऐसा चाहिए, हरि भजि निर्मल होई ॥२१॥[1]

---

१. कबीर ग्रंथावली (का० ना० प्र० सभा) पृ० ६५

अर्थात् यदि चाहते हो कि तुम्हें ईश्वर की प्राप्ति हो तो तुम पाखंड और अभिमान भरी मनोवृत्ति का त्याग कर मार्ग में पाये जाने-वाले साधारण कंकड़ों के समान पद-दलित बन जाओ। परंतु रोड़े बनने पर भी कदाचित् चलनेवालों को बाधा पहुँचे, अतएव हरिजन होने के लिए पृथ्वी की धूलि ही बन जाना अधिक उचित होगा। किंतु धूल हो जाने पर भी तो लोगों के शरीर पर लगते रहने की संभावना है, इसलिए उत्तम होगा कि हरिजन पानी की तरह सरल एवं तरल होने की चेष्टा करे। परंतु, पानी हो जाने पर भी बहुधा गर्म या ठण्डा होते रहने का अवसर उपस्थित होता रहता है, अतएव सच्चे हरिजन को स्वयं भगवान के ही समान एकरस बना रहना ही अच्छा है। परंतु हरि बन जाने पर भी सब कुछ का कर्त्ता-धर्ता होना पड़ेगा, अतएव सबसे उत्तम हरिजन वही होगा जो भगवान का भजन करता हुआ अपना जीवन सब प्रकार से निर्मल अर्थात् दोष रहित बना ले। कबीर के हरिजन, इसीलिए वे लोग ठहरते हैं जिन्हें वे दूसरे शब्दों में जीवन-मृतक (जीवन्मुक्त) संत अथवा हंस कहा करते हैं। हरिजन को हंस पक्ष का रूपक देकर एक पद में वे इस प्रकार भी कहते हैं—

हरिजन हंस दसा लिये डोलै, निर्मल नांव जस बोलै ।।टेक।।
मानसरोवर तट के वासी, राम चरण चित आंन उदासी ।।
मुकताहल बिन चंच न लांवैं, मौनि गहै के हरिगुन गावे ।।
कऊआ कुबांध निकट नहिं आवै सो हंसा निज दरसन पावै ।।[२]

अर्थात् हरिजन हंसों की भाँति भ्रमण करते हुए हरिनाम का गुणगान किया करते हैं। उनका ध्यान सदा अपने मूल स्थान पर ही रहता है और वे राम को छोड़ दूसरों के प्रति उदासीन वृत्ति धारण करते हैं। वे

२. वही, पृ० २०४, पद ३४४।

मुक्ति के सिवाय अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करते और न हरियश के अतिरिक्त और कुछ कहने को तैयार होते हैं। अतएव अपने उद्देश्य में सिद्धि केवल उन्हीं हरिजनों को प्राप्त हो सकती है जिनके निकट कुबुद्धिरूपी कौवा नहीं आने पाता। कबीर के हरिजन की विशेषता इसी कारण जीवन की निर्मलता और निरभिमानता में निहित है जिनके कारण उसमें एक अपूर्व सहनशीतला का प्रादुर्भाव होता है और कबीर को कहना पड़ता है—

कुसबद तो हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाई ॥[3]

अर्थात् दुष्टों के वाग्वाण की चोट हरिजन ही सह सकता है, यह दूसरे किसी की सामर्थ्य की बात नहीं।

निरभिमानता का सच्चा पोषक होने के ही कारण कबीर ने अपने को 'दासनि का परदास' तक कह डाला। वे अभिमान अथवा मान को एक बड़े भयंकर शत्रु के रूप में देखते हैं; क्योंकि

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहिं जाई।
मानि बड़े मुनिवर मिले, मानि सबनि को खाई ॥४

अर्थात् मान अथवा अहंकार ही एक ऐसी वस्तु है जो माया को त्यागने वाले मुनिवरों तक को भी नहीं छोड़ती और उन्हें बलात्कार पटक देती है। कुलाभिमान भी इस मान का ही एक अन्यतम रूप है जिसके प्रभाव में पड़ कर लोग एक ही मानव जाति के अंतर्गत अनेक प्रकार की ऊँची-नीची श्रेणियाँ बाँधा करते हैं। वे नहीं समझते कि "ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करणी ऊँच न होई" [५] उनको केवल

---

३. वही, पृ० ६३, साखी २।
४. वही, पृ० ३४।
५. वही, पृ० ४८, सा० ७।

यही सूझता है कि वर्णाश्रम धर्म अथवा किसी नियम-परंपरा के अनुसार यदि उनका कुल श्रेष्ठ समझा जाता है तो वे निःसन्देह औरों से उत्तम हैं। इसी कारण वे समाज में अनेक प्रकार के स्वत्वों के अधिकारी बने फिरते हैं और यदि कोई अनुचित कार्य भी कर डालते हैं तो उन्हें पूर्ण विश्वास रहता है कि समाज इस ओर कभी ध्यान नहीं देगा। परिणाम स्वरूप समाज के भीतर अनेक प्रकार की कुरीतियाँ चल पड़ती हैं और भिन्न-भिन्न अत्याचारों के नित्य प्रति होते रहने के कारण समाज विश्रृङ्खल होकर अंत में नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। कबीर इसीलिए कुलाभिमान और वर्ण-व्यवस्था की घोर निन्दा करते हैं। वे भिन्न-भिन्न वर्णों के समझे जाने वाले लोगों को जन्म से ही अभिन्न अर्थात् एक समान समझते हैं। इसका वास्तविक कारण वे बतलाते हुए कहते हैं—

अल्ला एकै नूरे उपजाया, ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थैं सब जग कींया, कौन भला कौन मन्दा॥[६]

अर्थात्, जब परमेश्वर ने एक ही ज्योति से सारे संसार का निर्माण किया तो उसमें किसी को भला और किसी को बुरा कहने के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है।

अथवा—

एक बूंद एकै मल मूतर, एक चांम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनाँ, कौन ब्रांम्हन कौन सूदा॥[७]

अर्थात्, जब एक ही प्रकार के साधनों द्वारा मानव शरीर की सृष्टि होती है और सभी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का मूल एक ही ज्योति में निहित समझा जाता है तो ब्राह्मण एवं शूद्र के वर्गीकरण स्वरूप भिन्नता

---

६. वही, पृ० १०४, पद ५१।
७. वही, पृ० १०६, पद ५७।

की दीवारें खड़ी करना निरी मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं। उनका तो यह भी कहना है—

जौपै करता बरण विचारै,

तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै ।।८

अर्थात् वर्ण-व्यवस्था का विचार यदि सृष्टिकर्त्ता के मन में रहा होता तो वह जन्म देते ही ब्राह्मणों के ललाट पर तीन-तीन लकीरें खींचकर ब्राह्मणत्व की निशानी क्यों नहीं बना देता। अथवा—

जो तू बामन बमनी जाया,

तौ आन बाट ह्वै काहे न आया ।।९

अर्थात् यदि ब्राह्मण-ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न होने के कारण उच्च बनते हो तो तुम्हें उचित था कि जिस प्रकार अन्य लोगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार से जन्म न लेकर किसी विशेष रूप से जन्म-ग्रहण करते। सच्ची बात तो यह है—

नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा।

जाका प्यंड ताही का सींचा ।।१०।।

अर्थात् वस्तुतः न तो कोई उच्च होता है न नीच होता है, क्योंकि साधन और साध्य सबके समान ही हुआ करते हैं। अतएव, किसी मनुष्य को निकृष्ट श्रेणी का समझ कर उसे अस्पृश्य मानना और छुआछूत का मनमाना ढोंग कर उसके साथ दुर्व्यवहार करना ठीक नहीं। यदि छुआछूत का आधार पवित्रता का अभाव माना जाय

---

८. वही, पृ० १०१, पद ४१।

९. वही, पृ० १०२, पद ४१।

१०. वही, पद ४१।

तो वैसी अपवित्रता हमारे जन्म के दिन से ही अनुभव में आया करती है। कबीर साहब कहते हैं—

काहें को कीजे पांडे छोति बिचारा।
छोति ही तैं उपज्या सब संसारा ॥ टेक ॥

हमारे कैसें लोहू तुम्हारे कैसे दूध,।
तुम कैसें बांम्हन पांडे हम कैसें सूद ॥

छोति - छोति करता तुम्हहीं जाए,।
तौ ग्रभवांस काहैं कौ आए ॥

जनमत छोति मरत ही छोति।
कहै कबीर हरि की निर्मल जोति ॥४२॥ [११]

अर्थात् हे ब्राह्मण छुआछूत का विचार करने की आवश्यकता ही क्या है? जब हम देखते हैं कि यह भूत की भाँति उत्पत्ति के समय से ही पिंड नहीं छोड़ती। जब ब्राह्मणी के स्तन से निकलने के ही कारण दूध, दूध नहीं समझा जाता और न शूद्रा का दूध लोहू की भाँति निंद्य समझा जा सकता है तो ब्राह्मण एवं शूद्र की विभिन्नता का आधार क्या होगा? छुआछूत का दोष मानना था तो गर्भ में आना ही ठीक नहीं था। छूत तो जन्म-मरण दोनों में लगी रहती है, परंतु उसके कारण, परमेश्वर की निर्मल मूल ज्योति में किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। इस कारण काल्पनिक पवित्रता का नाम लेकर किसी को अस्पृश्य कह देना उचित नहीं। ऐसी पवित्रता यदि जीवन का लक्ष्य हो तब तो—

कहु पांडे कैसी सुचि कीजै,
सुचि कीजै तो जनम न लीजै ॥ [१२]

---

११. वही, पृ० १०१, पादटिप्पणी।

१२. वही, पृ० १७३, पादटिप्पणी, पद ५०।

कबीर के छुआछूत विषयक सिद्धान्त बहुत ऊँचे आदर्शों को दृष्टि में रखते हुए स्थिर किये गए हैं। मानव जाति के अंतर्गत आनेवाले प्राणियों के कर्त्तव्य एवं अधिकार, उनके मूलतः एक ही ईश्वरीय ज्योति के प्रतिरूप होने के कारण, समान समझे जाने चाहिए। अतएव वर्ण-व्यवस्था अथवा पवित्रता के काल्पनिक आधारों के अनुसार मनुष्य-मनुष्य के बीच विभिन्नता दरसाने के लिए भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँधना उचित नहीं प्रतीत होता। वास्तव में वह बड़ा नहीं हो सकता जिसका कुल बड़ा समझ लिया गया है, अपितु वही बड़ा समझा जाने योग्य है जिसके कर्म उच्च हैं और जो परमात्मा को अपना आराध्य समझता है। सबको समान समझने पर ही निरभिमानता आ सकती है और तभी अपना जीवन निर्मल बन सकता है। इस प्रकार देखने पर कबीर का हरिजन मानव जाति के लिए आदर्श स्वरूप है।

संत कवियों की भोजपुरी रचनाएँ

भोजपुरी बोली का प्रदेश चिरकाल से विचार-स्वातंत्र्य के प्रेमी, साहसी एवं क्रान्तिकारी व्यक्तियों का कार्यक्षेत्र रहता आता है। महात्मा गौतम बुद्ध ने सर्व प्रथम, इस प्रदेश के ही ऋषिपत्तन (सारनाथ) में अपने नवीन विचारों को व्यक्त किया था। उनका प्रचार करने के लिए अपने शिष्यों को यहाँ से चारों ओर भेजा भी था। उनका प्रायः सारा जीवन-काल इस प्रदेश में भ्रमण करते बीता और यहीं से उनका सन्देश विश्व के कोने-कोने तक पहुँच गया। सारनाथ की निकटवर्त्तिनी काशी नगरी की एक प्रमुख विशेषता इस बात में भी देखी गई है कि भिन्न-भिन्न मतों के प्रचारक वहाँ पर एक बार कभी-न-कभी अवश्य आया करते थे। उनका वहाँ के पंडितों के साथ बहुधा शास्त्रार्थ भी होता था और उनकी यह काशी-यात्रा उनके लिए कसौटी का काम कर देती थी। पूर्वकाल में यहाँ पर कई प्रसिद्ध गणतंत्रों की भी स्थापना हुई थी, जिन्होंने सैदपुर-भीतरी के निकट विदेशी आक्रामक हूणों को पराजित किया था।

इधर के इतिहास काल में भी, इस प्रदेश के निवासी पठान शेरखाँ ने मुग़ल बादशाह हुमायूँ के विरुद्ध मोर्चा लेकर उसे परास्त किया था तथा बाबू कुँवर सिंह ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध छिड़ने वाले भारत के प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम में अपने अपूर्व साहस का परिचय दिया था। इस प्रदेश के निवासियों की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, साहसिकता एवं स्वातंत्र्य प्रियता के अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

'निर्गुनिया' संतों की परंपरा का सूत्रपात्र भी पहले-पहल इसी भोजपुरी प्रदेश में हुआ था। संतमत की सारी बातें स्वानुभूति को महत्व प्रदान

करती हैं और वह कतिपय स्वाधीन-चेता महापुरुषों की ही साधना तथा विचारधारा का परिणाम है। इसके सर्व प्रथम प्रमुख प्रचारक संत कबीर साहब थे जो काशी नगरी के निवासी थे और जिनकी बोली भोजपुरी थी। अपनी बोली को उन्होंने अपनी एक साखी में 'पूरबी' बतलाया है,[१] जिसका अभिप्राय आध्यात्मिक समझा जाता है, किंतु जिसका साधारण अर्थ पूरब की बोली है। 'पूरबिया' शब्द साधारणतः 'मध्य-प्रदेश के पूर्व' वाले प्रान्त के निवासी के लिए प्रयोग में आता है और हेनरी यूल तथा ए० सी० बर्नेल ने 'पूरब' एवं 'पूरबिया' की व्याख्या करते हुए लिखा है—"उत्तरी भारत में इस शब्द से प्रायः अवध, बनारस तथा बिहार से तात्पर्य है। अतएव 'पूरबिया' शब्द का प्रयोग उन सिपाहियों के लिए किया जाता था जो बंगाल की सेनाओं में इन स्थानों से भर्ती होते थे।"[२] इनमें से बनारस अर्थात् कबीर साहब के निवास-स्थान काशी नगरी की बोली 'बनारसी' तो निस्संदेह भोजपुरी का ही एक रूप है। इसके सिवाय इधर के लोग आजकल भी कभी-कभी गवैयों से 'अब एगो पुरबी गाईं' कह कर भोजपुरी के लिए ही अनुरोध करते दीख पड़ते हैं। अतएव, डॉ० उदयनारायण तिवारी का यह कथन कि "कबीर की मूल वाणी का बहुत-कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में ही लिखा गया था"[३] तथ्य से अधिक दूर जाता नहीं प्रतीत होता और इस बात के लिए प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। कबीर साहब एक पर्यटनशील

---

[१] **मेरी बोली पूरबी ताइ न चीन्है कोई।**
मेरी बोली सो लखै, जो पूरब का होई ॥४॥
(कबीर-ग्रन्थावली, पृ० ७८, पाद-टिप्पणी)

[२] **डॉ० उदयनारायण तिवारी : कबीर की भाषा हिंदी अनुशीलन, प्रयाग, वर्ष २, अंक ३, पृ० २ पर उद्धृत**

[३] **वही**

और बहुश्रुत व्यक्ति थे, जिस कारण संभव है, उन्होंने भोजपुरी के अतिरिक्त अन्य बोलियों में भी रचना की होगी, किंतु यह भी स्पष्ट है कि उनके बहुत से पदादि का रूप उनकी अधिक प्रसिद्धि के कारण, विकृत और परिवर्तित भी हो गया है। आज यह कहना सरल नहीं जान पड़ता है कि उनकी अमुक रचना मूलतः भाषा विशेष में ही रही होगी।

कबीर साहब की प्राचीन एवं प्रामाणिक समझी जानेवाली रचनाएँ प्रायः तीन प्रकार के संस्करणों में पायी जाती हैं। इनमें से एक में राजस्थानी भाषा की प्रधानता है, दूसरा पंजाबी द्वारा प्रभावित है और तीसरा अवधी के साँचे में ढला हुआ है। पहले के अंतर्गत अधिकतर वे रचनाएँ आती हैं जो दादूपंथियों एवं निरंजनियों के संग्रहों में मिलती हैं और जिनके उदाहरण 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रन्थावली' में उपलब्ध हैं तथा दूसरे प्रकार के नमूने 'आदिग्रन्थ' में संग्रहीत हैं। इसी प्रकार तीसरे वर्ग में रचनाओं को सम्मिलित किया जा सकता है जो 'कबीर-बीजक' के रूप में सुरक्षित हैं। परंतु इन सभी में यत्र-तत्र भोजपुरी बोली के शब्द, वाक्य अथवा कभी-कभी लगभग समूचे पद तक पाये जाते हैं, केवल थोड़ा-सा ही रूपान्तर मिला करता है। उदाहरण के लिए, 'कबीर-ग्रंथावली' से नीचे लिखे अवतरण दिये जा सकते हैं—

(१) हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं (पद ४३, पृ० १०२)

(२) जुलहै तनि बुनि पांन न पावल (पद ५०, पृ० १०४)

(३) प्रेम खटोलवा कसि-कसि बाँध्यौ (पद ७७, पृ० ११२)

(४) गोविंद के गुन बैठे गैहैं, खँहैं टूकौ टेरौरे (पद ८५, पृ० ११५)

(५) जाइ परौ हमरौ का करिहैं.........

इंद्री स्वादि विषै रस बहिहैं (पद १४३, पृ० १३४)

(६) धीरौ मनवाँ तोहि धरि टाँगौ.........

प्रेम की जेंवरिया तेरे गलि बाँधू (पद २१३, पृ० १६०)

इसी प्रकार, उक्त 'ग्रन्थावली' के ऐसे ही लगभग समूचे पद के उदाहरण में डॉ० तिवारी ने निम्नलिखित रचना दी है--

मैं बुनि-करि सिराँना हो राम, नालि करम नहिं उबरे ॥
दखिन कूंट जब सुनहाँ भूँका, तब हम सुगन विचारा ।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
ताँना लीन्हाँ बाना लीन्हाँ, लीन्हें गोड के पउवा ।
इत उत चितवत कठवन लीन्हा, माँड चलवना डउवा हो राम ॥[१]

जिसमें केवल 'मैं' को 'में' 'सिराँना' को 'सिरइलों', 'भूँका' को 'भूँकल', 'विचारा' को 'बिचरलो', 'जागत हैं' को 'जागतारे', 'पसारा' को 'पसरले' और 'लीन्हा' को 'लिहलो' मात्र कर देने से ही उसका भोजपुरी रूप बन सकता है।

'आदिग्रन्थ' या 'गुरुग्रन्थ साहिब' से भी हम इस बात के उदाहरण में राग गूजरी का एक पद इस प्रकार दे सकते हैं—

चारि पाव दुइ सिंग गुंग मुख, तब कैसे गुन गईहै ।
ऊठत बैठत ठेंगा परिहै, तब कत मूँड लुकईहै ॥
हरि बिनु बैल बिराने हुईहै ।
फाटे नाकन टूटे काँधन, कोदोउ के भुसु खईहै ।
सारो दिनु डोलत मन महीआ, अजहु न पेट अघईहै ।[२]

---

[१]पद २ ,पृ० ६५ हिंदी-अनुशीलन, प्रयाग; वर्ष २, अंक ३, पृ० ९ पर उद्धृत

[२]गुरुग्रन्थ साहिबजी, पृ० ३२४ ।

तथा 'कबीर-बीजक' का निम्नलिखित पद बतला सकते हैं—

अब हम भइलि बाहर जल मीना, पुरब जनम तप का मद कीन्हा।
तहिया मैं अछलों मन बैरागी, तजलौं मैं लोग कुटुम राम लागी।
तजलौं कासी मति भै भोरी, प्राननाथ कहु का गति मोरी।
हमहीं कुसेवक तुमहीं अयाना, दुइ मंह दोस काहि भगवाना।
हम चलि अइलीं तोहरे सरना, कतहु न देखहुँ हरिजी के चरना।
हम चलि अइलों तोहरे पासा, दास कबीर भल कैल निरासा।[1]

जिसमें भगवान गोसाईं के पाठानुसार महत्वपूर्ण अंतर केवल 'पुरब' के 'पुर्बिल', 'अछलौं' के अचलों', 'तजलौ' के तेजलों', 'तुमहि' के 'तुई', 'देखहुँ' के 'देखो', 'अइलों' के 'ऐली' तथा 'कैल' के 'कैलहुँ' में ही दीख पड़ता है। अवधी-प्रधान रचनाओं के संग्रहों में बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग वाला संस्करण भी प्रसिद्ध है जिसमें भोजपुरी बोली का एक पद इस रूप में आया है—

कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो ॥टेक॥
चंदन काठ के बनल खटोलना, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूसल हो।
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे, नैनन आँसू टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धूधू ऊठल हो,
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, जग से नाता छूटल हो।[2]

इसी प्रकार के एक अन्य शांतिनिकेतन वाले संग्रह में भी कुछ ऐसे ही पद आये हैं जिनका अंग्रेजी अनुवाद भी डॉ० रवीन्द्रनाथ

---

[1] **बीजक, पृ० ६९-६।**

[2] **कबीर साहेब की शब्दावली, पहला भाग, पृ० २३**

ठाकुर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वन हंड्रेड पोयम्स ऑव् कबीर' में किया है।[1]

* संत कबीर साहब द्वारा अपनाये जाने के कारण भोजपुरी का महत्व उनके पीछे और भी बढ़ गया। उनके नाम पर चलाये गए कबीर-पंथ का अनुसरण करने वाले लोगों ने उनकी वाणी को आदर की दृष्टि से देखा और उसका अनुकरण किया। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में धर्मदास का नाम लिया जाता है और उन्हें बाँधवगढ़ (विंध्य-प्रदेश) का निवासी बतलाया जाता है। कबीर-पंथ को मध्य-प्रदेश में प्रचलित करने में उनका सबसे अधिक हाथ रहा है। किंतु उनकी भी बहुत-सी रचनाएँ भोजपुरी में ही मिलती हैं जिनके द्वारा कभी-कभी अनुमान होने लगता है कि वे इस प्रदेश में भी बहुत दिनों तक रह चुके होंगे। धर्मदास की समझी जाने वाली रचनाओं का एक संग्रह बेलेवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है जिसका एक पद यह है—

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ॥ टेक ॥
अपन बलम परदेस निकरि गैलो,
हमरा के कुछवो न गुन दै गैलो ॥ १ ॥
जोगिन होइ के मैं बन बन ढूँढौं,
हमरा के विरह बैराग दै गैलो ॥ २ ॥
सँग के सखी सब पार उतरिं गैलीं,
हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलो ॥ ३ ॥
धरमदास यह अरज करतु है,
सार सब्द सुमिरन दै गैलो ॥ ४ ॥[2]

---

[1] **पोयम नं० ६६ जो 'मन ना रँगाये' आदि का अंग्रेजी अनुवाद है।**

[2] **धरमदास जी की शब्दावली, पृ० १२**

इसमें लक्षित होनेवाला यत्किंचित् रूपान्तर इसके प्रचार के कारण है।

संत कबीर साहब के अनन्तर जो संतों की परंपरा चल निकली उसमें कई एक संत भोजपुर प्रदेश के भी हुए। 'बावरी-पंथ' नाम का एक ऐसा ही संप्रदाय इस प्रदेश के गाजीपुर जिले में सर्वप्रथम स्थापित हुआ था जिसका प्रचार दिल्ली तक हुआ। बावरी साहिबा के दादा गुरु दयानंद एवं परदादा गुरु रामानंद ग्राम पटना (जिला गाजीपुर) के ही निवासी बतलाये जाते हैं। फिर इनकी शिष्य-परंपरा के भी बूला साहेब, गुलाल साहेब और भीखा साहेब आदि संतों का प्रचार-केन्द्र उसी जिले के भुरकुड़ा ग्राम में स्थापित हुआ जहाँ से उनका अन्य प्रान्तों में फैलता गया। बूला साहेब (सं० १६८६-१७६६) जाति के कुरमी थे और वे दिल्ली के यारी साहेब द्वारा दीक्षित होकर यहाँ पर सत्संग करते थे। उनकी साधना बहुत गंभीर थी। उनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है—

सत गुरु नावल अधर हिंडोलना। हम धनि झूलब सुघर हिंडोलना ॥१॥
झूलत-झूलत गइलुँ गगनहि तटना। तहवाँ साधन का देखलुँ अखरना ॥२॥
सेत सुहावन जगमग देखलना। तहवाँ प्रान हमारा समैलना ॥३॥
अबकी समैले फिर न अइबना। जन बूला गावल निरगुन हिंडोलना ॥४॥

इसमें सुरत शब्द-योग की अनुभूति का एक परिचय दिया है।

बूला साहब के शिष्य गुलाल साहब ने उनसे भी अधिक भोजपुरी रचनाएँ की हैं और वे बहुत सुन्दर हैं। वे अपनी साधना एवं अनुभूति का परिचय बड़े सरल शब्दों में देते हैं और इस प्रकार अपनी रचनाओं को ललित एवं चित्ताकर्षक भी बना देते हैं। इनके गुरु बूला साहब इन्हीं के यहाँ पहले बुलाकीराम के रूप में हलवाही कर चुके थे, जब इन्होंने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। इनके भोजपुरी पदों के उदाहरण भी नीचे लिखी रचनाएँ दी जा सकती हैं—

---

[1] बुल्ला साहब का शब्दसागर, पृ० १९-२०।

मनुवाँ मोर भइल रँग बाउर, सहज नगरिया लागल ठाउर।
ऊदित चंद झरे तहँ मोती, गरत अमी उहाँ नाम के जोती।।
अँगना बहारि के बाँधल केसा, कइलूँ सिंगरवा गइलूँ पिया देसा।
आनंद मंगल बाजत तूर, भरल लिलार भइलूँ पिय के हजूर।।
छोटमुट रुखवा बहुत पसरवा, तेहि तर हम धनि मँजलूँ चरबा।
कहत गुलाल राम रस पाई, मगन भइल जिव गइल बलाई।।[1]

तथा—

आजु मन रावल रचल धमारी, कुहुकि कुहुकि हरि मिलल सुखारी।।
कँया नगर में खेल पसारी, भरि-भरि रूप थकलि नौ नारी।।
जगर मगर अति लगत पियारी, बाजत अनहद धुनि झनकारी।।
तहाँ ना रवि ससि पुरुष ना नारी, आपुहि अपने भइल बुझारी।।
कहत गुलाल हम फाग बिचारी, अब न खेलब सतगुरु बलिहारी।।[2]

इनमें गुलाल साहब ने अपने निजी अनुभव का वर्णन किया है।

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य थे और उनकी गद्दी पर भुरकुड़ा में, उनके अनन्तर सत्संग भी कराते रहे। उन्होंने भी अपने गुरु एवं दादागुरु की भाँति भोजपुरी में पदों की रचना की है। उनके पदों में साधना का स्पष्ट वर्णन विशेषतः उल्लेखनीय है। वे अपने ऐसे ही पद में इस प्रकार कहते हैं—

जोग जुगति कै हिंडोलवा, गुरु सहज लखावल।
चाँदै राखि सूर पौढ़ावल, पवन डोरि धै पावल।।
अरध उरध मुख पावल, पुलकि-पुलकि छबि भावल।

---

[1]गुलाल साहब की बानी, पृ० १०४

[2]वही, पृ० १०४-५।

गगन मगन गुन गावल, सुरति निरति में समावल ।।
भीखा एहि विधि मन लावल, आतम दरसावल ।।[1]

इन भीखा साहब के शिष्य गोविन्द साहब के ही शिष्य पलटू साहब थे जो अपनी महत्ता के कारण 'दूसरे कबीर' तक माने जाते थे। इनका मूल निवास-स्थान फैजाबाद जिले में था और ये अंत तक अयोध्या में ही रहे थे। किंतु इन्होंने अपनी बोली अवधी के अतिरिक्त भोजपुरी में भी अपनी बानियों की रचना की और इस प्रकार परंपरा का निर्वाह किया। इनका एक भोजपुरी पद इस प्रकार है—

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर ।। टेक ।।
जोगिया कै लाली लाली अँखिया हो, जस कँवल कै फूल ।
हमरी त सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये तूल ।।
जोगिया के लेउ मिर्गछलवा यो, आपन पट चीर ।
दूनौ के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर ।।
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरी ओर ।
चितवन में मन हरि लियो हो, जोगिया बड़ चोर ।।
गंग जमुन के बिचवा हो, बहै झिरहिर नीर ।
तेहि ठैयाँ जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर ।।
जोगिया अमर मरै नाहिंन हो, पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा वर पावल हो, गावै पलटूदास ।।[2]

इस प्रकार, पलटूदास के ऐसे पदों में न केवल भेद एवं ज्ञान की बातें हैं, अपितु वे बड़ी सरस शैली में कही भी गई हैं।

---

[1] भीखा साहब की शब्दावली, पृ० ४६ ।

[2] पलटू साहब की बानी, भा० ३, पृ० २२-३ ।

भोजपुरी प्रदेश के अन्य संत कवियों में बाबा धरनीदास का नाम भी प्रसिद्ध है जो माँझी, जिला सारन के निवासी थे। ये एक पहुँचे हुए महात्मा थे और इनके धरनीश्वरी संप्रदाय का बहुत-कुछ प्रचार उत्तर प्रदेश में भी हुआ था। संत पलटूदास की ही भाँति इनकी भी बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें भोजपुरी के बहुत सुन्दर और सजीव पद हैं। यहाँ पर इनकी 'उधवा प्रसंग' तथा 'महराइ' नामक दो रचनाओं के कुछ अंश क्रमशः दिये जाते हैं,

धरनी एह मन म्रीग भैला हो गुर भैला व्याध।
बान सबद हिये चुभी गैला हो दरसन साध।
धरनी जेहो धनी बिरहनि हो मन धीजै न धीर।
बिहवल बिकल बिलखि चित्त हो दुबर शरीर ॥
धरनी धीरज न रहे हो बीनु बनवारि।
रोअत रकत के अँसुवन हो पंथ निहारि ॥
धरनी पिय परबत पर हो हिए चढ़त डेराउ।
कबहिक पाँव डगमगै हो तब काहाँ ठाँउ ॥
धरनी धरकत हिय जनु हो, हो करक करेज।
ढरकत भरि-भरि लोचन हो, पिय नाहीं सेज ॥[1]

—उधवा प्रसंग

तथा—

ताहि पर ठाढ देखल एक महरा, अबरनी बरनी न जाए।
मन अनुमान कहत जन धरनी, धन जे सुन पतिआए ॥

---

[1] शब्द प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, पृ० ८४-९।

पाव दुवो पउआ परम झलकार । दुरहुर स्याम तन लाभ लहकार ।
लमहरि केसिआ पतरि करिहाव । पीअरी पिछौरी कटि कहते न आव ॥
चंदन की खोरि भरेला सब अंग । धारा अनगनीत बहैला जनु गंग ॥
माथे मनि मुकुट लकुट सुठि लाल । झिनवा तिलक सोभे तुलसी माल ॥
निक नाक पतरी ललौटी बड़ी आँखि । मुकुट मझारे एक मोरवा के पाँखि ॥
कान दुओ कुंडल लटक लट झूल । दाढ़ी गोंछ नुतन जैसन मखतूल ॥
परफुलित बदन मधुर मुसुकात । ताही छबि उपर धरनि बलि जात ॥
मन कइला दंडवत भुइआ धरि सीस । माथे हाथे धरि प्रभु देलन्हीं असीस ॥[1]

—सहराइ

बाबा धरनीदास के उपर्युक्त दूसरे पद में सगुण भक्तों की भाँति श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन किया गया मिलता है। परंतु वे वस्तुतः निर्गुण-परंपरा के ही संत कवि थे, यद्यपि उनकी वर्णन-शैली सदा उसी प्रकार की नहीं रहा करती थी। उनका एक और पद है—

पिया मोरा बसै गउरगढ़, मैं बसों प्राग हो ।
सहजहिं लागु सनेह, उपजु अनुराग हो ॥
असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो ।
पल पल समुझि सुरति मन, गहवरि आवै हो ॥
पथिक न मिलहिं सजन जन, जिनहिं जनावो हो ।
बिहवल बिकल बिलखि चित्त, चहुँ दिशि धावो हो ॥
होइ अस मोहि ले जाइ, कि ताहि ले आवै हो ।
तेकरि होइवों लउँड़िया, जे रहिया बतावै हो ॥

---

[1]शब्द प्रकाश, हस्तलिखित प्रति, पृ० ४३०-१

तबहि त्रिया पत जाइ, दोसर जब चाहै हो।
एक पुरुष समरथ धन, बहुत न चाह हो॥
धरनी गति नहिं आनि, करहु जस जानहु हो।
मिलहु प्रगट पट खोलि, भरम जनि मानहु हो॥[१]

बिहार के एक अन्य संत दरिया दास ने भी भोजपुरी में लिखा है। ये धरकंधा, जिला शाहाबाद के रहनेवाले थे और इनकी भी बहुत-सी रचनाओं का पता चलता है जिनमें संतमत की बातें प्रकट की गई है। इनके दरियादासी संप्रदाय का प्रचार बिहार के अतिरिक्त उत्तरप्रदेश के भी कई जिलों में है और उसके कई मठ भी स्थापित हैं। इनका एक भोजपुरी पद है—

अबकी के बार बकसु मोरे साहब, जनम जनम के चेरि हे।
चरन कँवल मैं हृदय लगाइब, कपट कागज सब फारि हे।
मैं अबला बिछुओ नहीं जानौ, परपंचन के साथ हे।
पिया मिलन बेरी इन्ह मोरा रोकल, तब जब भयेल अनाथ हे।
जब दिल में हम निहचे जानल, सूझि परल जमफंद हे।
खूलल दृष्टि दिया मनि लेसल, मानहु सरद के चंद हे॥
कह दरिया दरसन सुख उपजल, सुख दुख दूरि बहाय हे॥[२]

बिहार के दरियादासी की भाँति उत्तरप्रदेश के संत शिवनारायण ने अपनी शिवनारायणी संप्रदाय चलाया था। इनका जन्म चंदवार नामक गाँव में हुआ था जो उस समय गाजीपुर जिले में पड़ता था, किंतु अब बलिया जिले में है। इनके मत का प्रचार लाहौर, बंबई, कलकत्ता तथा

[१]धरनीदासजी की बानी, पृ० २।

[२]दरिया साहेब के चुने हुए शब्द, पृ० ४।

दक्षिणी अफ्रिका तक में यत्र-तत्र पाया जाता है। कहा जाता है कि इनके व्यक्तित्व का प्रभाव इनके समकालीन बादशाह रंगीले मुहम्मदशाह तक पर पड़ा था और वह इन्हें बहुत मानता था। इनके गुरु दुखहरन भी संभवतः गाजीपुर के ही निवासी थे। उनकी भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें भोजपुरी के उदाहरण हैं। दुखहरन की एक रचना 'भक्तमाल' नाम से प्रसिद्ध है जो अभी तक अप्रकाशित रूप में है। उसमें भोजपुरी का एक दोहा इस प्रकार है—

झंखत झुरवत रात दिन, लगन निअर अब आइ।
बहुत बिकल भई रुकुमिनी, तनिको कछु न सोहाइ॥[1]

संत शिवनारायण की एक दर्जन से भी अधिक रचनाएँ बतलायी जाती है जिनमें से कई एक में भोजपुरी के उदाहरण मिलते हैं। इनकी 'शब्दावली' का एक पद इस प्रकार है—

सूतल रहली मैं नींद भरि गुरु देहलें जगाय।
गुरु के चरन रज अंजन हो, लेहलिउँ नैन लगाय।
तबहीं से नीन न भावे हो, नाही मन अलसाय।
गुरु के चरन रज सागर हो, चलि सागरे नहाऊँ।
जनम जनम के पातक हो, छन में धुलि जाय।
पियलों में प्रेम पियाला हो, गयले मन अलसाय।
अगिया लागिय तन गइले हो, मोके किछु न सोहाय।
पहिरेउ सुमति गहनवा हो, देहली कुमति उतारि।
शब्द का माँग सँवारल हो, दुरमति बहवाइ।
सीस महल चढ़ि बैठिला हो, जहाँ चोरवो न जाइ।
शीवनराएन समरथ हो देखि काल डेराइ।[2]

---

[1] **भक्तमाल, हस्तलिखित प्रति**

[2] **शब्दावली, हस्तलिखित प्रति**

इन्हीं का एक छोटा सा पद निम्नलिखित है। इसमें कबीर की शैली में कहा गया है—

तनि एक मनुवाँ धरा तूं धीर।
पाँच सखी आइल मोरे अँगना, पाँचों के हथवा में पाँच-पाँच तीर।
खँइचब गुन तब छोड़ब तीर, मुदाये मरन कर करो ततबीर।
शीवनराएन चीन्हल वीर, जनम जनम कर मेटल पीर।[1]

संत कबीर साहब संतों की परंपरा के आदि प्रवर्त्तक थे और उनका प्रधान कार्यक्षेत्र काशी होने के कारण, उनकी बोली भोजपुरी का प्रभाव उनके नाम पर चलाये गए 'कबीर-पंथ' तथा आस-पास के प्रदेश में प्रवर्तित संप्रदायों पर स्वभावतः ही पड़ा। उपर्युक्त संत कवियों का सम्बंध भोजपुरी के साथ प्रत्यक्ष रूप में भी रहा और उन्होंने उसी के बोलने वालों में पहले-पहल अपना प्रचार भी आरंभ किया। किंतु उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी संत थे जिन्होंने अपने भोजपुरी प्रदेश से अलग रहते हुए भी इसे कुछ-कुछ महत्व दिया। उदाहरण के लिए मलूक-पंथ के प्रवर्त्तक संत मलूकदास तथा सत्तनामी संप्रदाय के अनुयायी संत दूलनदास की रचनाओं पर भी हमें कहीं-कहीं भोजपुरी बोली तथा उसमें प्रयुक्त वर्णन-शैली का प्रभाव प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है। इसके सिवाय संत तुलसी साहेब जैसे कई कवियों ने भोजपुरी के कुछ प्रिय छंदों के प्रयोग किये हैं और कबीर पंथ एवं शिवनारायणी संप्रदाय ने उसका दूर-दूर तक प्रचार भी किया है।

---

[1] शब्दावली, ह० प्र०।

भारतीय संतों का सांस्कृतिक योगदान

संतों की परंपरा का सूत्रपात यहाँ पर उस काल में हुआ जब कि इस देश के इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो चुका था। उस समय तक उसके मध्य-युग का भी आरंभ हो गया था और यहाँ के निवासियों का ध्यान अपने विषय में एक बार पुनर्विचार करने की ओर क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होता जा रहा था। भारतीयों की अनेक भावनाओं पर शताब्दियों से समय-समय पर आती रहने वाली विविध जातियों ने बहुत पहले से ही अपना न्यूनाधिक प्रभाव डाल रखा था और इस देश की श्रमण संस्कृति ने भी उनकी विचारधारा में अनेक परिवर्तन ला दिये थे। इसके सिवाय सम्राट ह ँ के अनन्तर उत्पन्न हुई राजनीतिक हलचलों के कारण उनकी सामाजिक दशा भी क्रमशः बदलती जा रही थी और उनके सामने अनेक नये-नये प्रश्न उठते जा रहे थे। इनमें कुछ तो ऐसे थे जिनका सम्बंध अपने समाज के पुनः संगठन से था जो विविध नवागत आदर्शों के आलोक में सामंजस्य बिठाने से ही पूर्ण हो सकता था और दूसरे इस प्रकार के थे जिनके अनुसार एक बार फिर विचार न कर लेने पर अपनी परंपरागत स्वीकृतियों का पूर्ववत् सँभालना किंचित् कठिन प्रतीत हो रहा था। अतएव एक ओर जहाँ उनकी प्रवृत्ति नयी स्मृतियों तथा निबंधों की रचना की ओर उन्मुख हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर यहाँ के दार्शनिक लोग अपने प्रमुख मान्य ग्रन्थों को नये ढंग से समझने एवं समझाने की चेष्टा में विभिन्न भाष्यों तथा टीकाओं का निर्माण करते जा रहे थे और इस प्रकार एक सैद्धान्तिक वातावरण की भी सृष्टि होती जा रही थी।

उपर्युक्त यत्नों में उन्हें सबसे अधिक प्रेरणा उस समय मिली, जब से यहाँ पर इस्लाम धर्म का भी प्रचार आरंभ हो गया और एक नितान्त भिन्न समाज एवं संस्कृति के संघर्ष में आ जाने के कारण, उन्हें अपनी अनेक बातों में आमूल परिवर्तन लाने तक की समस्या का सामना करना पड़ गया। पहले के विदेशी यहाँ आने पर अपनी किसी न किसी विशेषता की केवल एक छापमात्र ही डाल पाते थे और अंत में वे भारतीयों के साथ प्रायः घुलमिल भी जाया करते थे। किंतु इस्लाम धर्म के अनुयायियों की प्रकृति उनसे भिन्न थी। उनका न केवल अपना समाज ही सुसंगठित था, अपितु वे लोग दृढ़ सांप्रदायिक भावनाओं द्वारा भी अनुप्राणित थे जिस कारण, उनके संपर्क में आ जाने पर भारतीय समाज को उनकी कई बातों द्वारा आप से आप प्रभावित हो जाना पड़ता था और वे बहुधा उनको झकझोर तक दिया करती थीं। उनकी एकेश्वर-वादी भावना, सामाजिक भेदभाव विहीनता तथा धार्मिक समानता के वैशिष्ट्य ने यहाँ की दलित, परिगणित एवं पिछड़ी हुई जातियों में एक नवीन आशा का संचार कर दिया जिससे उनमें नव जागरण एवं स्वाव-लंबन का भाव उठने लगा और इसकी प्रतिक्रिया में यहाँ के उच्च-वर्गीय लोगों को भी अपने नियंत्रण के नियम बहुत कुछ ढीले करने पड़ गए। फलतः भारतीय समाज की सामूहिक मनोवृत्ति का झुकाव क्रमशः लोकोन्मुख होता गया। तदनुसार यहाँ धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का आन्दोलन चला और साहित्य-रचना के क्षेत्र में भी लोक-भाषाओं का व्यवहार अधिक वेग के साथ होने लगा और उसमें निम्नवर्ग तक के लोग भी स्वभावतः सहयोग प्रदान करने लगे।

संत-परंपरा की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम, ऐसे ही वातावरण में हुई जिस कारण संतों में इस प्रकार के प्रायः प्रत्येक आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया और अपनी अटपटी बानियों द्वारा सर्वसाधारण की चेतना को पुनर्जा-ग्रत कर भारतीय संस्कृति के विकास में अपना हाथ बँटाया। संतों के पहले

से ही इस क्षेत्र में सिद्ध, नाथ पंथी, जैन मुनि, आडवार एवं कतिपय सूफ़ी भी काम करते आ रहे थे। वे भी अधिकतर समाज के निम्न-वर्गों में ही पाले-पोसे रहते थे और तात्कालीन वातावरण के कारण उत्पन्न विचार स्वातंत्र्य द्वारा प्रेरणा ग्रहण कर समयोचित विचार प्रकट किया करते थे। सिद्धों का पृष्ठाधार बौद्धधर्म का महायान संप्रदाय था जिसके विकसित रूप वज्रयान एवं सहजयान की साधनाओं का वे अनुसरण करते थे तथा नाथ पंथी एवं जैनमुनि भी, इसी प्रकार क्रमशः अपने मूल शैव और जैन धर्मों की साधनाओं का ही अवलंबन अधिक श्रेयस्कर समझते आ रहे थे। वैष्णव आडवारों की भक्ति का रूप भी प्रधानतः षोडशोपचार पूजा से ही समन्वित रहा और मुस्लिम सूफ़ी अपने 'इश्क़ हक़ीकी' की धुन में निरत रहने को सर्व साधारण के लिए भी सर्वोच्च साधना मानते आये। इन पाँचों में से कोई भी अपने मूलाधार की सांप्रदायिकता का मोह न छोड़ सका था और न वह तदनुकूल साधनाओं का पूर्ण त्याग ही कर पाया था। वे सदा एक दूसरे को अपने से कुछ न कुछ भिन्न मानते आये थे और वे उसकी विशिष्ट साधना को भी उचित महत्व देना नहीं जानते थे। उनकी कार्य-पद्धति मूलतः अपने-अपने सांप्रदायिक ढंगों से ही चलती रही और वे केवल प्रसंगवश ही कुछ ऐसे उद्‌गार प्रकट कर देते रहे जो उस अवसर के अनुकूल पड़ जाते थे। संतों ने इसके विपरीत न केवल उनकी विभिन्न साधनाओं में समन्वय लाने की चेष्टा की, अपितु मानव जीवन के महत्व की ओर ध्यान देना भी अपना कर्तव्य समझा।

संतों का दार्शनिक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। वे साधारणतः अद्वैतवादी विचारधारा के समर्थक थे और तदनुसार वे परमात्मतत्व की एकमात्र सत्ता के साथ अपने को अभिन्न भी माना करते थे। उनकी समग्र साधनाओं का लक्ष्य इसीकारण, केवल उस मनोदशा का उपलब्ध कर लेना मात्र था जिसके निरन्तर एक समान बने रहने के फलस्वरूप

उन्हें सदा अपनी उस एकता की अनुभूति होती रहे और उस तत्व के साथ तदाकारता ग्रहण करने की स्थिति में ही रह कर वे अपना जीवन भी व्यतीत कर सकें। इसके लिए उन्हें सबसे उपयुक्त साधना 'सुरति-शब्दयोग' की जान पड़ती थी, किंतु अपने उद्देश्य की पूर्ति में यत्किंचित् सहायता करने वाली किसी भी अन्य साधना को वे कभी हेय नहीं समझते थे। वे योगियों के हठयोग, सूफ़ियों के प्रेमयोग तथा वैष्णवों के भक्तियोग जैसी साधनाओं के महत्व को भी एक समान स्वीकार करते थे और उन्हें भी अपना कर चलने में उन्हें न तो कोई आपत्ति थी, न उनका उन्होंने कभी त्याग ही किया। फिर भी इन जैसी साधनाएँ उनके लिए केवल सहायक साधन मात्र थीं और इन सभी के प्रयोगों का लक्ष्य वह आध्यात्मिक जीवन ही था जिसकी उपलब्धि को वे प्रायः 'जीवन्मुक्त' का अनुभव कहा करते थे। उनका यह जीवन साधारण समाज के बाहर बने रहकर कालयापन करना नहीं था, न इसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का ही आना अनिवार्य था। उपर्युक्त दृष्टिकोण को स्थिर किये रहने पर अपनी प्रत्येक दैनिक चेष्टा के रूप में कायापलट लाया जा सकता था। इसी प्रकार किसी असाधारण से असाधारण स्थिति के भी आ जाने पर अपने को भली-भाँति सँभाल लिया जा सकता था। इस दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने संपूर्ण जीवन को एक और अखंड ठहराया था और उसके प्रत्येक पहलू की ओर समुचित ध्यान देना अपना कर्त्तव्य समझा था। उनके लिए जीवन में न तो किसी आर्थिक वा सामाजिक आधार पर भेदभाव का लाना आवश्यक था, न उनके सामने किन्हीं सामाजिक स्तरों की कल्पना का ही कोई मूल्य था।

इस प्रकार, संतों के सारे उपदेशों का निचोड़ निम्नलिखित पाँच वाक्यों द्वारा संक्षेपतः प्रकट किया जा सकता है—

(१) विश्व का मूल परमतत्व एक और अद्वितीय है तथा प्रत्येक व्यक्ति उससे तत्वतः अभिन्न है;

(२) उक्त अभिन्नता की अनुभूति अथवा इस प्रकार की स्वानुभूति, पर ही आदर्श आध्यात्मिक जीवन का निर्माण किया जा सकता है;

(३) आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए अपना सर्वांग विकास अपेक्षित है और इसमें सहायक होनेवाली कोई भी साधना अभिनंदनीय है;

(४) परंतु प्रत्येक दशा में अपनी अनुभूति, अभिव्यक्ति एवं आचरण में पूर्ण सामंजस्य का बना रहना भी अनिवार्य है;

(५) इस प्रकार की व्यक्तिगत साधना द्वारा ही क्रमशः आदर्श मानव-समाज का निर्माण किया जा सकता है जिससे अंत में विश्व कल्याण भी संभव है। इसकी सफलता के आधार पर ही यदि चाहें तो भूतल को स्वर्ग के रूप में भी परिणत कर सकते हैं।

संतों की इन स्वीकृतियों में से प्रथम ने जहाँ साम्यभाव अथवा विश्वबंधुत्व के आदर्श का मूल उत्स प्रतिष्ठित किया, वहाँ उनकी दूसरी मान्यता ने प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान स्वावलंबन के महत्व की ओर भी दिलाया। इसी प्रकार उनकी तीसरी धारणा के अनुसार हमारे दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार का समुचित मूल्यांकन आवश्यक समझा गया और चौथी के द्वारा हमें स्वयं व्यक्तिगत जीवन के ही वास्तविक विकास की सच्ची कसौटी मिल गई। इन चारों दृष्टियों के अनुसार जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति स्वभावतः उस आदर्श मानव समाज के अंग हो जाते थे जो उनकी पाँचवीं आस्था का आधार था।

भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से परमात्मतत्व के प्रति अद्वैत भावना कोई नवीन बात नहीं थी। प्राचीन काल से ही उपनिषदों द्वारा इसके सिद्धान्त का प्रतिपादन होता आया था और इस देश के अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने भी उसकी व्याख्या की थी। संत-परंपरा का प्रारंभ होने के लगभग छह सौ वर्ष पहले स्वामी शंकराचार्य ने इसका निरूपण केवलाद्वैत की धारणा के अनुसार बहुत ही स्पष्ट शब्दों में

किया और प्राचीन काल के ग्रन्थों में उपलब्ध इस विषय के महावाक्यों में पूरी संगति बिठाते हुए 'ब्रह्मसत्यं' के साथ-साथ 'जगन्मिथ्या' का भी समर्थन किया। स्वामी शंकराचार्य के अनुकरण में अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस प्रश्न पर गंभीर विचार किया और भारतीय दार्शनिक विचारधारा में अद्वैतवाद को बहुत पीछे तक महत्व मिलता आया। परंतु इस प्रकार के तत्व-चिंतन में शास्त्रीय पद्धति की प्रधानता अक्षुण्ण रूप से बनी रही और इसमें निरत महापुरुष एक विशिष्ट कोटि के व्यक्ति समझे जाते रहे। उनका प्रमुख उद्देश्य अपनी दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ति एवं धर्म ग्रन्थों के विविध मतवादों में एकरूपता और पूर्ण सामंजस्य का स्थापित करना मात्र रहा। इसके सिवाय उस विचार-धारा का एक परिणाम यह भी हो सकता था कि ऐसे चिंतनशील व्यक्ति अपने कोरे दार्शनिक प्रयासों के फल को ही अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी मान बैठें। उसकी उपलब्धि से पूर्ण संतुष्ट होकर अपने समाज के निरे निष्क्रिय अंग ही बने रह जायँ। व्यक्तिगत मोक्ष इस प्रकार के चिंतन एवं मनन का एक मात्र ध्येय बन गया था और 'ऐहिक' तथा 'आमुष्मिक' स्थितियों के बीच अत्यन्त चौड़ी खाई की कल्पना कर ली गई थी। फलतः जहाँ ऐसे साधक की मनोवृत्ति अधिक-तर आत्मकेन्द्रित बनती जा रही थी, वहाँ भारतीय संस्कृति की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली भावना भी लुप्त हो रही थी।

संत-परंपरा के लोगों ने अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने के लिए कभी किसी प्राचीन ग्रन्थ के वाक्यों का आश्रय लेना आवश्यक नहीं समझा। उन्हें अपने अर्द्धशिक्षित रहने के कारण किन्हीं शास्त्रीय सिद्धान्तों के बीच कभी सुसंगति बिठाने का भी प्रयास करना नहीं पड़ा। उनकी अद्वैत भावना का मूलस्रोत सत्संग एवं स्वानुभव में निहित था, जिस कारण वह केवल कोरी मस्तिष्क की उपज मात्र न रहकर, उनके प्रत्यक्ष जीवन में भी अपना स्थान बना लेती थी। उसका रूप विविध

तर्कों द्वारा अर्जित किये गए किसी 'दार्शनिक' ज्ञान के सदृश न था, प्रत्युत उनके हृदयों में जमे हुए धार्मिक विश्वास जैसा होता था। उसे वे न केवल किसी न किसी साधना द्वारा सदा एकरूप बनाये रखने में लगे रहते थे, अपितु वे उसे अपने दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यापार में बराबर घटाते भी रहा करते थे, जिस कारण उसे साधारण 'आत्मज्ञान' की संज्ञा न देकर 'स्वानुभूति' कहना ही अधिक उचित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों का लक्ष्य भव-बंधनों से मुक्ति पा लेना था, किंतु एक में जहाँ वह योग द्वारा शरीर त्याग करने पर मिलती थी, वहाँ दूसरी दशा में वह जीवन काल में भी संभव थी। उसकी उपलब्धि के लिए कहीं किसी अन्य लोक में जाने की कल्पना भी आवश्यक न थी, उसका आनन्द जीते जी और यहीं रह कर भी उठाया जा सकता था। अतएव, संत लोग उसे अपने 'सुरति शब्द-योग' के द्वारा सदा अपने प्रत्यक्ष अनुभव में रखना चाहते थे जिससे उसकी दशा में क्षण मात्र का भी परिवर्तन न होने पाये और वह अपने लौकिक व्यवहारों तक एक समान बनी रहे।

इस प्रकार की अद्वैतभावना के ही आधार पर कबीर साहब ने हिन्दू धर्म की व्यवस्था तथा उसके कारण उत्पन्न भेदभाव को अस्वाभाविक ठहराया था। उनका कहना था कि जब एक ही मूल से सब किसी की उत्पत्ति है और उस ज्योति की कल्पना सर्वत्र एक समान की जाती है तो फिर ब्राह्मण एवं शूद्र का पृथक् होना कहाँ सिद्ध है? हिन्दुओं ने न केवल इस प्रत्यक्ष एवं सीधी-सादी बात को भुला दिया है, प्रत्युत इसके विपरीत छुआछूत सम्बंधी एक विचित्र धारणा भी उन्होंने बना ली है। कबीर साहब ने हिन्दुओं की ऐसी मान्यताओं की खुले शब्दों में आलोचना की है और उन्हें अपनी भूल पर एक बार फिर विचार करने का उपदेश भी दिया है। इस सामाजिक भेदभाव के ही समान उन्होंने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच दीख पड़ने वाले धार्मिक भेदभाव को भी हेय माना

है। अपनी अद्वैतभावना के अनुसार वे यहाँ भी 'दुई जगदीश कहाँ ते आया', जैसे प्रश्न छेड़ देते हैं तथा 'राम रहीम करीमा केसव' की एकता एवं अभिन्नता का प्रतिपादन करने लग जाते हैं। उनका यहाँ पर भी कहना है कि जब सभी मानवों की उत्पत्ति एक समान होती है और कोई भी किसी धर्म विशेष के चिह्न लेकर नहीं जन्म लेते तो वे भिन्न-भिन्न कैसे हुए ? इसी प्रकार वे इस भावना के अनिवार्य परिणाम को केवल मानव समाज तक ही सीमित न रखकर उसे पशुवध की हिंसा-वृत्ति विषयक मूल तक ले जाते हैं और उसके आगे 'पाती पाती जीव' की घोषणा करते हुए मालिन को किसी मूर्ति पर चढ़ाने के लिए पत्र पुष्पादि तोड़ने से भी विरत करना चाहते हैं। कबीर साहब तथा उन्हीं की भाँति अन्य संतों की भी दृष्टि में सारा विश्व तत्वतः एक और आत्मस्वरूप है। तदनुसार किन्हीं भी दो प्राणियों के बीच कृत्रिम भेदभाव की कल्पना करना अथवा किसी भी एक के प्रति हमारा दुर्भाव रखना नितान्त अस्वाभाविक माना जा सकता है।

संतों ने एक ओर जहाँ भारतीय अद्वैतवाद के आधार पर उक्त प्रकार से एक सच्चे तथा स्वाभाविक साम्यवाद का प्रचार किया, वहाँ दूसरी ओर इन्होंने इसके द्वारा यह भी संकेत कर दिया कि हमारा ध्येय सदा अपने सिद्धान्त एवं आचरण के बीच पूरी संगति बिठाये रखने का ही होना चाहिए। हमारा जीवन अपने आदर्श के उतना ही अधिक निकट समझा जा सकता है और हम उसमें उतने ही सफल भी कहे जा सकते हैं जितना अधिक सामंजस्य हमारी 'कथनी' एवं 'करनी' में पाया जाता है और इसके अभाव का परिणाम कभी श्रेयस्कर नहीं होता। इसकी ओर पूरा ध्यान न दे सकने के कारण हम अपने समाज में किसी छली अथवा प्रपंची जैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। अपनी धार्मिक साधनाओं के अवसरों पर कोरे ढोंग एवं वाह्याचार के फेर में पड़कर उनके वास्तविक लाभ से हाथ धो बैठते हैं और अपने व्यक्तिगत

जीवन के विकास में कभी एक पग तक आगे नहीं बढ़ पाते। संतों ने इस विषय में हिन्दुओं के लब्धप्रतिष्ठ पंडितों और श्रद्धाभाजन योगियों तपस्वियों तथा संन्यासियों एवं मुसलमानों के पथ-प्रदर्शक शेखों और मुल्लाओं को अपनी फटकारों का विशेष लक्ष्य बनाया, क्योंकि ये ही लोग अपने-अपने धार्मिक समाजों के अगुए और आदर्श माने जाते थे। कबीर साहब ने यहाँ तक बतलाया कि ऐसे लोग धर्मग्रन्थों के आप्त-वाक्यों पर स्वयं पूरा विचार तक नहीं कर लेते और अपने स्वार्थवश उनके मनमाने अर्थ लगाकर बहुधा ऐसा काम कर डालते हैं जिनके कारण उन पुस्तकों के प्रति दूसरों की अश्रद्धा बढ़ जाती है। वेद एवं कुरान के विषय में सहसा यह कह देना कि उनकी बातें झूठी हैं, कदापि उचित नहीं है। उनका इस प्रकार झूठी कहलाना प्रायः इस बात पर आश्रित रहता है कि वे भली भाँति समझ नहीं ली जातीं और न उन पर कभी पूरा अमल किया जाता है।[1] संतों ने ऐसी बातों को बार-बार दुहराया और उन्हें कार्यान्वित करके भी दिखलाया।

संतों का जितना आग्रह किसी बात को अपने निजी अनुभव में लाकर उसे स्वयं परख लेने का था उतना उसके केवल 'आप्तवाक्य' होने के ही कारण उसका सहसा अनुसरण भी करने का नहीं था। इसी कारण वे धर्मग्रन्थों पर एकान्त निर्भर रहने का घोर विरोध किया करते थे। वे विचार-स्वातंत्र्य में पूरी आस्था रखते थे और इस दृष्टि से वे दोनों धर्मों की चिर प्रचलित प्रथाओं के पूर्ववत् कायम रहने के भी विरोधी थे। अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता हमारी चिंतनधारा की स्वाभाविक प्रगति में प्रायः बाधक सिद्ध होती है और इन दोनों के कारण हमारे विकास में बहुत बड़ी रुकावटें आ सकती हैं। 'आप्तवाक्यों' का अंधानुसरण करते समय हमारा जितना ध्यान उनमें निहित सत्य की ओर नहीं जाता, उतना उनके अक्षरों पर आश्रित शब्दार्थों में ही उलझा रह

[1] वेद कतेब कहहु मत झूठे, झूठा जो न बिचारै। आदि ग्रन्थ।

जाता है। ऐसे समय हम बहुधा यह भी भूल जाते हैं कि अमुक शब्द का प्रयोग वहाँ पर किस युग एवं परिस्थिति विशेष में किया गया होगा तथा ऐसा करते समय उसके मूल प्रयोक्ता का वास्तविक उद्देश्य क्या रहा होगा और फिर आज भी यदि उसका वही अर्थ लें तो वह कहाँ तक समीचीन ठहर सकता है। इसी प्रकार हम किसी परंपरागत प्रथा का निर्वाह करते समय भी कभी यह विचार नहीं कर लेते कि उसकी उपयोगिता आज भी पूर्ववत् बनी रह गई है वा नहीं। हिन्दुओं तथा मुसलमानों के धार्मिक समाजों में जो वेशभूषा और त्योहारों के ढंग सदियों से प्रचलित हैं उनके वास्तविक मूल्य की कोई खोज नहीं करता। वे केवल इसी आधार पर अपना लिये जाते हैं कि ऐसा बहुत दिनों से होता चला आया है और उनके त्याग से अपनी रूढ़िवादिता पर आघात पहुँचता है। संतों ने ऐसी बातों की ओर उक्त दोनों धर्मों के अनुयायियों का ध्यान आकृष्ट किया और इसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित कर मूल सत्य को अपनाने के लिए उनसे आग्रह-अनुरोध भी किया।

संतों ने 'सत्य के पूर्ण रूप' को स्वीकार किया था, जिस कारण जगत की विभिन्न अनेकताओं में भी उन्हें सदा एकता का ही भास होता रहता था। फलतः जिस प्रकार उन्होंने 'दर्शन' की दृष्टि से अद्वैतवाद में आस्था रखी थी, 'धर्म' के अनुसार विविध प्रचलित संप्रदायों में समन्वय लाने की चेष्टा की थी, मानव समाज के अंतर्गत किसी भी प्रकार के बाह्य भेदभाव का आना असह्य माना करते थे, उसी प्रकार अपने व्यक्ति जीवन की साधना को भी वे 'सर्वाङ्गीण' कहा करते थे। उनके अनुसार हम अपने जीवन में कोई आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक वा अन्य किसी प्रकार के पृथक् विभाग नहीं कर सकते और न हमारी किसी क्षुद्रातिक्षुद्र चेष्टा का भी अपने जीवन के आध्यात्मिक रूप से अस्तित्व में आना कभी कोई मूल्य रख सकता है। 'ब्रह्मचर्य' एवं 'अपरिग्रह' पर आवश्यकता से अधिक बल दिये जाने के कारण भार-

तीय समाज पर निवृत्तिमार्गियों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता आया था। स्वामी शंकराचार्य के मायावाद ने सारे जगत को ही मिथ्या ठहरा कर मानव जीवन की नीरसता तथा किसी अभीष्ट कैवल्यपद के परमानंद का चित्रण उसके सामने बड़े गहरे रंगों में कर दिया था। संतों ने इसका प्रभाव दूर करने के लिए कोरे निवृत्ति मार्ग एवं कोरे प्रवृत्ति मार्ग को केवल एकांगी और एकपक्षीय ठहराया और मध्यम मार्ग अपना कर विवेक के साथ समझ-बूझ कर हंसवत चलने का उपदेश दिया। इस प्रकार संतों के आदर्श व्यक्तिगत जीवन में एक ओर जहाँ साधारण कोटि के व्यक्तियों की सादगी थी। वहाँ महान विचारकों का गंभीर चिंतन भी था। उसी के अनुसार एक ओर जहाँ अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए उन्हें पर्याप्त अवसर उपलब्ध था, वहाँ विश्व के कल्याण की दृष्टि से अथक यत्न भी किया जा सकता था।

संतों के विषय में कभी-कभी पूछ दिया जाता है कि उन्होंने हमारे लिए क्या किया और इसके साथ संसार की वर्त्तमान त्रुटियों की ओर ध्यान भी दिलाया जाता है। प्रश्न यह है कि यदि वास्तव में इन संतों हमारी दुरवस्था को पहचान पाया था और उसके सुधारों के लिए उचित परामर्श दिया था तो क्या कारण है कि आज तक उनके बहुमूल्य उपदेशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और सारी सांसारिक बुराइयाँ जहाँ की तहाँ बनी रह गईं? और, यदि इन संतों के यत्नों द्वारा विश्व को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं पहुँच सका तो फिर इन्होंने हमारे सांस्कृतिक विकास में ही कौन सा सहयोग प्रदान किया होगा? यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है और यह वस्तुतः इन संतों के कार्यों की परख के साथ-साथ इनकी अन्तिम देन की जिज्ञासा भी जाग्रत करता है। इस प्रश्न का रूप ऐसा है जो इन संतों के अतिरिक्त विश्व के अन्य अनेक महापुरुषों, मनीषियों, धर्माचार्यों एवं सुधारकों के विषय में भी लगभग एक ही प्रकार लागू हो सकता है। क्या राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, जरथुस्त्र, मुहम्मद,

कनफ्यूशियस आदि महान व्यक्तियों तथा उनके प्रसिद्ध अनुयायियों ने भी हमारे लिए कुछ किया है ? इनमें से किसी को भी हम ऐसा नहीं कह सकते कि उन्होंने विश्व के लिए कुछ न कुछ ठोस कार्य कर जाने के यत्न नहीं किये। उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व-कल्याण की दृष्टि से अनवरत कार्य करते रहने में ही व्यतीत किया और अंत में वे कुछ ऐसे सन्देश भी दे गये जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। परंतु क्या कारण है कि विश्व की प्रगति प्रत्यक्षतः अपने निजी ढंग से ही होती चली आ रही है और कभी कोई इसमें उनका आभार नहीं स्वीकार करता ? फिर इसमें कौन सा रहस्य निहित है कि उक्त सभी महान व्यक्तियों का प्रभाव उनके प्रादुर्भाव के पीछे केवल कुछ समय तक ही स्पष्ट दीख पड़ा ? उनके अनुयायियों की संख्या में प्रायः वृद्धि होती रहने पर भी उनके वास्तविक सन्देशों के महत्व में क्रमशः कमी आती गई और वे उपेक्षणीय तक बन गए ?

यह प्रश्न साधारण प्रश्नों जैसा नहीं है और इसकी अपूर्व गंभीरता इसकी कतिपय विशेषताओं पर निर्भर है जिन पर ध्यान दे लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रश्न का सम्बंध संपूर्ण विश्व से है जिसके विषय में अन्तिम ज्ञान का दावा करना कभी युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। इस सम्बंध में अभी तक जो कुछ परिणाम निकाले जा सके हैं वे अधिकतर तर्क, प्रयोग एवं अनुमान जैसे साधनों पर ही आश्रित हैं जिनकी पहुँच स्वभावतः सीमित हो सकती है। इसके सिवाय यदि विश्व को सदा प्रगतिशील मान कर चला जाय तो इसके समझ पाने में एक दूसरी कठिनाई का भी सामना करना पड़ जाता है। निरन्तर परिवर्तनशील वस्तु के किस रूप विशेष को ध्यान में रखकर उस पर विचार किया जाय ? विश्व के विकास का नियम विभिन्न परिस्थितियों में भी अन्तर ला सकता है जिस कारण ऐसे विश्वजनीन प्रश्नों पर सोचते समय भी युग विशेष के वातावरण का प्रभाव पड़ना अनिवार्य सा है। अतएव जिन-जिन महा-

पुरुषों ने इस प्रश्न पर आज तक पूरी गंभीरता के साथ मनन करने का यत्न किया उन्हें सदा अपनी इन सीमाओं के ही भीतर काम करना पड़ा। उनके चिंतन एवं कार्यक्रम की पद्धति सदा अपनी परिस्थितियों से ही प्रेरणा पाती रही और उनके द्वारा उपलब्ध परिणाम भी स्वभावतः इनके ही अनुकूल निकलता आया। प्राचीन विचारकों का ध्यान कभी किसी विश्वनियन्ता की ओर जाता था, कभी वे किसी सार्वभौम नियम की कल्पना करते थे, कभी किसी अद्वितीय तथा निरपेक्ष तत्व के अस्तित्व का अनुमान करते थे तो कभी सारे जगत के आपसे आप उत्पन्न होने एवं विकास पाने के विषय में तर्क किया करते थे। फलतः विश्व सम्बंधी दोषों की त्रुटियों को दूर करने तथा सबको सुखी एवं संपन्न बनाने के प्रश्न पर उनके विचार करने के ढंग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। वे सभी किसी न किसी आदर्श विश्व को कल्पना करते और तदनुकूल सुधार एवं परिवर्तन लाने का परामर्श और उपदेश दिया करते। ऐसी दशा में किसी एक सार्वजनीन एवं सर्वसुलभ उपाय के द्वारा विश्व को सारी कमियों की पूर्ति का सफल यत्न करना कोई सरल काम नहीं था। आदर्श विश्व की कल्पना करते समय यदि उनका ध्यान प्रधानतः इस प्रश्न के उस पार्श्व की ओर चला जाता, जहाँ उसे 'सामूहिक' वा समष्टि की दृष्टि से देखना चाहिए तो उक्त कमियों के प्रमुख कारणों पर विचार करते समय वे इस बात को भी नहीं भूल पाते थे कि वह समष्टि भी वस्तुतः अनेक व्यक्तियों का ही समाहार है। आदर्श मानव समाज का स्वप्न देखते समय वे प्रायः व्यक्ति के महत्व को भूल जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का दम भरते समय सदा समाज पर दृष्टि नहीं रख पाते। जिन महापुरुषों ने इन दोनों को समुचित महत्व प्रदान कर पर्याप्त उदारता एवं व्यावहारिकता से काम लिया उनका ही प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक स्थायी रहा।

संतों के कार्य पर इस विचार से दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि, विश्व कल्याण सम्बंधी प्रश्न को करते समय उन्होंने उक्त दोनों

का ध्यान रखा। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्माण का उपदेश देते समय उन्होंने यही कहा कि वे विश्वात्मक परमात्मतत्व के साथ अपनी अभिन्नता का विचार कभी न छोड़ें। संतों के अनुसार किसी आदर्श व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा, इस दशा में उस तत्व की अनुभूति के रंग में स्वभावतः रँगी रहेगी और इस कारण उसका कोई भी कार्य ऐसा नहीं हो सकता जो वाह्यतः व्यक्तिगत सा दीखता हुआ भी, तत्वतः उक्त प्रकार के सामूहिक कल्याण के विपरीत पड़ता हो। वास्तव में ऐसे व्यक्ति के भीतर किसी ऐसी शांति का समावेश हो जाता है[1] जिसके कारण उसके सारे दुख सुख से प्रतीत होने लगते हैं और सब किसी के साथ उसका भाव निर्वैरिता का हो जाता है। यहाँ तक कि उसे अपनी मृत्यु का भय नहीं रह जाता और उसका प्रत्येक कार्य सुखपूर्वक एवं अनायास होने लग जाता है। संतों ने इस आदर्श दशा को प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं बतलायी है, न इसके लिए किसी काल्पनिक 'धाम' की ही ओर संकेत किया है। इसकी उपलब्धि के लिए पहले किसी आदर्श विश्व अथवा आदर्श समाज का निर्मित हो जाना भी अनिवार्य नहीं। व्यक्तिगत रूप से यह जिस किसी को भी चाहे वह जिस किसी भी समाज का सदस्य हो, संभव है। आवश्यकता केवल उसके जीवन में कायापलट आने तथा उसके स्थायी बने रहने भर की है। प्रत्येक व्यक्ति की सफलता अपने निजी यत्नों पर ही निर्भर है। जिस कारण संतों के अनुसार, आदर्श विश्व का निर्माण किसी संगठन की

---

[1] **अबहम सकल कुसल करि मांनां, स्वांति भई तब गोव्यंद जांनां।।टेक।।**
तन मैं होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख सहज समाधि।।
जमके उलटि भया है राम, दुख बिसराया सुख किया विश्राम।।
वैरी उलटि भये हैं मीता साषत उलटि सजन भये चीता।। इत्यादि
कबीर ग्रन्थावली, पद १५, पृ० ९३।

अपेक्षा नहीं करता। संतों ने हमारे लिए क्या किया, का प्रश्नकर्त्ता यदि उनके द्वारा प्रतिष्ठित किसी ऐसी स्वयंसेवकों की टोली की खोज में हो जो सबको बिना बुलाये सजग और सचेत करती फिरती हो अथवा यदि वह उनके द्वारा सुरक्षित किसी ऐसी जड़ी-बूटी का पता लगाना चाहता हो जो घर बैठे सभी प्रकार के दुःखों को दूर कर सकती हो तो इन दोनों ही दशाओं में उसे किसी प्रकार का संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता। संतों ने ऐसी कोई भी पकी-पकायी सामग्री नहीं छोड़ी। उन्होंने विश्व के उस राजरोग को पहचानने की चेष्टा की जिस कारण वह निरन्तर दुःख झेला करता है और उसका सावधानी के साथ निदान किया। वे उसकी दवा का गुण स्वयं अपने ऊपर उसका प्रयोग करके भी सिद्ध कर गए तथा उसके समुचित अनुपानों की ओर भी संकेत कर गए। हमने न उन पर श्रद्धा की और न अपने ऊपर ही पूरा विश्वास किया, प्रत्युत सारे झमेलों से अलग बने रहकर केवल इतना ही जानना चाहा कि किस किसने अपना दायित्व कहाँ तक निभाया तथा क्या किसी अन्य की कृपा से भी कोई ऐसा उपाय हाथ लग सकता है जिससे सबका कल्याण हो सके ?

संतों ने जिस अपनी धारणा के आधार पर विश्व के प्राणियों में सुख एवं शान्ति की प्रतिष्ठा करने का सुझाव दिया थी वह भारतीय विचार-धारा से बहुत भिन्न नहीं थीं और इस विषय की बहुत सी बातें प्रायः एक ही समान तर्कसम्मत भी कही जा सकती थीं। संतों की विशेषता केवल इस बात में पायी गई कि उन्होंने ऐसी मान्यताओं को शास्त्रानुमोदित मात्र न मान कर इन्हें अपने अनुभवों की कसौटी पर भी कस कर सिद्ध कर दिया। इस प्रकार ये केवल कतिपय उच्चवर्ग के लोगों की ही वस्तु न रह कर सर्वसाधारण तक के लिए सुलभ हो गई। संत लोग स्वयं अधिक शिक्षित नहीं रहते थे और साधारण कोटि के समाज में प्रायः पले-पोसे गए होने के कारण वे साधनहीन भी थे। परंतु जिन प्रश्नों का

समाधान करने का उन्होंने यत्न किया वे सर्वथा मौलिक होने के कारण अत्यन्त सरल और स्वाभाविक भी थे। संतों ने उन्हें अपने सहज-भाव के साथ समझा और उन्हें उसी प्रकार दूसरों को समझाने की भी चेष्टा की। फलतः जो बातें कभी वैदिक साहित्य अथवा प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों में आने के कारण पहले बहुत गूढ़ और अपरिचित जान पड़ती थीं वे ही इनकी बानियों में बोधगम्य बन गईं। उनके प्रति सर्वसाधारण की उत्सुकता बढ़ने लगी और धीरे-धीरे जनभाषा में भी एक ऐसे संत-साहित्य का निर्माण हो गया जो अपने विषय की गंभीरता में किसी से कम न था। जो प्रश्न कभी केवल पंडितों एवं विद्वानों के ही लिए उपयुक्त समझे जाते थे और जिन्हें शुद्ध शास्त्रीय मात्र समझा जाता था वे इन संतों के यत्नों द्वारा सर्वसाधारण जनता के भी सामने आने लगे और इनका समावेश लोक-साहित्य तक में किया जाने लगा।

इस प्रकार संतों ने भारतीय संस्कृति के विकास में अनेक प्रकार के सहयोग प्रदान किया। भारतीयों के गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैतवाद को उन्होंने सर्वसाधारण के जीवन तक में घटा कर उसकी वास्तविक उपयोगिता सिद्ध कर दी। केवल इसी के आधार पर धर्म एवं संप्रदाय गत भेदभाव को प्रमाणित कर दिखाया। संतों की इस धारणा के प्रचार का एक परिणाम यह भी हुआ कि जो विश्वबंधुत्व पहले किसी स्वप्नलोक की बात समझा जाता था, उसे युक्तिसंगत आधार मिल गया और प्रत्येक भारतीय को अपने विषय में आत्मगौरव का अनुभव करने का अवसर मिल गया। इसके सिवाय इन संतों की ही कड़ी आलोचनाओं के कारण हमारा ध्यान एक बार अपनी उस दृष्टि की ओर भी गया जिसके कारण हम अपनी 'कथनी' एवं 'करनी' में सामंजस्य रखने का सदुपयोग नहीं जानते थे और हमारा जीवन ढोंगों से भर गया था। संतों ने इस महान दोष की ओर संकेत करके हमें अपनी कई प्रथाओं को सुधारने में भी

सहायता प्रदान की। इस प्रकार हमारे जीवन में अधिक शुद्धता, सत्यता एवं सुव्यवस्था को लाने का भी सुअवसर मिल गया। संतों ने अपने सभी कार्य साधारण समाज में रह कर और साधारण लोकभाषा के ही माध्यम से किया जो स्वयं भी उनकी एक बहुत बड़ी देन थी।

सिखधर्म का सांस्कृतिक विकास

सिखधर्म के मूल प्रवर्त्तक गुरु नानक ने किसी जाति-विशेष के निर्माण का यत्न कदाचित् कभी भी नहीं किया था। आरंभ में उन्होंने एक नवीन संस्कृति वाले आक्रमणकारियों के संपर्क तथा उसके कारण अपने यहाँ की जनता पर पड़नेवाले प्रभावों पर ही ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि हमारे यहाँ जिस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था आज तक स्थापित रही है, वैसी आगे नहीं रह सकती। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें घुसती जा रही हैं जिनके कारण, यहाँ की जनता की मानसिक स्थिति में आमूल परिवर्तन आ जाने की आशंका है। यदि उन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार कर उनके प्रकाश में अपने को सँभाल न लिया जाय तो संभव है, हमारी पूर्व स्थिति न रह जाय। अपने यहाँ की मौलिक परंपराओं तथा उनमें अनेक युगों से सन्निविष्ट रहती आई विशिष्ट धारणाओं के प्रति स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली ममता ने ही सत्य ग्रहण की इच्छा से कहीं अधिक उन्हें आकृष्ट किया और वे तात्कालिक समस्या को अपने ढंग से सुलझाने की ओर प्रवृत्त हो गए। उस समय की सामाजिक परिस्थिति एवं समाज की सामुदायिक मनोवृत्ति के कारण उनका पहले धर्म के सहारे चलना भी स्वाभाविक था। उन्होंने सर्वप्रथम परमात्मा का अस्तित्व, उसके स्वरूप तथा उसकी आराधना की समीक्षा आरंभ की और तब दूसरी ओर अग्रसर हुए। फिर भी, उनके प्रारंभिक यत्नों में भी किसी भविष्य के संगठन का बीज वर्त्तमान था जो आगे चलकर क्रमशः अंकुरित और पल्लवित हुआ।

गुरु नानक द्वारा प्रवर्तित सिखधर्म अपने प्रारंभिक काल कोरा सैद्धान्तिक न होकर साथ ही व्यावहारिक भी था। उन्हें उपास्य परमात्मा के उपर गंभीर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने की बहुत आवश्यकता नहीं समझी। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कह दिया कि इस विषय में "सोचै सोचि न होवई जे सोची लख बार" अर्थात् लाख यत्न करने पर भी, इस विषय में कोई अंतिम निर्णय नहीं दे सकता। इसलिए ऐसी बातों में उलझ कर दार्शनिक व्यवस्था देने का प्रयास करना समय नष्ट करने से बढ़ कर कभी नहीं कहा जा सकता। उनके बहुत पहले बुद्ध ने भी प्रायः इसी प्रकार के अपने विचार व्यक्त किये थे और दार्शनिक ऊहापोह के फेर में पड़े रहने की अपेक्षा मानव समाज की वर्त्तमान समस्याओं पर विचार करना ही उन्होंने भी कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा था। बुद्ध ने तो यह भी कहा था कि यदि किसी प्राणी के शरीर में कोई विषैला तीर घुस गया हो अथवा कोई मकान आग से जलने लगा हो तो उस समय जिस प्रकार उस तीर की बनावट, उसके बनानेवाले, उसके लोहे की जाति आदि पर ध्यान देने अथवा आग के विशाल रूप, उसके लगानेवाले, उससे होनेवाली दुरवस्था आदि पर विचार करने लगने की अपेक्षा यह कहीं अधिक आवश्यक है कि उस तीर को पहले निकाल लिया जाय अथवा उस आग को बुझा लिया जाय, उसी प्रकार अपने समक्ष आये हुए सामाजिक वा मानवीय दुःखमय प्रश्नों का निपटारा कर लेना ही हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। संसार के मूल में वर्तमान वस्तु की खोज करने की ओर पहले ही प्रवृत्त हो जाना, अपनी समस्याओं की गंभीरता की ओर उपेक्षा की दृष्टि डालना है और उससे लाभ की जगह हानि होने की ही अधिक संभावना रहती है।

गुरु नानक ने इसी कारण परमात्मा के प्रश्न पर उस समय उतना ही कहना पर्याप्त समझा कि वह एकमात्र एवं सदा वर्त्तमान रहने वाला सत्यस्वरूप है जिसका परिचय हमें सर्वदा एक शाश्वत नियम के रूप में

मिला करता है। उसके सिवाय कोई भी दूसरी बात विचारणीय नहीं। सर्वसाधारण के लिए मुख्यतः केवल इतना ही आवश्यक है कि उस नियम में विश्वास रखता हुआ अपने दैनिक कार्य में प्रवृत्त हो। उस एक की ओर सदा ध्यान बनाये रखने का परिणाम उनके कथनानुसार यह होगा कि हम सारी सृष्टिमात्र को ही उसका अंग समझा करेंगे। हम इसी कारण किसी की ओर दुर्भावना का रखना अनुचित समझने लगेंगे और हमारे सारे यत्न भ्रातृ-भावना से प्रभावित होकर हुआ करेंगे। ऐसी स्थिति में छोटे-बड़े, नीच-ऊँच, धनी-निर्धन अथवा मूर्ख-पंडित के विषय में भी हमारे सामने कोई भेदभाव न रहेगा और अपना कोई भी कार्य करते समय हम केवल इसी भाव से अनुप्राणित रहा करेंगे कि वह किसी वृहत् परिवार का एक सदस्य कर रहा है। गुरु नानक ने इस मौलिक धारणा से प्रभावित होने के ही कारण अपने जीवन में किसी प्रकार की सामाजिक विभिन्नता को नहीं माना। प्रसिद्ध है कि उनके साथ सदा रहनेवाला व्यक्ति मर्दाना था जो जाति का मुसलमान था और उन्होंने शेख फ़रीद जैसे पीरों से भी मित्रता निबाही थी। इसके सिवाय उन्होंने किसी अन्य धनी व्यक्ति के यहाँ जाकर भोजन करने की अपेक्षा एक साधारण बढ़ई का सत्कार ग्रहण किया था। उसके तथा अनेक वैसे ही साधारण कोटि के और लोगों के साथ भी उनका व्यवहार सदा प्रेम एवं सौहार्द का ही रहा। उन्होंने सभी प्रकार की जनता के सुभीते की दृष्टि से अपने निवास-स्थान कर्त्तारपुर में 'लंगर' वा सहभोज की प्रथा भी चलायी थी जिसका प्रचार आगे चल कर और भी बढ़ गया। गुरु रामदास जैसे उनके अनुयायियों ने ऐसा नियम तक कर दिया कि बिना वहाँ खाये कोई उनसे भेंट तक न कर पाए।

गुरु नानक ने जिस एक दूसरी बात की ओर विशेष ध्यान दिलाया, वह विरक्तिपूर्ण जीवन की अपेक्षा पारिवारिक जीवन को ही अपनाने की प्रवृत्ति थी। उन्होंने संसार की बातों को मायाजनित प्रपंच कहकर टाल

देने तथा अपने घर-द्वार का त्याग कर जंगलों में चले जाने के अत्यन्त विरुद्ध थे। उन्होंने स्वयं भी एक पारिवारिक जीवन व्यतीत किया था और उनके पीछे आनेवाले अन्य गुरुओं ने भी उनका अनुसरण किया। गुरु नानक ने पहले नौकरी की थी, किंतु अंत में देश-भ्रमण से लौट कर उन्होंने अपनी खेती-बारी को अपने ढंग से सँभाला और अपने परिश्रम से उत्पन्न की हुई सामग्री पर ही वे संतोष करते रहे। अपने पारिवारिक जीवन में रहते समय भी उन्होंने इस बात की विशेष चिंता नहीं की कि कोई धन-सम्पत्ति छोड़ कर अंत में, उसका उत्तराधिकारी किसी अपने पुत्र को बनाते जायँ। उन्होंने अपने दो पुत्रों के रहते हुए भी भाई लहना जैसे एक भिन्न स्थान के, किंतु योग्य व्यक्ति को अपने प्रचार-कार्य को बढ़ाने के लिए सौंपा था और इस सम्बंध में भी उत्पन्न हुई परंपरा का समुचित पालन उनके अनुयायी गुरुओं ने किया। आनेवाले गुरुओं ने सदा इसी बात की ओर विशेष ध्यान दिया कि उनका उत्तराधिकारी कहाँ तक अपने कार्य के लिए योग्य है। उन्होंने इसके कारण उत्पन्न हुए ईर्ष्या, द्वेष अथवा अनेक प्रकार के षड्यंत्रों की सदा उपेक्षा की और अपने कर्त्तव्य का पालन वे सदा धैर्य तथा आत्मविश्वास के साथ एकनिष्ठ होकर करते गए।

गुरु नानक ने देश में एक तीसरी बात जो अपने सामने आदर्श के रूप में रखी, वह एक सादा और सात्विक जीवन था। उनकी दैनिक आवश्यकताएँ सदा सीमित रहीं और उन्होंने अपने भोजन एवं वेश-भूषा का प्रबंध करने में अधिक व्यय करना कभी उचित नहीं माना। उनका ध्येय 'सादा जीवन और उच्च विचार' के आदर्श पर ही निर्मित था और वे सदा उसी की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किये रहे। अपने उक्त सीधे-सादे धार्मिक विचारों के अनुसार उन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना को भी केवल ईश्वर-भजन वा प्रार्थना तक ही सीमित रखा। उनकी इस प्रणाली में किसी पंडित-पुजारी अथवा पुरोहित जैसे माध्यम

की आवश्यकता नहीं थी। यदि प्रार्थना व्यक्तिगत रूप से की जाती तो उसमें विशेष ध्यान आत्मनिरीक्षण की ओर जाता और यदि वह सामूहिक रूप धारण करती तो उसका लक्ष्य अपने समुदाय के अंतर्गत समानता एवं सहयोग की भावना जाग्रत करना भी हो जाता। गुरु हरगोविन्द के समय में जब सिखधर्म के सभी अनुयायी, गुरु से लेकर साधारण व्यक्ति तक, एक साथ लंगर में भोजन करते और एक ही पंक्ति में प्रार्थना करने बैठ जाते तब जान पड़ता था कि सबके हृदय में एक ही भावना लहर मार रही है और एक ही भाव से सभी उत्तेजित होते जा रहे हैं।

गुरु नानक ने अपना उत्तराधिकारी चुनते समय उसे 'लहना' की जगह 'अंगद' अथवा 'अपना अंगस्वरूप' नाम दिया था और उसे अपनी गद्दी पर बिठाते समय परिक्रमा करके उसके सामने एक नारियल भेंट स्वरूप रखा था। उसे उन्होंने प्रणाम भी किया था जिसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि आगे चलकर सभी गुरुओं ने अपने पीछे आनेवाले का सत्कार उसी प्रकार किया तथा अपने पदों की रचना करते समय अपने नाम के स्थान पर केवल 'नानक' शब्द का ही व्यवहार किया। तदनुसार जिस प्रकार एक दीपक से जलाये हुए सभी अन्य दीपक एक ही ढंग से प्रकाश फैलाते हैं और उनमें किसी प्रकार का भी मौलिक अंतर नहीं रहता, उसी प्रकार उक्त सभी नव सिख गुरुओं ने गुरु नानक द्वारा किये गए प्रस्तावों को उचित एवं सर्वमान्य समझ कर उनका समर्थन किया और उनमें निहित सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए वे सदा सचेष्ट रहते आए। गुरु अमरदास ने सबके लिए समानाधिकार का सिद्धान्त न्यायसंगत मान कर स्त्रियों की शिक्षा तथा अन्य प्रकार की उन्नति की अनेक योजनाएँ प्रस्तुत कीं। उनके लिए स्कूल खोले तथा उनकी पर्दा सम्बंधी निन्दनीय प्रथा को दूर करने के भी यत्न किये। प्रसिद्ध है कि उन्होंने किसी रानी से भेंट करना, इसलिए

अस्वीकार कर दिया था कि वह उनके यहाँ पर्दे में रह कर आयी थी। गुरु रामदास ने इसी प्रकार अपने प्रतिष्ठित अनुयायियों से भी सत्कार न ग्रहण कर उसकी अपेक्षा एक साधारण स्त्री के हाथ से रूखी-सूखी रोटी ग्रहण कर ली थी और उसे घोड़े पर बैठे-बैठे ही खा लिया था। सिख जाति की स्त्रियों ने इसी कारण अपने पुरुषों के साथ बड़े-से-बड़े कार्य में भी सहयोग दिया। गुरु गोविंद सिंह की स्त्री ने उनके प्रस्तुत किये हुए सर्वप्रथम 'पाहुल' में अपने हाथ से कड़ाह के पानी में गुड़ मिला कर उसे मधुर बना दिया था और इस प्रकार भविष्य के अन्य कार्यक्रमों के लिए भी आदर्श रख दिया था। गुरु गोविन्द सिंह ने समानाधिकार एवं भ्रातृभाव का आदर्श रखते हुए अपने उक्त दीक्षा संस्कार के समय तलवार से कड़ाह का पानी स्पर्श कर उसकी नोक से नये सिखों के ऊपर छिड़का। उन्हें इस प्रकार 'खालसा' वा शुद्ध बनाकर उनके द्वारा अपने ऊपर भी वैसा ही कराया। उन्होंने सबके समक्ष ऊँचे स्वर में उद्घोषित कर दिया कि खालसा पंथ में सभी बराबर समझे जायेंगे, चाहे उनके कार्य भंगी के ही क्यों न हों। ऐसे उद्गारों ने पहले से आती हुई समानता की धारणा को और भी पुष्ट कर दिया। चारों वर्णों तथा उनके अतिरिक्त किसी पंचम की भी भावना को प्रश्रय देनेवाले हिन्दू समाज के समक्ष एक ही 'सिख' सभी वर्णों के समन्वय रूप में दीख पड़ने लगा।

गुरु नानक देव ने आरंभ से ही धार्मिक विधि या विधानों के अक्षरशः पालन करने की अपेक्षा चरित्रबल के निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया था। धर्म जैसे अंधानुसरण की प्रवृत्ति जगानेवाले विषय के सम्बंध में भी विचार-स्वातंत्र्य को ही प्रोत्साहन देने का कार्यक्रम रखा था। उनके अनुसार परमात्मा का कोई भी स्वरूप निश्चित नहीं, उसे अपने अनुभव वा अनुमान के अनुसार ही समझा जा सकता है। इसी कारण, उसकी आराधना करने अथवा दूसरे शब्दों में उसके साथ तदा-

कारता ग्रहण करने की चेष्टा करते समय अपनी-अपनी भावना के अनुसार सभी कोई किसी एक 'नाम' को लेकर उसे स्मरण करता हुआ, उसके भावों द्वारा अपने को प्रभावित कर सकता है। इसी प्रकार, सिख जाति के सामाजिक संस्कारों में भी, किसी प्रकार के विशेष विधानों या विडंबनाओं को स्थान नहीं। उदाहरण के लिए उनके विवाह-संस्कार, 'आनंद' कही जानेवाली तथा दो-एक साधारण तथा केवल स्वल्प काल की अपेक्षा करनेवाली बातों में ही संपन्न हो जाते हैं। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया के लिए भी, किसी प्रकार के वृहत् आयोजन की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। सिख जाति द्वारा अनुमोदित गुरुओं के प्रति नित्य प्रदर्शित की जानेवाली आदर-भावना भी मूलतः किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आवश्यकता से अधिक सम्मान दिखलाने के लिए नहीं उठी थी। उसका मूल वा मुख्य उद्देश्य जीवन में भूलते-भटकते समय, सच्चाई का मार्ग दिखलानेवाले के प्रति अपनी कृतज्ञता के भाव दिखलाना था। सिख गुरुओं ने न केवल अपने सिद्धान्तों का मौखिक प्रचार किया था, अपितु स्वयं उनके अनुसार अपने जीवन व्यतीत करके भी सबके सामने स्पष्ट और ठोस उदाहरण रख दिए थे। उनके प्रायः एक ही प्रकार के सन्देशों को उनकी रचनाओं में पाकर अन्य व्यक्तियों का जी कभी-कभी ऊब उठता है। किंतु इस प्रसंग में यह बात भी विचारणीय है कि उन लोगों ने किसी बात को उचित एवं सत्य समझ कर उससे दूसरों को लाभान्वित करने के अनेक यत्न उक्त प्रकार से किये हैं तथा उसे सबके हृदयंगम करने को चेष्टा में उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा है।

सिख गुरुओं के सिद्धान्तों और उनके व्यवहार में लाने की चेष्टाओं का मूल्यांकन हमें सदा पलटा खानेवाली परिस्थितियों के प्रकाश में उन्हें रख कर ही करना चाहिए। हमें देखना यह चाहिए कि उन लोगों ने भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के आने पर भी अपना दायित्व कैसे निभाया।

गुरु नानक देव के समय में जो सामाजिक वा राजनीतिक परिस्थिति थी, वह ठीक उसी रूप में औरंगजेब कालीन गुरु गोविन्द सिंह तक नहीं रह सकी। प्रथम चार सिख गुरु अर्थात् गुरु नानक देव, गुरु अंगद, गुरु अमरदास और गुरु रामदास के सामने अधिक-से-अधिक अपने परिजनों द्वारा प्रदर्शित मनोमालिन्य एवं द्वेष-जनित छोटी-छोटी घटनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं आया। उन्हें धैर्य के साथ सहन कर लेना उनके लिए उतना कठिन नहीं था। किंतु गुरु अर्जुन देव के समय में मुग़ल राज्य के चंदूशाह एवं राजा वीरवर जैसे कर्मचारियों के द्वेष के कारण, स्वयं बादशाहों का भी ध्यान सिखधर्म के गुरुओं तथा उनके अनुयायियों की ओर क्रमशः आकृष्ट होने लगा और धीरे-धीरे संघर्ष की बुनियाद पड़ने लगी। गुरु अर्जुन देव ने अपनी असाधारण सहनशीलता द्वारा पहले ऐसी बातों की गंभीरता का अनुभव नहीं किया। परंतु अंत में, उन्हें अपने शत्रुओं के षड्यंत्रों के कारण वंदीगृह में यातनाएँ सहनी पड़ीं और फिर कष्ट झेल कर अपने प्राण भी देने पड़ गए। इस प्रकार प्रचलित राजनीतिक उथल-पुथल के रहते हुए भी, सिखधर्म को उसके प्रभाव से अलग रखनेवाले गुरुओं को ऐसी उलझनों में बलात्कार खिंच जाना पड़ा। गुरु हरगोविन्द ने तदनुसार अपनी कमर में एक की जगह दो तलवारें बाँध लीं और अत्याचारी शासकों के विरुद्ध प्रतिशोध के भावों का प्रदर्शन आरंभ कर दिया। अंत में, नवें गुरु तेग़बहादुर की हत्या के उपरान्त गुरु गोविन्द सिंह ने खुल्लमखुल्ला युद्ध छेड़ दिया। सिखों ने अपने बलिदान के उदाहरणों द्वारा एक नवीन जाति के रूप में जाग्रत हो उठना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझ लिया। इस प्रकार आरंभ में शान्त प्रकृति ब्राह्मणवत् धर्म-प्रचार करनेवाले व्यक्ति शस्त्रधारी क्षत्रिय बन गए।

सिख गुरुओं ने अपने अनुयायियों को जो उपदेश दिये थे, वे उनके पूज्यग्रन्थ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में सुरक्षित हैं। गुरुगोविन्द सिंह की

रचनाएँ 'दसवाँ ग्रन्थ' के रूप में अलग संगृहीत होकर, उसी प्रकार पूजनीय समझी जाती हैं। गुरु गोविन्द सिंह के उपरान्त गुरुओं की परंपरा समाप्त हो गई, किंतु उक्त मान्य ग्रन्थों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। जो सिद्धान्त सभी पहले सिख गुरुओं ने प्रचलित किये थे, उनमें गुरु गोविन्द सिंह ने वीर रस-सम्बंधी कुछ बातों का समावेश कर दिया और इस प्रकार तात्कालिक परिस्थिति की माँग भी पूरी हो गई। तब से वीर बंदा बहादुर के नेतृत्व में रह कर सिखों ने मुग़ल शासकों के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और उनमें कई बार सफलता प्राप्त की। फिर आपस में दो दलों के हो जाने पर भी, भिन्न-भिन्न मिसलों या वर्गों में विभाजित होकर सिखों ने कम-से-कम पंजाब प्रान्त के बहुत बड़े अंश पर शासन किया। अंत में, महाराज रणजीत सिंह का आविर्भाव हो जाने पर सतलज से लेकर पेशावर तथा काश्मीर से लेकर मुल्तान तक के प्रदेश पर अपना पूर्ण आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकार गुरु नानक देव द्वारा उपदिष्ट एक साधारण धार्मिक समुदाय क्रमशः एक शक्ति-संपन्न एवं सुसंगठित जाति में परिणत हो गया।

परंतु सिखों के सामने सदा वे ही आदर्श रहते आये—एकमात्र अकालपुरुष-रूपी परमेश्वर में दृढ़ विश्वास, सबके प्रति समानता का भाव, सादी रहन-सहन तथा परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर भी उससे पराजित न होकर उसके अनुरूप अपना निर्माण-कार्य। पहले तीन कारणों ने उन्हें प्रायः एक ही प्रकार से शान्तिपूर्वक रहते हुए एक आदर्श जीवनयापन करना सिखलाया था। किंतु चौथे ने जिसका सूत्रपात गुरु हर गोविन्द के समय में हुआ और जिसने आगे चल कर उन्हें अपने को सुरक्षित रखने तथा सँभालने में बहुत बड़ी सहायता पहुँचायी, उनके जीवन में आत्म-विश्वास का भाव भी भर दिया। यह कारण भी वास्तव में प्रथम गुरु नानक देव की व्यापक शिक्षाओं का ही परिणाम था। गुरु नानक

ने धर्म को एक व्यावहारिक रूप में देखा था। उन्हें जान पड़ा था कि परमेश्वर को केवल स्मरण करने मात्र का ही ढोंग रच कर कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं बन सकता। धार्मिक जीवन समझी जानेवाली स्थिति में रह कर अपने को सबसे अलग मान बैठना और सामाजिक समस्याओं के उपस्थित हो जाने पर पलायन वृत्ति स्वीकार कर लेना निरी कायरता है। यदि वास्तव में, कोई परमेश्वर हो और उसकी भक्ति में अपनी पूर्ण निष्ठा व्यक्त करना अभीष्ट हो तो यह उस इष्टदेव की प्यारी कृति सारी सृष्टि की उपेक्षा द्वारा उसे अपमानित करने तथा उस पुनीत साधन के साथ व्यभिचार करने के समान भी है। एक स्वर में परमेश्वर वा परमात्मा के नाम पर अधिक श्रद्धा के आँसू बहाते हुए, उसमें बैकुंठ वा मोक्ष की आशा करना और दूसरे स्वर में ही उसके, यदि वह सचमुच सबका मालिक अथवा सर्वात्मरूप है, तो व्यक्त रूप की उपेक्षा करना दोनों परस्पर नितान्त असंगत है। गुरु नानक देव ने इसी कारण आदर्श एवं व्यवहार के सामंजस्य का आदर्श सबके सामने रखा था।

गुरु नानक के मतानुसार आदर्श व्यक्ति जिसे उन्होंने अपने 'जपुजी' नामक ग्रन्थ में 'पंच' की संज्ञा दी है वही है जो सर्वसाधारण के ही बीच रहा करता है, सर्वसुलभ सामग्रियों का ही उपयोग करता है और सबके समक्ष अपने चरित्रबल के ही सहारे आदर्श रूप ग्रहण कर लेता है। वह कहीं स्वर्गादि जैसे काल्पनिक स्थानों से उतरा हुआ कोई अवतार नहीं होता। वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ पहले उनके महत्व वा उचित मूल्य का ज्ञान प्राप्त करना आरंभ करता है और फिर उन्हें आप-से-आप स्वभावतः करते चलने का अभ्यास डालता है। अंत में, वह ऐसी स्थिति में आ जाता है जहाँ पहुँच कर उसे पूर्णतः आदर्श रूप उपलब्ध हो जाता है। ऐसी दशा में, कोई समस्या, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक वा किसी भी प्रकार की क्यों न हो उसे अधिक समय तक

उलझन में नहीं डाल पाती। वह उनकी कठिनाइयों की तह तक शीघ्र पहुँच कर उन्हें बात-की-बात में दूर कर देता है और ऐसा करते समय उसे किसी बाहरी सहायता की भी आवश्यकता नहीं पड़ा करती। वह स्वयं शक्तिशाली बन कर दूसरों को भी अपनी योग्यता द्वारा बल एवं उत्साह प्रदान करता है। इस प्रकार, समाज के लिए एक पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

सिखों की पदवी 'सिख' शब्द स्वयं रहस्यमय है। इसका अर्थ शिष्य है जिसका अभिप्राय सदा सीखनेवाला हुआ करता है। एक आदर्श सिख का इसी कारण, कर्त्तव्य है कि वह किसी भी प्रश्न को पहले पहल एक जिज्ञासु के रूप में समझने का यत्न करे। उस पर प्रत्येक पहलू से विचार करे तथा उसके मर्म की झाँकी पाकर उसे अपने निजी अनुभव में लाने की भी यथाशक्ति चेष्टा करे। किसी बात के अन्तिम स्वरूप का पूर्ण परिचय किसी के लिए भी बोधगम्य नहीं, विश्व स्वयं एक पहेली है। इसके सम्बंध में आज तक अनेक प्रकार के अनुमान किये गए, किंतु फिर भी प्रश्न जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसका अंत किसी ने भी नहीं पाया। जैसा गुरु नानक देव ने कहा है—

एहु अंतु न जाणै कोइ। बहुता कही ए बहुता होइ॥

अर्थात् जितना भी कोई कहता गया, उतना ही प्रश्न और भी विकट बनता गया और उसमें उत्तरोत्तर उलझनें बढ़ती ही चली गईं। अतएव ऐसी स्थिति में, सबसे आवश्यक बात यही है कि उसे जिस किसी भी रूप में हो, एक अन्विति का आकार देकर, जहाँ-का-तहाँ रहने दिया जाय, अपने समक्ष प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाली विविध समस्याओं के सुलझाने में उक्त आदर्श के प्रकाश में यथासंभव यत्न किया जाय और उसके द्वारा कम-से-कम किसी व्यवहारानुकूल परिणाम तक पहुँच कर उससे लाभान्वित हुआ जाय। जगत जिस प्रकार परिवर्तनशील है, उसी प्रकार उसके प्रश्नों का भिन्न रूपों में उपस्थित होते रहना भी अनिवार्य है।

इसलिए सिख जाति के सदस्यों ने उसे परिस्थिति विशेष के अनुसार ही हल करने की चेष्टा की और इसी कारण, वे अपने को सदा बचाते आने में कृतकार्य भी हुए।

सिख जाति का पूर्व इतिहास अभी बहुत बड़ा नहीं है, किंतु आगे इसमें बहुत विस्तार आ जाने की गुंजायश है। यह एक प्रगतिशील जाति है और इसके आधारस्वरूप नियमों का अधिक अंश कृत्रिमताओं के बंधनों से मुक्त है। इसके भीतर भी सांप्रदायिकता ने समय-समय पर अनेक वर्गों की सृष्टि की है और कभी-कभी उनमें पारस्परिक कलह भी होते रहे हैं। इसके सिवाय, इसका एक पर्याप्त अंश हिन्दू धर्म की प्राचीन रूढ़ियों का शिकार भी हो चुका है। परंतु सब कुछ होते हुए भी सिख जाति के नाम पर उसके मान एवं मर्यादा की रक्षा के लिए तथा सबसे बढ़ कर उसके अस्तित्व को अलग बनाये रखने के ही उद्देश्य से अविलंब उठ खड़े हो जानेवालों की संख्या अभी तक कम नहीं है और न निकट भविष्य में ऐसा होने की कभी आशंका हो सकती है। अतएव, संभव है कि गुरु नानक द्वारा बीज-रूप में बोया गया, गुरु अमरदास की भेदभावना रहित विचारधारा द्वारा सींचा गया, गुरु अर्जुन तथा गुरु तेग़बहादुर के उत्सर्गों के आलबाल में पोसा गया, गुरु हरगोविन्द की राजनीतिज्ञता द्वारा सुरक्षित किया गया तथा अंत में, गुरु गोविन्द सिंह के पराक्रम द्वारा पुष्टि प्रदान किया गया यह वृक्ष किसी दिन भारतीय उद्यान को और भी अधिक सुन्दर बनाने में समर्थ हो।

'गोविन्द रामायण' की राम-कथा

सिखों के दशम गुरु गोविन्द सिंह एक असाधारण महापुरुष थे और उनका कार्यक्षेत्र केवल धर्मोपदेश एवं सैन्य-संचालन तक ही सीमित नहीं था। एक अनुभवी लोकनायक के रूप में उन्होंने नवीन 'खाल-सा पंथ' को जन्म देकर उसे संगठित किया और उसके अनुयायियों में जातीयता के भाव भरे। वे शस्त्र विद्या के साथ-साथ विविध शास्त्रों के भी जानकार थे। काव्य रचना में स्वयं निपुण होने के अतिरिक्त वे अच्छे-अच्छे कवियों को आश्रय देना भी जानते थे। कहते हैं कि उनके दरबार में ५२ कवि रहा करते थे और उन्हें उनसे अपने साहित्य-सर्जन में सदा प्रोत्साहन मिला करता था। गुरु गोविन्द सिंह ने संस्कृत भाषा एवं साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए रामसिंह, कर्मसिंह, गंडासिंह, वीर सिंह तथा शोभा सिंह नामक पाँच सिखों को काशी भेजा था। उन जैसे संस्कृतज्ञ विद्वानों द्वारा उन्होंने अनेक उत्तमोत्तम संस्कृत ग्रन्थों का भाषानुवाद भी कराया था। परंतु वे केवल संस्कृत साहित्य के ही प्रेमी नहीं थे। फ़ारसी, अरबी, ब्रज, राजस्थानी एवं खड़ीबोली में वे पंजाबी की ही भाँति अच्छी काव्य-रचना भी कर सकते थे। दिल्ली के तात्कालीन मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब के यहाँ उन्होंने अपनी फ़ारसी रचना 'ज़फ़रनामा' भेजकर उसे समझाने की चेष्टा की थी। उनके आश्रित कवियों की रचनाओं के कलेवर वा संख्या का अनुमान केवल इस बात के आधार पर भी किया जा सकता है कि उनके संग्रह 'विद्याधर' को तोलने पर उन्हें नौ मन तक भारी पाया जा सकता था। स्वयं गुरु गोविन्द सिंह की भी रचनाएँ संख्या में बहुत हैं और वे विभिन्न प्रकार

की भी हैं। ये सिखों के 'दशम ग्रन्थ' के अंतर्गत संगृहीत हैं। इन्हीं में उनकी 'गोविन्द रामायण' भी आती है जिसकी रामकथा एवं रचना-शैली का एक संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है।

'गोविन्द रामायण' की रचना अनेक प्रकार के छंदों में हुई है और उनमें से कई एक ऐसे भी हैं जो बहुत दिनों से प्रचलित नहीं है। इस ग्रन्थ की भाषा भी मिश्रित है। इसी प्रकार विषय का विभाजन भी अन्य रामायणों की भाँति कांडों के अनुसार न होकर विभिन्न शीर्षकों में किया गया मिलता है जिनके नाम ये हैं—१ रामावतार, २ सीता-स्वयंवर, ३ अवध प्रवेश, ४ वनवास, ५ वन प्रवेश, ६ खरदूषण युद्ध, ७ सीताहरण, ८ सीता की खोज, ९ लंकागमन, अथवा हनुमान शोध को पठैवो, १० प्रहस्त युद्ध, ११ त्रिमुंड युद्ध, १२ महोदर युद्ध, १३ इन्द्रजीत युद्ध, १४ अतिकाय युद्ध, १५ मकराक्ष युद्ध, १६ रावण युद्ध, १७ सीता मिलन, १८ अयोध्या आगमन, १९ माता मिलन, २० सीता वनवास, २१ सीता द्वारा जीवन दान और २२ सीता अवध प्रवेश। इनमें से सबका विस्तार भी एक समान नहीं है। इसके छंदों की विविधता, इसकी रचना-शैली तथा इसके पात्रों के संवादों को देख कर हमें केशवदास की 'राम चन्द्रिका' का स्मरण हुए बिना नहीं रहता। इस रचना के प्रारंभिक पंक्तियों में ही कह दिया जाता है कि जब असुरों ने संसार में अपने अत्याचार आरंभ किये तो देवता लोग एकत्र होकर क्षीर सागर में पहुँचे जहाँ ब्रह्मा के साथ विष्णु निवास करते थे। सभी ने मिल कर वहाँ पर आर्त्तनाद किया तथा सबने मिलकर प्रार्थना की, "हे रघुनाथ, अवतार धारण करो और अयोध्या में चिरकाल तक राज्य करो।" कवि का कहना है, "शुद्ध रघु-वंश की कथा का सूत्रपात यहीं से होता है। किंतु यदि ऊपरी बातें भी कहीं जायँ तो ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाता है। इसलिए सभी संक्षेप में ही कही जाती है"। तदनुसार वह राम-कथा आरंभ करने के पहले क्रमशः रघु एवं अज राजाओं संक्षिप्त चर्चा करके ही आगे बढ़ जाता है।

रघु एवं अज राजाओं के क्रमशः बहुत दिनों तक राज्य करके मर जाने पर उसका शासन भार अंत में, दशरथ ने सँभाला। ये मृगया के बहुत प्रेमी थे। इन्होंने 'कुहड़ाम' के कोशलराजा की कन्या कौशल्या और सुमित्रसेन की कन्या सुमित्रा का पाणिग्रहण स्वयंवरों में जा कर किया। किंतु जब इन दोनों पत्नियों के रहते भी इनके कोई संतान न हुई तो इन्होंने फिर केकय राज की पुत्री कैकेयी के साथ विवाह किया जिसने इनसे उसी समय दो वर माँगे। इन दोनों वरों के सम्बंध में कैकेयी ने फिर उस समय भी पक्की करा ली जब देवासुर संग्राम के अवसर पर दशरथ के देवताओं की सहायता करते समय, उसने उनके निहत सारथी का काम स्वयं सँभाला। इस प्रकार उनके साथ विजय लाभ में भी उसने अपना हाथ बँटाया। इसके अनन्तर जब मृगयाशील दशरथ एक बार वन में विहार कर रहे थे तो इन्होंने श्रवण को अपने माता-पिता के लिए घड़े में जल भरते समय धोखे में बाण से मार दिया। फिर जब ये अपनी भूल के कारण पछताते हुए उन दोनों को स्वयं जल पिलाने लगे तो उन्होंने दुःखित होकर इन्हें शाप दे दिया कि जिस प्रकार हम पुत्र-वियोग में मर रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी एक दिन मर जाओगे। राजा दशरथ को इस बात के कारण अत्यन्त खेद हुआ। किंतु आकाश-वाणी द्वारा यह जान कर कि मेरे घर स्वयं विष्णु अवतार लेंगे इन्हें कुछ अवलंबन मिला। उस आकाशवाणी के आदेशानुसार ही इन्होंने एक 'राजसूय' यज्ञ किया जिसके परिणामस्वरूप यज्ञ पुरुष ने स्वयं प्रकट होकर इन्हें 'खीर' का पात्र प्रदान किया। अंत में उस पात्र की खीर को राजा ने अपनी तीनों रानियों को बुला कर उन्हें इस प्रकार बाँट दिया कि एक को आधा मिला और शेष दोनों को केवल चौथाई-चौथाई भाग मिला। उसके कारण गर्भवती होकर उन्होंने तेरहवें महीने के चढ़ते राम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न नामक चार पुत्र उत्पन्न किये। राजा ने इस पर प्रसन्न होकर बहुत-सा दान दिया।

जब चारों राजकुमार कुछ बड़े हुए तो उन्होंने शस्त्र एवं शास्त्र की

विधियाँ सीखीं और धनुष बाण लेकर खेलने और घूमने लगे। उन्हीं दिनों विश्वामित्र ऋषि 'पितृतोष' नामक यज्ञ कर रहे थे और हवन की सुगंधि से आकृष्ट होकर उसकी सामग्रियों को राक्षसों नें लूटना आरंभ किया। इस बात पर क्रुद्ध होकर विश्वामित्र अयोध्या आये। उन्होंने दशरथ से कहा कि या तो मुझे तुम राम को दे दो या मैं तुम्हें यहीं भस्म कर दूँगा। इससे भयभीत होकर राजा ने उन्हें अपने दो पुत्र दे दिए और विश्वामित्र उन्हें लेकर लौट आए। आते समय मार्ग में उनका रास्ता रोक कर ताड़का खड़ी हुई जिसे राम ने अपने बाणों से मार गिराया। इसी प्रकार तैयारी के साथ युद्ध करने आये हुए सुबाहु आदि राक्षसों को भी उन्होंने नष्ट कर दिया। इस घोर युद्ध में जो मारे जाने से बच गए वे अपने भेष बदल कर भाग खड़े हुए। उनमें से कुछ ने तो लंका तक में जा कर शरण ली। कवि ने इस युद्ध का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है। इसी के अनन्तर इस ग्रन्थ का 'रामावतार' नामक प्रकरण भी समाप्त होता है।

इसका दूसरा प्रकरण राम एवं लक्ष्मण को लेकर विश्वामित्र के सीता स्वयंवर देखने के लिए मिथिला जाने से आरंभ होता है। वहाँ पर राम को देख कर सभी मुग्ध हो जाते हैं और अपने-अपने भावानुसार उनके सौन्दर्य को हृदयंगम करते हैं। सीता काम-पीड़ित होकर पृथ्वी पर गिर जाती है और उठ कर उन्हें फिर देखती है। इसी बीच में दूत धनुष को राजाओं के बीच लाते हैं और उसे हाथ में लेकर वीरभाव के साथ राम उसके दो टुकड़े कर देते हैं तथा सीता उन्हें वरण कर लेती है। कवि ने यहाँ पर सीता के सौन्दर्य का वर्णन आलंकारिक भाषा में किया है और उसकी ओर राम का आकृष्ट हो जाना भी बतलाया है। धनुभंग का समाचार पाते ही फिर, वहाँ पर श्रोणराम (परशुराम) आ जाते हैं। राम को घेर कर उन्हें ललकारते हैं जिसे देख कर योद्धा भी गर्जने लगते हैं और नगाड़े तक बजने लग जाते हैं। युद्ध की तैयारी

का पूरा दृश्य सामने आ जाता है। कवि ने यहाँ पर परशुराम के वीर भेष का बड़ा ही विशद एवं सुनिर्दिष्ट चित्रण किया है। राम की उनके साथ फिर बातचीत होती है और दोनों ही आवेश के साथ बोलते दीख पड़ते हैं। अंत में राम परशुराम का दिया हुआ धनुष चढ़ा देते हैं और परशुराम हार मान कर चुप हो जाते हैं तथा अपनी बाँहें फैला कर राम को गले भी लगा लेते हैं।

उक्त घटना के साथ 'अवधप्रवेश' नामक प्रकरण का भी आरंभ होता है और दशरथ की बारात के घोड़े आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया जाता है। फिर चारों राजकुमारों की विवाह-विधि संपन्न होती है और वर-वधू लौट कर अयोध्या आते हैं। किंतु यहाँ पर अकस्मात् घोर घटा छा जाती है और चारों ओर उपद्रव के लक्षण दीखने लगते हैं जिसे अपशकुन मान कर दशरथ अश्वमेध यज्ञ की तैयारी करते हैं। इस यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर राजा अपने राज्य की तीन दिशाएँ अपने तीनों पुत्रों को बाँट देते हैं और अपनी राजधानी का भाग राम को देने के लिए राज्याभिषेक का प्रबंध करने लग जाते हैं।। इतने में मंथरा के कहने में आ कर कैकेयी उनसे अपने पूर्वोक्त दोनों वर माँग बैठती है जिनके अनुसार भरत के राजा होने तथा राम के वनवास जाने का प्रस्ताव छिड़ता है। दशरथ उसे बहुत डाँटते-समझाते हैं तथा स्त्री जाति के स्वभाव की घोर निन्दा भी करते हैं, किंतु वह कुछ भी नहीं समझती। अंत में वशिष्ठ मुनि इस बात की चर्चा राम से करते हैं और वे अपना सारा धन लुटा कर वन-यात्रा के लिए तैयार हो जाते हैं। सीता भी उनके साथ जाने का आग्रह करती है। उधर लक्ष्मण इसका समाचार पाते ही कैकेयी को बुरा-भला कहने लगते हैं। फिर दोनों भाई अपनी माताओं से आज्ञा लेकर सीता के साथ वन की ओर चल देते हैं।

इसके अनन्तर 'वनवास' प्रकरण आरंभ होता है जिसमें पहले

अयोध्या में राम के वियोग के कारण कौशल्यादि का दुःखी होना, दशरथ का प्राण-त्याग करना, भरत का अपने ननिहाल से आकर राम से वन में मिलने जाना तथा उनसे उनकी पादुका लाकर राज्य-कार्य देखने लगना, आदि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। कवि ने फिर एक बार सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया है और विराध राक्षस के ससैन्य आकर राम के साथ युद्ध करने तथा उनसे मारे जाने का विस्तृत परिचय दिया है। इसके साथ ही 'वन प्रवेश' का भी प्रकरण चलने लगता है जिसमें रामादि के अगस्त्य मुनि के आश्रम में जाने, उनसे बाणों की भेंट ग्रहण करने तथा गोदावरी में स्नान करने का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् शूर्पणखा का प्रसंग भी आरंभ होता है। यहाँ पर कवि द्वारा शूर्पणखा के विषय में किये गए कथन 'नाक कटाई गई गृह को तब' से कुछ ऐसी भी ध्वनि निकलती है जैसे वह राम के यहाँ से केवल असफल और अपमानित होकर ही गयी थी। इसके आगे फिर खर दूषण से युद्ध, सीताहरण एवं सीता की खोज के विषय में छोटे-छोटे तीन प्रकरण आते हैं जिनमें कथा का केवल संक्षिप्त उल्लेख ही पाया जाता है। खोजवाले प्रकरण के अंत में जटायु-प्रसंग तथा हनुमान एवं सुग्रीवादि के साथ राम की मैत्री का भी वर्णन आ जाता है।

इसके आगे आने वाले 'लंका गमन' प्रकरण में भी हनुमान के लंका जाने, लंका जला कर लौटने तथा सेतु बाँधने की चर्चा संक्षिप्त रूप में की गई है। विशेषता केवल यही है कि सेतु बाँधते समय लंका के कई वीर राम की सेना की रोक-थाम के लिए युद्ध करते हैं और धूम्राक्ष, जांबमाली और अकंपन मारे भी जाते हैं। फिर इधर से रावण के दरबार में अंगद जाते हैं और उसे समझाने-बुझाने की असफल चेष्टा करते हैं तथा अंत में वहाँ से विभीषण को साथ लेकर लौट आते हैं। उधर मन्दोदरी अपने पति रावण को शत्रुता के अधिक न बढ़ाने का परामर्श देती है। किंतु वह अपने घमंड में उसकी एक भी नहीं सुनता और

अपने कई वीर पुत्रों को सुसज्जित करके रण में भेजता है जिनमें से नरान्तक और देवान्तक युद्ध में मार दिए जाते हैं और नारदादि प्रसन्नता के मारे नाचने लगते हैं। इस प्रकरण के अनन्तर फिर केवल युद्धों के ही दृश्य दीख पड़ते हैं और यह क्रम रावण के बध तक चला जाता है। 'रावण युद्ध' प्रकरण का आरंभ होने के पहले प्रहस्त त्रिमुंड, महोदर, इन्द्रजीत, अतिकाय तथा मकराक्ष नामक राक्षसों के नामों पर भी लिखे गए छह प्रकरण आते हैं जिनमें से पहले और पाँचवें को छोड़ कर सभी छोटे-छोटे हैं। पहले में प्रहस्त के अतिरिक्त कुंभकर्ण के युद्ध का भी वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है। इसी प्रकार इन्द्रजीत युद्ध वाले प्रकरण में मेघनाद के तीरों द्वारा रामादि के मूर्छित हो जाने पर रावण की आशा के अनुसार त्रिजटा के साथ सीता का युद्ध का दृश्य निरीक्षण करना भी दिखलाया गया है। कवि का कहना है कि उस समय सीता ने ही नागमंत्र पढ़ कर सभी लोगों को नागपाश से मुक्त कर दिया और लक्ष्मण को पुनर्जीवन प्रदान किया।

रावण-युद्ध वाला प्रकरण इस पुस्तक के बड़े-बड़े खंडों में से एक है। इसमें कवि ने युद्ध-सम्बंधी घटनाओं को कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा है। रावण के बीसों हाथों में से प्रत्येक में किसी न किसी हथियार का होना बतलाया गया है जिनमें अनेक प्रकार की तलवारों के अतिरिक्त परशु, त्रिशूल, हथनाल, गदा, छूरा, तीर-कमान, पाश, बिछुवा, पटा, सँडसी, बरछी तथा गुलेल जैसी वस्तुएँ भी थीं। वह यदि अपने एक मुख से 'शिव शिव' कह रहा था तो दूसरे मुख की आँखों से सीता की सुन्दरता देख रहा था, तीसरे से वीरों को ललकार रहा था, चौथे से "मारो, मारो' कहता जा रहा था, पाँचवें, छठें तथा सातवें के द्वारा क्रमशः हनुमान, विभीषण एवं सुग्रीवादि से घिरे राम की ओर देख रहा था। आठवाँ मुख केवल इधर-उधर घुमाता था, नवें से वीरों को प्रोत्साहित करता जाता था और उसके दसवें मुख को देख कह ऐसा जान पड़ता

था कि वह रोष के मारे लाल हो गया है। राम एवं रावण के युद्ध को देख कर चन्द्रमा चकरा गया और शंकर की भी समाधि टूट गई तथा सभी दिग्पाल प्रलय का अनुमान करने लगे। रावण ने एक बार लक्ष्मण को फिर मूर्छित कर दिया था और जब उसके रथ वाले घोड़े निहत हो गए थे तो वह बरछी, भाले आदि के साथ पैदल ही युद्ध करने लगा था। कवि का कहना है कि राम ने इस महासमर में विजय पाकर ऐसा कर दिखाया मानो उन्होंने युद्ध के इस स्वयंवर में सीता का एक बार फिर वरण किया हो।

इसके अनन्तर 'सीता मिलन' नाम के प्रकरण का आरंभ होता है और रावण वध से शोकाकुल हुई रानियों की दशा का वर्णन किया जाता है। वे रानियाँ राम को देख कर उनकी ओर आकृष्ट होती हैं और मन्दोदरी से राम अपनी निर्दोषता भी प्रकट करते हैं। फिर राम की आज्ञा से हनुमान सीता को लंका नगरी से बाहर लाते हैं, उसे अग्नि में प्रवेश करना पड़ता है और तदनन्तर सीता एवं राम के मिलन की प्रसन्नता में सर्वत्र विजय मनायी जाने लगती है। इसके पीछे 'अयोध्या आगमन' का प्रकरण आता है जिसमें राम पुष्पक विमान पर चढ़ कर अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हैं। उनके अयोध्या में पहुँचने पर सभी उनका स्वागत करते हैं और उनके सौन्दर्य से आकृष्ट हुई, वहाँ की नारियाँ उन्हें फिर से देखने के लिए दौड़ पड़ती हैं तथा बुद्धिमान लोग दूर से ही उनका अभिनन्दन करते हैं। फिर 'माता मिलन' के प्रकरण में रामादि का अपनी माताओं के साथ भी मिलन कराया जाता है और तब राम के राजा होने की घोषणा की जाती है। इस अवसर पर अनेक राजा आमंत्रित होते हैं और उनमें से कई उनके पैर छूते तथा चीन आदि देशों की बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट करते हैं। राम एक बहुत बड़े और प्रतापी राजा सिद्ध होते हैं और उन्हें जो कोई भी देखता है वह अपने भावों के अनुसार उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता है। राम इस प्रकार सभी

लोकों के स्वामी हैं, वे अभय हैं, अजेय हैं, अयोनि हैं, अजन्मा हैं, अलय हैं तथा स्वयं प्रकृति-पुरुष भी कहे जा सकते हैं। वे भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न को भी राजपद प्रदान करते हैं। शत्रुघ्न को वे मथुरा भेजते हैं जहाँ पर उन्हें शिव से त्रिशूल प्राप्त करने वाले लवणासुर को मार कर अपना राज्य स्थापित करना पड़ता है।

ग्रन्थ के अन्तिम तीन प्रकरण प्रधानतः सीता के चरित्र से सम्बद्ध हैं और उनका उसी के अनुसार नामकरण भी किया गया है। इनमें से पहले अर्थात् 'सीता वनवास' प्रकरण में सीता जंगल देखने की इच्छा से ही लक्ष्मण के साथ वहाँ भेजी जाती हैं और वाल्मीकि आश्रम के निकट छोड़ दी जाती है। गर्भिणी सीता को उस आश्रम में रहते समय लव नाम का पुत्र उत्पन्न होता है। फिर एक दिन उसी की आकृति का एक बालक वाल्मीकि ऋषि भी निर्माण कर उसका नाम कुश रख देते हैं तथा दोनों भाइयों का नियमानुसार पालन एवं शिक्षण कार्य भी चलने लगता है। उधर अयोध्या में राम द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया जाता है और इसके निमित्त छोड़े गए घोड़े के साथ जाने वाले शूरवीरों से लव एवं कुश युद्ध ठान देते हैं। कवि ने इस युद्ध का वर्णन विस्तार के साथ किया है। इसके अंत में क्रमशः लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, भरत और स्वयं राम को भी उन दोनों भाइयों द्वारा निहत करा दिया है। अतएव इसके बाद वाले प्रकरण में सीता विलाप करती हुई सती होने का आयोजन करने लग जाती है। आकाशवाणी के अनुरोध से फिर सभी मृतकों को जल से सींच कर जिला भी देती हैं। इसके अनन्तर, अन्तिम प्रकरण के अनुसार सभी अयोध्या लौट आते हैं और वहाँ एक बार फिर राम का राज्य आरंभ होता है। राम अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और बड़ी सफलता के साथ दस सहस्र वर्षों तक अपने राज्य का दायित्व भी सँभालते हैं। एक दिन कतिपय स्त्रियों के पूछने पर सीता एक दीवार पर रावण का चित्र बना

देती है जिस कारण, राम उनमें सन्देह प्रकट करते हैं। इससे रुष्ट होकर सीता पृथ्वी में प्रवेश कर जाती हैं। किंतु राम सीता के इस वियोग को सहन नहीं कर पाते और योगाभ्यास द्वारा शरीर छोड़ कर परमधाम चले जाते हैं। इसके अनन्तर क्रमशः भरत, लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न भी वैसा ही करते हैं। फिर कुश तथा उनके तीन चचेरे भाई चारों दिशाओं में राज्य करना आरंभ कर देते हैं और लव अयोध्या के केन्द्र में अभिषिक्त होते हैं।

गुरु गोविन्द सिंह ने इस रामायण के अंत में कहा है, "श्रीराम की कथा प्रत्येक युग में अटल रहेगी और इसका वर्णन सब लोग अनेक प्रकार से करते हैं।"[१] इन्होंने स्वयं भी इसमें किसी एक ही परंपरा का अनुसरण नहीं किया है, न इसकी रचना करते समय किसी एक ही शैली विशेष को अपनाया है। राम-कथा का आरंभ ये वहाँ से करते हैं जब असुरों का वंश प्रकट होकर उपद्रव करने लगा था और कोई भी उन्हें हरा न पाता था। अतएव, देवता लोग एकत्र होकर क्षीर समुद्र में जाते हैं और वहाँ पर शयन करने वाले विष्णु से अवतार धारण करने का अनुरोध करते हैं। ये लोग विष्णु को अपना यह सुझाव भी देते हैं कि आप चल कर अवध में 'रघुनाथ' बन कर जन्म लें और वहाँ चिरकाल तक राज्य भी करें। यह प्रसंग वाल्मीकीय 'रामायण' में नहीं आता। गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में भी भानुप्रताप राजा के सपरिवार रावणादि के रूप में जन्म लेकर उपद्रव करने लगने पर स्वयं पृथ्वी 'धेनु' बन कर देवों, मुनियों, तथा गंधर्वादि से अपना दुखड़ा रोने लगती है। वे सभी ब्रह्मा के लोक में जाते हैं और वहाँ पर सबके मिल कर स्तुति करने पर 'हरि' की ओर से 'गगन-गिरा' होती है कि आप डरें नहीं। मैं आप लोगों के लिए नर-रूप धारण करूँगा और कश्यप एवं अदिति के घर जो दशरथ एवं कौशल्या के

---

[१] 'रामकथा जुग जुग अटल, सब कोइ भाखत नेत'।

रूप में हैं, कौशलपुरी में जन्म लूँगा। गुरु गोविन्द सिंह के कथन से प्रतीत होता है कि राम विष्णु के अवतार थे, जहाँ गोस्वामी तुलसीदास उन्हें ऐसा समझते नहीं जान पड़ते। 'मानस' के ब्रह्मादिक 'पयोनिधि' अर्थात् क्षीर सागर तक नहीं जाते। जहाँ वह है वहीं एकत्र होकर स्तुति करते हैं और वे 'अवध' में ही अवतार धारण करने का स्वयं प्रस्ताव भी नहीं करते।

'गोविन्द रामायण' की एक दूसरी विशेषता यहाँ पर इस रूप में देखी जाती है कि इसका कवि कथारंभ के पहले रघु एवं अज के भी राज्यकाल का उल्लेख करता है तथा दशरथ को एक मृगयाशील नृप के रूप में चित्रित करता है। यह बात भी उपर्युक्त दोनों रचनाओं में यहाँ पर नहीं दिखायी पड़ती। इसके साथ ही साथ इस 'रामायण' में यहीं पर श्रवणकुमार की कथा भी आ जाती है जिसकी ओर 'मानस' के अयोध्या कांड में केवल संकेत मात्र ही कर दिया गया है। दशरथ का कौशल्या एवं सुमित्रा के स्वयंवर के द्वारा विवाह करना तथा उनसे कोई पुत्र न होने पर कैकेयी का भी पाणिग्रहण करना और देवासुर संग्राम के अवसर पर कैकेयी द्वारा सहायता पाकर उसे दो वर प्रदान करने का वचन देना भी यहीं पर बतला दिया जाता है। श्रवणकुमार वाली घटना के अनन्तर दशरथ घर लौट कर राजसूय यज्ञ करते दीख पड़ते हैं। इस यज्ञ में ही अधिक आहुति देने पर उन्हें 'खीर' का पात्र मिल जाता है। इस 'रामायण' में न तो वाल्मीकीय 'रामायण' की भाँति, ऋष्यशृंग की कथा ही दी गई है, न उनके द्वारा अश्वमेध यज्ञ कराया गया है। यहाँ पर किसी पुत्रेष्टि यज्ञ के पृथक् किये जाने का भी उल्लेख नहीं है। किंतु 'मानस' के 'अगिनि' की भाँति यहाँ पर भी 'यज्ञ पुरुष' खीर पात्र लेकर उत्पन्न हो जाते हैं और उसे राजा को देते हैं। इस 'रामायण' के विश्वामित्र भी 'पितृतोष' नामक एक विशेष यज्ञ करते हैं। दशरथ को अपने पुत्रों को उन्हें देने में किसी प्रकार की

हिचक प्रदर्शित न करने पर भी वे स्वयं कह उठते हैं, "मुझे अपने पुत्र राम को दे दो नहीं तो मैं तुम्हें यहीं पर भस्म कर दूँगा।" वे क्रुद्ध होकर ही वहाँ आते भी हैं। उनके मार्ग में राम के साथ जाते समय का गंगावतरण वर्णन अथवा वामनावतार वर्णन, इस रामायण में नहीं आता, न अहल्योद्धार की कथा ही आती है। यज्ञ-भूमि में उनके पहुँचने पर सुबाहु एवं मारीच राम से दो दिनों तक युद्ध करते हैं।

सीता-स्वयंवर के प्रसंग में परशुराम का आना, यहाँ पर भी 'मानस' की ही भाँति ठीक धनुर्भंग के अनन्तर दिखलाया गया है। किंतु यहाँ पर उनके साथ लक्ष्मण की बातचीत नहीं करायी गई है और उन्हें डाँटने का काम भी यहाँ पर स्वयं राम के ही सुपुर्द है। विवाह के अनन्तर बारात के अयोध्या लौटने पर अकस्मात् घोर घटनाओं का उठना और दिग्दाह के कारण अपशकुन का सूचित होना तथा उसके निवारणार्थ अश्वमेध यज्ञ का किया जाना 'मानस' में वर्णित नहीं है। अपशकुन का होना वाल्मीकीय 'रामायण' में अवश्य दिखलाया गया है, किंतु वहाँ पर भी ऐसा दशरथ की बारात के लौटते समय, परशुराम-मिलन के पहले हो जाता है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर कैकेयी को बह-काने वाली मंथरा को 'मानस' में चेरी कहा गया है। किंतु इस 'रामा-यण' में वह ब्रह्मा द्वारा भेजी गई गंधर्विणी है जो संभवतः 'महाभारत' के 'रामोपाख्यान' तथा 'आनंद रामायण' के आधार पर यहाँ लायी गई है। कवि ने रामादि के वन-प्रवेश के समय वाले विराध के युद्ध का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। इस अंश के रचयिता का नाम 'श्याम कवि' दिया है; "सुकवि श्याम इस विध कह्यौ, रघुवर युद्ध प्रसंग" जिससे प्रतीत होता है कि इनकी रचना कदाचित् उसी श्याम कवि ने की होगी जो गुरु गोविन्द सिंह के ५२ दरबारी कवियों में से एक था। इस 'रामायण' के अंतर्गत और भी युद्धों के अनेक विस्तृत वर्णन आये हैं।

उनमें विशेष रुचि भी प्रदर्शित की गयी है, किंतु वहाँ पर किसी कवि विशेष का स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। इस 'रामायण' में ऐसे युद्धों के क्रम एवं स्वरूप का निर्देश भी कहीं-कहीं निराले ढंग से किया गया है। प्रायः सभी युद्धों में हाथी और घोड़े रहते हैं और इन दोनों से जुते हुए रथ भी दीख पड़ते हैं। रावण के हाथों में विविध अस्त्र-शस्त्रादि के अतिरिक्त 'हाथीनाल' नाम का एक हथियार भी दिखाया गया है जो संभवतः कोई छोटी सी बंदूक है। बाजे अनेक प्रकार के बजते हैं और कुंभकर्ण को जगाते समय तो उसके कानों के भीतर हाथी घोड़ों के साथ घुस कर 'कान्हड़ा राग' तक बजाया जाता है। इसके भी असफल होने पर उसे देव कन्याएँ गा-गा कर जगाती हैं। इस कुंभकर्ण को पहले सुग्रीव गिरा देते हैं, तब उसे राम अपने बाणों से मारते हैं। अतिकाय को लक्ष्मण अपनी तलवार द्वारा मार कर दो टुकड़े कर देते हैं और लक्ष्मण के रावण द्वारा (न कि इन्द्रजीत द्वारा) मूर्छित किये जाने पर हनुमान को संजीवनी बूटी लाने की आवश्यकता पड़ती है। सुबाहु वाले युद्ध के प्रकरण में कुछ भागने वाले राक्षस 'भगव वस्त्र' अर्थात् जोगियों के भगवा वस्त्र पहन कर भागते दीख पड़ते हैं। सीता-हरण के अवसर पर रावण भी कदाचित् जोगी-भेष में ही 'अलख जगाता हुआ' भीख माँगने के लिए प्रस्तुत होता है।

'गोविन्द रामायण' की राम कथा 'मानस' की भाँति केवल राम-राज्य के वर्णन तक ही समाप्त नहीं हो जाती। इसमें सीता-त्याग तथा अश्वमेध के अवसर पर होनेवाले लव-कुश के युद्धों तक का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। सीता-त्याग के लिए यहाँ पर लोकापवाद का कोई कारण नहीं दिया गया है, न इसमें किसी धोबी का ही वृत्तान्त आता है जिसकी चर्चा अनेक अन्य रामायणों में पायी जाती है। सीता द्वारा रावण के किसी चित्र का निर्माण भी यहाँ पर उनके वनवास का कारण न बन कर उनके पृथ्वी में प्रवेश कर जाने की भूमिका प्रस्तुत

करता है। लव-कुश के साथ राम के भाइयों तथा अनुचरों का युद्ध दिखलाते समय यहाँ पर भी दोनों बालकों का ही उत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है और उसके हाथों स्वयं राम तक 'जूझ' जाते हैं। किंतु 'जैमिनीय अश्वमेध' जैसे ग्रन्थों में जहाँ राम की समस्त सेना को बाल्मीकि मुनि जिलाते हैं, वहाँ इस रामायण में स्वयं सीता ही यह कार्य कर देती हैं। इस प्रकार युद्धोपरान्त पुनर्जीवित हो उठने पर भी सीता के पृथ्वी-प्रवेश द्वारा सब किसी के शोकाकुल हो जाने के कारण, कथा का रूप दुःखान्त हो जाता है और इसका मार्जन लवकुशादि के राज्य करने लगने से भी नहीं हो पाता। इस बात में इस 'रामायण' के रचयिता ने बाल्मीकीय 'रामायण' तथा भवभूति के 'उत्तर रामचरित' आदि का अनुसरण किया है।

'गोविन्द रामायण' की रचना बहुत कुछ कवि केशवदास की 'रामचन्द्रिका' के आदर्शों पर हुई जान पड़ती है। इसका रचयिता भी रामकथा के घटना-प्रवाह की ओर विशेष ध्यान न देकर उसके दृश्य विशेष को ही अपने वर्णन का लक्ष्य बनाता है और इसमें न्यूनाधिक नाटकीयता भी ला देना चाहता है। इस कारण, इसके अंतर्गत आये हुए कुछ संवादों में सजीवता आ गई है। इसके युद्धों की सामग्रियों के कतिपय वर्णन भी बहुत स्पष्ट हो गए हैं। सीता एवं राम जैसे पात्रों कि सौन्दर्य एवं परशुराम जैसे व्यक्तियों के शौर्य का चित्रण करते समय भी कवि ने अपनी सूक्ष्मदृष्टि का परिचय दिया है और ऐसे स्थलों पर प्रदर्शित की गई उसकी अतिशयोक्ति भी बहुत कम खटकती है। उसका वीर, वीभत्स एवं रौद्र रसों का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने ऐसे वर्णनों में वह बहुधा कवि-संप्रदाय का ही अनुसरण करता है, किंतु इस ओर अपने आग्रह के कारण वह कभी-कभी आवेश में भी आ जाया करता है। अतएव, दो-चार ऐसे स्थलों पर हमें इसमें कालदोष (Anachronism) विषयक त्रुटि का भी आभास होने लगता है।

युद्ध में प्रायः एक ही प्रकार डाकिनी, जोगनी आदि के आकार उल्लास प्रदर्शित करने तथा अश्वादि के बढ़ने एवं शूरवीरों के लड़ने के विवरणों में भी अधिकतर द्विरुक्ति हो गई जान पड़ती है। फिर भी उनमें प्रयुक्त युद्धोचित कर्णकटु शब्दों तथा विचित्र छंदों के कारण तज्जन्य अरुचि अथवा शिथिलता नहीं आने पाती। युद्ध-वर्णननों में आये हुए इसके अनेक वेडौल और कृत्रिम शब्द, अर्थहीन से दीख पड़ने पर भी, स्वाभाविक लगने लग जाते हैं।

'गोविंद रामायण' की राम-कथा के राम को विष्णु का अवतार कहा गया है, किंतु वे अधिकतर एक महान पुरुष के रूप में ही दीख पड़ते हैं। वे एक असाधारण व्यक्ति हैं जो एक ही साथ शूरवीरों का रणभूमि में सामना करते हैं और उनके ऊपर विजय भी पा लेते हैं। वे एक ऐसे प्रतापी राजा भी हैं जिनके यहाँ दूर-दूर के सम्राट आकर अपनी अधीनता स्वीकार करते हैं और उन्हें बहुमूल्य भेंट भी अर्पित करते हैं। किंतु इसकी सीता उस समय अपने ऐसे पति से भी किसी प्रकार कम नहीं जान पड़तीं जब वे समरस्थल पर त्रिजटा के साथ आकर श्रीराम की मरी एवं मूर्छित सेना को एक बार पुनर्जीवित कर देती हैं और अपने नागमंत्र द्वारा स्वयं राम का भी नागपाश काट देती हैं। लवकुश द्वारा सभी लोगों के आहत होकर मर जाने पर तो उनकी यह शक्ति और भी प्रदीप्त हो उठती है। ऐसे ही गुणों को कवि ने कदाचित् उनके सतीत्व के उदाहरण में भी रखा है और इन्हीं के कारण, उनके पृथ्वी में प्रवेश कर जाने पर उनके वियोग में स्वयं श्रीराम का भी शरीर त्याग करा दिया है।

विदेशों में राम-कथा

भारतवर्ष में इस समय प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध और प्रचलित राम-कथा का प्रचार केवल इसी देश तक सीमित नहीं है। यहाँ के निवासियों ने प्राचीन काल में अपने उपनिवेश जहाँ-जहाँ बनाये अथवा जिन-जिन देशों के साथ उन्होंने आने-जाने, व्यापार करने तथा धर्म प्रचारक भेजने का सम्बंध स्थापित किया, वहाँ-वहाँ उन्होंने इस कथा के प्रचार का एक क्षेत्र भी तैयार कर दिया था। फलतः हम देखते हैं कि उक्त प्रकार के देशों में यह न केवल अपने मूल रूप में ही दीख पड़ती है, अपितु क्रमशः इसका अपना एक स्वतंत्र विकास भी होता गया है। आज की खोजों से पता चलता है कि भारतवर्ष के उत्तर में नैपाल, तिब्बत, चीन और खोतान, पूर्व की ओर ब्रह्मदेश, श्याम और हिंदचीन तथा पूर्व दक्षिण के मलय, यव द्वीप, बाली तथा लंबक जैसे देशों के जन-जीवन में इसने अपना एक प्रमुख स्थान बना लिया है। वहाँ के विविध साहित्यों, सामाजिक उत्सवों और धार्मिक परंपराओं में यह इस प्रकार प्रवेश कर चुका है कि वहाँ इसे बाहर से लायी गई ठहराना सरल नहीं रह गया है। इसके सिवाय, भारतवर्ष की संस्कृत भाषा की रामायण के विभिन्न अनुवाद इसके पश्चिम वाले ईरान और अरब तक के देशों में पाये जाते हैं। वे अनेक यूरोपीय देशों में भाषान्तरित हो चुकी है, जहाँ के ईसाई मिशनरियों के कारण इस कथा में कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन तक हुआ प्रतीत होता है। परंतु राम-कथा के इस प्रकार सुदूर देशों तक फैलाने का कोई क्रमबद्ध इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं है। अतएव हम यहाँ पर केवल इसके विदेशों में प्रचलित विविध रूपों का एक दिग्दर्शन मात्र ही करा सकेंगे।

राम-कथा का चीनी अनुवाद

इतिहास से पता चलता है कि ईसवी सन् का आरंभ होने के समय तक कुषाण वंश का राज्य काशी से खोतान देश तक फैला हुआ था। इस सन् की दूसरी शताब्दी तक बौद्धधर्म, संस्कृति और साहित्य का प्रचार मध्य एशिया से चीन देश तक सर्वत्र होने लगा था। फिर क्रमशः नैपाल के साथ तिब्बत और तिब्बत के साथ चीन के भी संपर्क में आ जाने पर इस सन् की सातवीं शताब्दी तक भारत के साथ इन सभी देशों का सम्बंध पूर्णतः स्थापित हो गया। ईसा की तीसरी शताब्दी में बौद्धों के 'अनामक जातकम्' का चीनी अनुवाद हुआ जिसमें किसी भी पात्र का नाम स्पष्ट न दीख पड़ने पर भी, राम और सीता के वनवास, सीताहरण, जटायु वृत्तान्त, बालि-सुग्रीव युद्ध, सेतुबंध और सीता की अग्नि परीक्षा तक की राम-कथा का न्यूनाधिक वर्णन पाया जाता है। इसमें आयी हुई राम-कथा की विशेषताओं में राम का, अपने मामा के आक्रमण की तैयारियाँ सुन कर अपना राज्य छोड़ देना तथा बालि का राम के अनुसन्धान को देते ही भयभीत होकर भाग जाना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार बौद्धों के एक दूसरे जातक 'दशरथ कथानम्' का भी चीनी अनुवाद मिलता है जिसमें राम एवं लक्ष्मण के वनवास की कथा तो आती है, किंतु राम की पत्नी का वर्णन नहीं मिलता, न इसी कारण, उसमें किसी युद्ध का ही विवरण पाया जाता है। बौद्धों को कदाचित् युद्धादि की चर्चा पसंद नहीं थी। उन्हीं के एक तीसरे ग्रन्थ, कात्यायनी पुत्र कृत 'ज्ञान प्रस्थान' की वृहत् टीका 'महाविभाषा' के दो सौ खंडों में से ४६ वें में रामायणी कथा का सीताहरण से लेकर सीता उद्धार तक का अंश आता है जिसका एक चीनी अनुवाद प्रसिद्ध यात्री हुएनत्संग द्वारा भी किया गया बताया जाता है।

तिब्बती रामायण

तिब्बती रामायण की जो हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं, वे संभवतः

आठवीं अथवा नवीं शताब्दी की हैं। इनमें सर्वप्रथम रावण की कथा दी गई मिलती है जिससे पता चलता है कि सीता उसी की पटरानी की पुत्री है जो जन्म-पत्र से नष्टकरी सिद्ध होती है और समुद्र में फेंक दी जाती है। इस रामायण के अनुसार दशरथ की केवल दो ही पत्नियाँ हैं जिनमें से कनिष्ठा के गर्भ से स्वयं विष्णु उत्पन्न होते हैं और 'रामन' कहलाते हैं। ज्येष्ठा से विष्णु के किसी पुत्र की उत्पत्ति होती है और उसका नाम 'लक्ष्मण' रखा जाता है। दशरथ के सामने इस प्रकार की समस्या उपस्थित हो जाने पर कि दोनों पुत्रों में से किसे राज्य दिया जाय, रामन लक्ष्मण को ही राज्य दिला देते हैं और स्वयं आश्रम में तपस्या करने चले जाते हैं। किंतु फिर वहाँ उन्हें समुद्र से बचायी गई कन्या 'जीता' एवं 'लीलावती' को जब कृषक लोग समर्पित करते हैं तो वे उनके अनुरोध से विवाह भी कर लेते हैं। तिब्बती रामायण की सीता का हरण राजधानी के ही निकट किसी अशोकवन से होता है और वहाँ पर रावण सीता के अंग का स्पर्श भी नहीं करता। रावण जटायु का बध, उसे रक्त से सने पत्थर खिलाखिला कर करता है, उसे अपने बाणों या अन्य अस्त्र-शस्त्रों से नहीं मारता।

सुग्रीव का मल्लयुद्ध भी यहाँ पर सुग्रीव के गले में माला डाल कर नहीं होता, प्रत्युत उनकी पूँछ में एक दर्पण बाँध कर आरंभ किया जाता है। सीता की खोज करते समय एक दूसरे की पूँछ पकड़ कर ही वानर लोग 'स्वयंप्रभा' की गुफा में प्रवेश करते हैं। इस 'रामायण' के अनुसार रावण का मर्मस्थान उसका अंगूठा बताया गया है। इसमें लव-कुश के जन्म का प्रसंग भी सीता-त्याग के पूर्व ही ला दिया गया है।

खोतानी रामायण

खोतानी रामायण का समय ईसा की नवीं शताब्दी समझा जाता है और इसकी राम-कथा तिब्बती रामायण से बहुत कुछ साम्य रखती है।

इसमें भी राम तथा लक्ष्मण का ही उल्लेख है और सीता यहाँ पर भी दशग्रीव की पुत्री मानी गई है। इसके सिवाय उपर्युक्त जटायु वाला प्रसंग, पूँछ में दर्पण बाँधने की कथा तथा रावण के मर्मस्थल की बात भी दोनों में प्रायः एक समान है, किंतु इसकी विशेषताएँ भी अनेक हैं। सर्वप्रथम इसका आरंभ ही महात्मा बुद्ध की आत्मकथा के रूप में तथा जातकों की शैली के अनुसार होता है। अंत में, बौद्धधर्म के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों के साथ राम-कथा के पात्रों की अभिन्नता सी दिखलायी जाती है। राम-कथा के समय बुद्ध राम थे और मैत्रेय लक्ष्मण। इसमें आहत रावण का बध भी नहीं किया जाता और राम की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध बौद्ध वैद्य जीवक बुलाया जाता है। वहाँ पर दशरथ का पुत्र सहस्रबाहु जान पड़ता है जिसके दो पुत्र-राम एवं लक्ष्मण होते हैं। उन्हें उनकी माता बारह वर्षों तक पृथ्वी में छिपाये रखती है। अपने पिता की धेनु चुराने पर परशुराम सहस्रबाहु का बध करते हैं तो उसके बदले में राम भी पृथ्वी से आकर परशुराम को मार डालते हैं। इसकी राम-कथा के अनुसार राम और लक्ष्मण दोनों वनवास करते हैं। दोनों ही सीता के साथ विवाह भी करते हैं। दोनों भाइयों के वनवास का कोई कारण दिया गया नहीं दीख पड़ता। उनका सीता के साथ विवाह कर लेना भी कदाचित् उधर की प्रचलित बहुपतित्व की प्रथा के अनुसार है।

भारत का सम्बंध इंदोचीन के साथ भी संभवतः ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से ही स्थापित हो गया था। चंपा राज्य के सातवीं शताब्दी वाले शिलालेखों से पता चलता है कि 'बाल्मीकि रामायण' का प्रचार वहाँ पर पूर्णरूप में हो चुका था। उस काल के एक मंदिर में बाल्मीकि की मूर्ति भी मिलती है। इसी प्रकार कंबोडिया की प्राचीन राजधानी अंगकोरवाट के एक विशाल मंदिर में रामायण आदि ग्रन्थों की कथा के कई पाषाण चित्र भी अंकित हैं। कंबोडिया की भाषा ख्मेर में 'रेआम-केर' (रामकीर्ति) नाम की एक रामायण मिलती है जिसका रचनाकाल

विदित नहीं है। इस रामायण की सीता जनक की दत्तक पुत्री है। इसकी कथा का आरंभ, विश्वामित्र के यज्ञ के किसी काक-रूपधारी असुर द्वारा भग किये जाने के यत्न से होता है। जनक सीता को यमुना नदी के किनारे हल चलाते समय किसी बेड़े पर देते हैं और उसे लेकर अपनी पुत्री बना लेते हैं। सीता-हरण के समय रावण जटायु को सीता की अंगूठी से घायल करता है। सेतुबंध के समय मछलियाँ बाधा डालतीं हैं। सीता-त्याग का कारण कोई रावण का चित्र बना जाता है जिसे सीता ने अपने पंखे पर उतार रखा था। जब अयोध्या लौटना अस्वीकार करती हुई वह कहती है कि मैं राम की अन्त्येष्टि क्रिया के ही समय जा सकती हूँ तो राम उसे हनुमान द्वारा अपनी मृत्यु की सूचना भेजते हैं और वह उनकी चिता पर विलाप करती मूर्छित हो जाती है। तब राम उसे अपनी गोद में उठा कर उसके आँसू पोछने लगते हैं। वह सचेत होकर उसकी भर्त्सना करती हुई नागराज मिरुण की शरण में चली जाती है। इंदोचीन के ही 'अनाम' प्रदेश में उपलब्ध अठारहवीं शताब्दी की एक रामायण से पता चलता है कि यह भी बाल्मीकीय रामायण पर आश्रित है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें दशानन का राज्य 'अनाम' के ही दक्षिण भाग में माना गया है और दशरथ का राज्य उसके उत्तरी भाग में। दशरथ के उस राज्य पर आक्रमण करके ही रावण सीता का हरण करता है तथा अपनी सेना के साथ अपने राज्य में लौटता है।

स्याम की रामायण

स्याम की रामायण 'रामकियेन' अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध के दो भिन्न-भिन्न संस्करणों में प्रकाशित हो चुकी है। इसे लोग बहुत कुछ उक्त 'रेआमकेर' पर ही आधारित बताते हैं। यह भी कहा जाता है कि इसका एक तीसरा संस्करण पीछे नाटक में भी प्रकाशित किया गया है। "रामकियेन' की भी कई अपनी विशेषताएँ हैं जिसके अनुसार लक्ष्मण

सूर्पणखा के किसी पुत्र का बध करते हैं और लक्ष्मण तथा हनुमान का एक युद्ध होता है। सेतुबंध के पूर्व स्वयं रावण तपस्वी बन कर राम के निकट जाता है और उनसे युद्ध न करने का अनुरोध करता है। विभीषण की पुत्री 'बेंजकाय' सीता के रूप में मृतवत होकर नदी में बहती दीख पड़ती है। महीरावण राम को पाताल ले जाता है। रावण ब्रह्मा के निकट जाकर राम पर अभियोग करता है, किंतु राम और सीता को बुला कर जब वे सीता के लौटा देने का निर्णय सुनाते हैं तो वह इसे नहीं मानता और ब्रह्मा उसे शाप देते हैं। रावण बध के अनन्तर उसका एक पुत्र, राम के अयोध्या लौट जाने पर विभीषण के विरुद्ध विद्रोह करता है और उसे लंका जाकर भरत और शत्रुघ्न पराजित करते हैं। किंतु सबसे विचित्र बात इस ग्रन्थ में यह दीख पड़ती है कि हनुमान यहाँ प्रेम-लीलाओं में भी निरत रहते हैं, अन्य अनेक स्त्रियों के अतिरिक्त वे मन्दोदरी तक का आलिंगन करते हैं। एक दिन वे स्वयं राम की भर्त्सना करते तथा उनसे युद्ध तक ठान देते हैं। 'राम कियेन' के साथ ही स्याम देश की लाओ भाषा में रचा गया सोलहवीं शताब्दी का 'रामजातक' भी प्रसिद्ध है। इस रामायण के आरंभ में ही राम और रावण आपस में चचेरे भाई माने गए हैं तथा राम के केवल एक ही भाई लक्ष्मण और एक बहन शान्ता के नाम आये हैं। 'रामजातक' के अनुसार राम ने सीता की खोज करते समय दो विवाह भी कर लिये थे जिनमें से एक सुग्रीव एवं बालि की बहन से था और दूसरा बालि की विधवा से। राम की इन दोनों पत्नियों ने अपने पुत्रों, हनुमान तथा खवान थोआका के साथ युद्ध में भाग लिया था। राम ने सीता से पहले भी कई विवाह किये थे। इन दोनों ही रामायणों पर बौद्धधर्म का न्यूनाधिक प्रभाव स्पष्ट है और ये अपेक्षा कृत आधुनिक भी कही जा सकती हैं। कहते हैं कि स्याम देश में अयोध्या से ही आर्य सभ्यता पहले पहल प्रचारित हुई थी। इसी कारण, वहाँ सर्व प्रथम 'बाल्मीकीय रामायण' की ही मूल कथा गयी थी। किंतु स्याम की वह प्राचीन रामायण आज उपलब्ध नहीं है, न

'बापाली' भाषा जिसमें वह लिखी गयी थी, इस विषय का कोई अन्य ग्रन्थ ही है।

ब्रह्मदेश में

ब्रह्मदेश की रामायणी कथा वहाँ पर 'रामयत' के नाम से प्रसिद्ध है और उसके रावण का नाम भी 'दशगिरि' बताया जाता है। इस नाम का कारण यह दिया जाता है कि रावण का राजमुकुट दस अंगों से समन्वित था। ब्रह्मदेश में रामकथा-साहित्य का प्रचार अधिकतर अठारहवीं शताब्दी से होने लगा जब से श्याम देश से लाये गए, राम नाटक के कई अभिनेता बंदियों ने वहाँ राम-कथा का अभिनय आरंभ किया। इसी समय सन् १८०० ई० के आस-पास वहाँ के कवि यूतों ने 'रामयागन' काव्य की रचना की जो संभवतः उस देश की ऐसी सबसे महत्वपूर्ण कृति है। राम नाटक को यहाँ के लोग आज कल 'यामप्वे' कहते हैं। इसका अभिनय करते समय बहुमूल्य चेहरे पहनते तथा उनकी पूजा भी करते हैं। नाटक के कथानक में 'रामकियेन' की राम-कथा से अधिक अन्तर नहीं है। फिर भी, सीताहरण वहाँ के अभिनय का एक बहुत प्रिय विषय है। इसकी शूर्पणखा का नाम गांबी है जो मृग का रूप धारण करके राम को दूर तक बहका ले जाती है और अंत में आहत होकर अपना राक्षसी रूप प्रकट करती है।

इंदोनेशिया में राम-कथा के दो भिन्न रूप मिलते हैं जिनमें से एक बाल्मीकीय रामायण के कथानक से अधिक निकट है। उसकी रचना भी शैवों द्वारा हुई थी, किंतु दूसरी में उससे बहुत कुछ भिन्नता है और वह पहली की अपेक्षा अर्वाचीन भी कही जा सकती है। कहते हैं कि यव द्वीप में रामायण का अनुवाद सर्वप्रथम, ईसा की पाँचवी शताब्दी में हुआ था और उसमें उत्तरकांड का समावेश नहीं किया गया था। इस कारण, अनेक विद्वानों की यह भी धारणा हुई है कि भारतीय रामायण में कदाचित् पहले उत्तरकांड नहीं रहा होगा और वह उसमें कहीं पीछे जोड़ा

गया होगा। यव द्वीप के रामायण काव्य का नाम रामकवि है जिसकी रचना चार अध्यायों में की गई है। पहले अध्याय अर्थात् 'रामगुनद्रंग' में रामायण के प्रथम कांड की कथा आती है और दूसरे में वनवास से लेकर राहवन अर्थात् रावण द्वारा किये गए सीता-हरण तक के प्रसंग हैं। इसी प्रकार, तीसरे में हनुमान का आलंका अर्थात् स्वर्णमयी लंका तक जाने और फिर आगे सेतुबंध तक की कथा दी गई है। अन्तिम अध्याय में राम-रावण युद्ध, सीति अर्थात् सीता का उद्धार, 'देवविषण' अर्थात् विभीषण की राज्य-प्राप्ति तथा रामादि का 'नामूद्या' अर्थात् अयोध्या में वापस अपना जैसी बातें आती हैं जिनकी चर्चा 'रामायण' के युद्धकांड तक में ही की गई मिलती है। यव द्वीप के काव्य सहित्य में एक प्राचीन ग्रंथ 'कांड' नाम का भी मिलता है जिसमें सृष्टि प्रकरण के अतिरिक्त रामायण और महाभारत की कथा भी आ जाती है। इसके सिवाय राम-कथा के विवरण वहाँ के उन दो शिव-मंदिरों में भी पाये जाते हैं जिनमें पाषाण चित्रलिपि खुदी हुई है। इनका निर्माण-काल नवीं शताब्दी है।

मध्य जावा में

मध्य जावा के 'परमवन' अर्थात् परमब्रह्म नामक स्थान पर जो चित्र लिपि शिवमंदिर में है वह उसकी चारों ओर ऊँची दीवारों पर खुदी हुई है। इसकी कथा और 'रामायण' के कथानक में जो भिन्नता पायी जाती है, उसके अनुसार जटायु ने राम को सीता की अंगूठी दी थी। मछलियों ने सेतुबंध के समय उसे नष्ट करने का यत्न किया था तथा लक्ष्मण के तरकश में सुग्रीव के आँसुओं का पानी जमा हो गया था जिससे उसका पता लगाया जा सका आदि कुछ प्रसंग हैं जो विशेषतया वहाँ की कई अर्वाचीन रामायणों में भी पाये जाते हैं। वहाँ की प्राचीनतम राम सम्बंधी साहित्यिक रचना बारहवीं शताब्दी के किसी योगीश्वर कवि कृत 'रामायण काकाविन' है जिसके डच अनुवाद से पता चलता है कि वह अधिकतर

'महिकाव्य' पर आश्रित है। उसके प्रारंभिक बारह सर्गों का विभाजन लगभग ठीक उसी के अनुसार हुआ है। योगीश्वर ने युद्धकांड की कथा का विस्तार 'महिकाव्य' से भी अधिक किया है। 'रामायण काकाविन'की सीता ने हनुमान को अपने चूड़ामणि के अतिरिक्त एक पत्र भी दिया है। उसकी शबरी राम से अपनी कथा सुनाती हुई यह भी कहती है कि विष्णु ने अपने वाराहावतार में मेरी माला खायी थी और मर गए थे जिस पर मैंने उनकी लाश खा ली और मेरा मुख काला हो गया। वह राम से अनुरोध भी करती है कि मेरा मुख पोंछ कर उसे शुद्ध कर दीजिए। इसके अतिरिक्त इस काव्य ग्रन्थ में इन्द्रजीत की सात पत्नियों की चर्चा की गई मिलती है जो अपने पति के साथ ही युद्ध करती हैं और मारी जाती हैं। जावा में एक प्राचीन 'उत्तरकांड' भी पाया जाता है। इसमें रामायण की कथा गद्य द्वारा कही गई है और एक 'चरित रामायण' अथवा 'कावी जानकी' का भी पता चलता है जिसके १०१ पदों द्वारा 'रामायण' के प्रथम छह कांडों की कथा व्याकरण के उदाहरणों के साथ दी गई है।

बाली द्वीप में

बाली द्वीप की रामायण स्वयं बाल्मीकि मुनि की ही कृति मानी जाती है, किंतु उसकी रचना वहीं की भाषा में हुई है। यह रामायण छह कांडों एवं पच्चीस सर्गों में विभक्त है और इसमें भी उत्तरकांड नहीं है और वह एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में मिलता है। इस रामायण की एक विशेषता यह है कि इसमें राम की मृत्यु का वर्णन करके उसके अनन्तर उनके वंशजों का भी वृत्त दिया गया है। राम को इस काव्य के रचयिता ने अपनी वृद्धावस्था में, वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करने वाला दिखलाया है। इसकी भाषा में संस्कृत शब्द भी मिलते हैं। बाली के काव्य-साहित्य में एक दूसरी रामायण भी मिलती है जो राजा कुसुम की रचना है और जिसका इस समय बहुत अधिक प्रचार है।

इंदोनेशिया की अर्वाचीन राम-कथा अधिकतर नाटकों के रूप में पायी जाती है और वही इंदोचीन, स्याम और ब्रह्मदेश में भी प्रचलित है। यव द्वीप में इस परंपरा के सबसे उल्लेखनीय उदाहरण वहाँ की 'सेरतकांड' और 'राम केलिंग' नामक रचनाओं में पाये जाते हैं। 'सेरत-कांड' की प्रारंभिक कथा में नबी अदम की कथा की एक विस्तृत भूमिका मिलती है जिसमें जावा के प्राचीन राजवंशों की एक सूची भी दी गई है। उस वंशावली के भीतर भारतीय पुराणों के अनेक देवताओं की कथा भी सम्मिलित है। इसमें रावण द्वारा विष्णु के पराजित होने तथा फिर उनके विभिन्न अवतारों के साथ उनके बार-बार युद्ध करने की कथा आती है। विष्णु, वासुकी और श्री 'लक्ष्मी' के साथ रावण के भय से भाग कर दशरथ के यहाँ आ जाते हैं और प्रथम दो उनके पुत्र बन जाते हैं। श्री अपने को एक अंडे के रूप में परिणत कर लेती है जिसे रावण खा लेता है और उसके फलस्वरूप वह मन्दोदरी के गर्भ से सीता बन कर प्रकट होती है। राम-कथा के अंत में यह भी कहा गया है कि सीता का एक मात्र पुत्र 'बुतलव' नाम का था जिसे राम ने अपना राज्य-भार सौंप दिया। किसी अनल नामक वानर के अपने को अग्नि रूप में परिणत कर लेने पर उसमें वे सीता, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव आदि के साथ भस्मीभूत हो गए, केवल हनुमान बच सके। यव द्वीप के 'रामकेलिंग' ग्रन्थ की कथा इससे कुछ भिन्न है और वह बहुत कुछ मलय द्वीप के 'हिकायत सेरीराम' की कथा से मिलती है।

मलय द्वीप की अर्वाचीन रचना 'हिकायत सेरीराम' की प्राचीनतम हस्तलिपि का काल सन् १६३३ ई० बताया जाता है। इस पुस्तक के अंतर्गत रावण चरित्र से लेकर सीता-त्याग और राम सीता के पुनर्मिलन तक की कथा आती है। इसमें रावण अपने पिता द्वारा निर्वासित होकर सिंहल द्वीप जाता है और वहाँ पर तपस्या करके अल्लाह को प्रसन्न करता तथा उनसे चार लोकों में से एक पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है और

उसी में अपनी सुन्दर लंकापुरी का निर्माण करता है। इस रचना में भी सीता का जन्म मन्दोदरी के ही गर्भ से बताया गया है और वह वहाँ पर अपने अशुभ द्योतक जन्मपत्र के कारण समुद्र में फेंक दी जाती है। राम का वनवास यहाँ पर दशरथ की पत्नी वलियादरी के अनुरोध पर होता है और यहाँ पर भी राम बड़ी प्रसन्नता के साथ गृह-त्याग करते हैं। अंजनी इस रचना के अंतर्गत गौतम की पुत्री ठहरायी गई है और बालि तथा सुग्रीव उसके सहोदर भाई जान पड़ते हैं। हनुमान का जन्म उसके गर्भ से स्वयं राम के वीर्य द्वारा होता है। मितानी राम-कथा में 'सेरीराम' के अनेक पात्रों का एकीकरण महासिकुल नामक एक तपस्वी में हो गया प्रतीत होता है। इसके प्रारंभिक भाग में उनकी पत्नी को चार संतानों अर्थात् एक पुत्री, बालि, सुग्रीव तथा विलो की चर्चा की गई है। किंतु इसके दूसरे भाग में उन्हीं की दत्तक पुत्री मन्दुदकी की भी कथा आती है जो रावण के साथ विवाह करती है और जिसके गर्भ से सीता की उत्पत्ति होती है। सीता के त्यक्त हो जाने पर महासिकुल उसे अपनी पुत्री के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। अपने दत्तक पुत्र 'सेरावी नायकेल' अर्थात् राम के उस पर अनुरक्त होने पर उसके कारण इस पुत्र को अपने घर से निर्वासित कर देते हैं। मितानी कथा में केवल रावण-बध के ही प्रसंग आते हैं।

सिंहल, देश में कोई 'कोहोंबा यक्कम' नाम की एक धार्मिक विधि प्रचलित है जिसको संपन्न करते समय कतिपय काव्यात्मक कथाओं का पाठ होता है और उसमें सिंहल के प्रथम राजा विजय तथा नागकुमारी कुवेणी की और सीता-त्याग की कथा की प्रधानता है। इस कथा के अनुसार बालि ही लंका-दहन करके सीता को राम के निकट पहुँचा देता है। सीता का त्याग यहाँ पर रावण के चित्र के कारण होता है। बाल्मीकि सीता के लिए बालकों की सृष्टि करते हैं और यह दोनों सीता के एक अन्य पुत्र को लेकर राम की सेना के साथ युद्ध करते हैं सीता के उन

दो पुत्रों में से प्रथम को बाल्मीकि ने कमल से बनाया था और दूसरे की सृष्टि कुश के द्वारा की थी।

इस्लाम धर्म के प्रचलित हो जाने पर पश्चिम के अरब आदि देशों का अभ्युदय काल आरंभ हो गया और उनका भारत से सम्बंध बढ़ा। फलतः बगदाद के शासक हारूँ उल रशीद ने चिकित्सा ग्रन्थों के साथ-साथ रामायण, महाभारत आदि के भी अनुवाद कराये। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान अलबेरूनी ने अपनी भारत-यात्रा का विवरण देते समय अपनी पुस्तक में राम-कथा की भी चर्चा की। उसने कोई विस्तृत सुश्रृंखलित कथा नहीं दी, किंतु प्रसंगवश उसके अनेक अंशों का उल्लेख मात्र कर दिया। अलबेरूनी ने लंका का वर्णन करते समय बताया है कि जब रावण दशरथ के पुत्र राम की पत्नी को हर ले गया तो इस स्थान पर उसने एक दुर्ग का निर्माण किया। राम ने किष्किंद के वानरों के साथ मैत्री करके रावण पर चढ़ाई की। समुद्र को सेतुबंध की सहायता से पार किया, जो सीलोन के पूरब १०० योजन का था। सेतुबंध को राम ने फिर दस जगह अपने बाणों द्वारा तोड़ दिया और अपनी राजधानी लौट आए। राम के राज में कोई पुत्र अपने पिता के जीवन-काल में नहीं मरता था और यदि मर भी जाता था तो उसका कारण राज्य में होने वाले किसी अधर्म का सूचक समझा जाता था, आदि। प्राचीन ईरान के 'ज़ेंद अवेस्ता' में 'रामहु वास्त्र' शब्द आता है और एक असीरियन देवता का भी नाम 'रम्मन' वा 'रमानु' मिलता है जो हिब्रू भाषा के 'रिमोन' के समान है। यहूदियों के नवें अवतार लामश 'रामः' और ईरानियों के अखामनी सम्राट अरियरम्म 'आर्य राम' के नाम भी राम शब्द से मिलते-जुलते हैं। किंतु उनका सम्बंध किसी राम-कथा से नहीं है। मितन्नियों का 'दशरथ' भी एक वैसा ही शब्द है।

अरब आदि देशों के और भी पश्चिम की ओर, योरुप के विविध देशों में भी राम-कथा का कोई न कोई रूप वहाँ के साहित्यों में मिलता है।

योरुप में राम-कथा का प्रचार 'रामायण' जैसे ग्रन्थों के अनुवादों द्वारा हुआ है। इन अनुवादों में से कई एक के प्रणेता उधर के ईसाई मिशनरी थे और वहाँ के कतिपय ऐसे विद्वान भी थे जिन्हें प्राच्य-विद्या विषयक जिज्ञासा ने इस कार्य की ओर प्रेरित और प्रवृत्त किया। जहाँ तक पता चलता है, किसी जेसुइट मिशनरी जे० फेनिचियो ने सन् १६०६ ई० में रचित अपनी 'लिब्रो डा सैटा' में दशावतारों का निरूपण करते समय राम-कथा का भी वर्णन किया और दशरथ के यज्ञ से लेकर सीता की अग्नि-परीक्षा तक के वृत्तान्त को उसमें स्थान दिया। कहते हैं कि उसकी हस्तलिपि का कुछ अंश खो जाने के कारण, वहाँ पर पूरी राम-कथा नहीं दीखती, किंतु जो कुछ है, वह 'रामायण' पर निर्भर जान पड़ती है। यदि उसमें कुछ अन्तर भी है तो वह रावण चरित का आरण्यकांड की कथा में रखने तथा अग्निजा सीता के वृत्तान्त और राम के स्वेच्छापूर्वक वन-गमन में हो सकता है। इसी प्रकार डच ईस्ट कंपनी के पादरी ए० रोजेरियस की रचना 'दि ओपेन रोरे' सन् १६५१ ईसवी के अवतार-वर्णन में भी 'रामायण' पर आश्रित राम-कथा का ही विवरण रावण-चरित से लेकर रामादि के अयोध्या प्रत्यागमन तक मिलता है। जे० वी० टावर्निये नाम के प्रसिद्ध यात्री ने भी अपने भ्रमण-वृत्तान्त सन् १६७६ ईसवी में राम-कथा का एक संक्षिप्त रूप फ्रेंच भाषा में दिया है। पेरिस से सन् १७८२ ईसवी में प्रकाशित एम० सोनेरा की पुस्तक 'वोयाज़ ओस इंड ओरियंटाल' की संक्षिप्त राम-कथा की एक विशेषता यह है कि राम १५ वर्ष की अवस्था में तपस्या करने, अयोध्या छोड़ कर लक्ष्मण और सीता के साथ चित्रकूट में चले जाते हैं। पेरिस से ही सन् १८०६ ईसवी में प्रकाशित 'मिथोलॉजी डेस इंडू' नामक डे पोलिये की रचना में भी एक विस्तृत रामचरित मिलता है जो 'रामायण' से सर्वथा भिन्न आधार पर निर्मित समझा जाता है। इसकी विशेषताओं में रक्तजा सीता की जन्म-कथा तथा महि-रावण द्वारा राम और लक्ष्मण को पाताल ले जाने की कथा आदि है।

सन् १८२६ ईसवी में वान श्लेगेल ने 'रामायण' के काशी संस्करण वाले पाठ का अनुसरण करते हुए उसके संपूर्ण बालकांड और अयोध्या कांड के कुछ अंशों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया था। इसी प्रकार, सन् १८४० ईसवी इटली निवासी सिंगनर गोरेसिउ ने भी 'रामायण' के बंगीय संस्करण का इटालियन अनुवाद, पूरे मूल संस्कृत के साथ प्रकाशित किया तथा इस कार्य में उसे बीस वर्ष लग गए। अंग्रेजी में रामायण का अनुवाद, सर्वप्रथम कदाचित् श्रीरामपुर के मिशनरी विलियम केटी द्वारा सन् १८०६ ईसवी में आरंभ हुआ था। फिर मार्शमैन, ग्रिफिथ, ह्वीलर आदि अनेक मिशनरियों और विद्वानों ने इसको अंग्रेजी में रूपान्तरित कर प्रकाशित किया था। इन अंग्रेजी लेखकों के कारण राम-कथा के आलोचनात्मक अध्ययन की भी एक परंपरा निकली और कुछ जर्मन विद्वानों का भी समर्थन पाकर यह एक अत्यन्त मनोरंजक विषय बन गया। 'रामायण' जैसे ग्रन्थों के अनुवादों के साथ-साथ पांडित्यपूर्ण भूमिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। प्राच्य विद्या विषयक आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित करने वाले यूरोप, अमेरिका और भारत के विभिन्न पत्रों में तुलनात्मक अध्ययन विचार-विमर्श होने लगा। फलतः इस समय राम-कथा का परिचय न केवल उसके विविध रूपों के विवरणों द्वारा ही दिया जा रहा है, अपितु आधुनिक विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट रहता है कि उसके मूल रूप की उत्पत्ति और क्रमिक विकास की कहानी भी प्रकाशित की जाये।

इधर भारत के स्वतंत्र हो जाने पर इसका संपर्क अन्य देशों के साथ और भी अधिक बढ़ता जा रहा है और विदेशों में इसकी कला, संस्कृति और साहित्य की अच्छी जानकारी के लिए वहाँ के लोगों की जिज्ञासा में वैसी ही वृद्धि दीख पड़ती है। कई समृद्ध देशों के शिक्षा केन्द्रों में उनका अध्ययन करने के लिए विशेष प्रबंध किया गया है और यहाँ के महत्व पूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद भी किया जाता है। रूस देश के एक प्रसिद्ध

विद्वान वरान्नीकोव ने अभी कुछ ही दिन हुए तुलसीदास के 'रामचरित मानस' ग्रन्थ का अपनी भाषा में अनुवाद कर उसे एक विद्वतापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित किया है जिसका अंग्रेजी और हिन्दी अनुवाद भी हो गया है। राम-कथा का तुलनात्मक अध्ययन होमर के 'इलियड' जैसे काव्य-ग्रन्थों के कथानकों के साथ भी कतिपय योरुपीय विद्वानों ने किया है और दोनों के मूलस्रोत की भी खोज की है। किन्तु इस सम्बंध में अभी तक जो काम हुआ है वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। डॉ० कामिल बुल्के ने 'राम-कथा' का विस्तृत और गंभीर अध्ययन कर जो इस नाम से अपनी थीसिस प्रकाशित करायी है वह एक सुन्दर प्रयास है और भावी खोजियों के लिए उपादेय भी है।

गोस्वामी तुलसीदास : पुनर्मूल्यांकन

गोस्वामी तुलसीदास को हमने आज तक विभिन्न दृष्टियों से देखने के यत्न किये हैं। भारतीय इतिहास के मध्ययुग में उनका आविर्भाव हुआ था और जब धार्मिक क्षेत्र में भक्ति-साधना का अधिक प्रचार था, हमने उन्हें एक भक्त के रूप में पाया था। उस समय हमने उनका स्वागत "कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो" के भाव से किया था। फिर जब हिन्दी भाषा भाषियों के यहाँ साहित्यिक चर्चा कुछ विशेष विस्तार के साथ होने लगी और कवित्व-शक्ति के महत्व की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तो उनके अपने लिए "कवित विवेक एक नहिं मोरे" कह चुकने पर भी रीतिकालीन कवियों ने उनकी कविताई की भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे भक्त होने के साथ ही, अपने कवि रूप में भी बहुत प्रसिद्ध हो चले और उनकी लोकप्रियता का क्षेत्र विस्तृत हो गया। इसी प्रकार, आधुनिक युग के आरंभ में, जिस समय पाश्चात्य लोगों के साथ हमारा संपर्क बढ़ा और पश्चिमी प्रकाश के आलोक में हमने आत्मनिरीक्षण आरंभ किया तो हमें उस महापुरुष को एक अन्य रूप में भी देखने का अवसर मिला। जो सुधारक का था। इस दृष्टि से उनके महत्व की जाँच-पड़ताल अनेक विदेशी विद्वानों तक ने की और उन्हें न केवल हिन्दू धर्म, अपितु भारतीय संस्कृति के उन्नायकों में भी बहुत ऊँचा स्थान दिया। इस प्रकार जिस दशा में हमने उन्हें देखना चाहा उनके वे सर्वथा उपयुक्त ठहरते आए और उसके समय की कसौटी पर सदा खरे भी उतरते आए। इसी कारण, उनके के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने में हम कभी उदासीन नहीं रहे, न उनकी लोकप्रियता में कभी कोई कमी आती दीख पड़ी।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों में उनके भक्त, कवि एवं सुधारक वाले रूप सदा से विद्यमान थे जैसा अवसर आता गया और तदनुसार हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होते गए, हमारी दृष्टि उन पर पड़ती गई और हम उनके विविध रूपों का मूल्यांकन करते चले गए। आज हमारे सामने उनके वे तीनों रूप उपस्थित हैं और हम उनका आदर एक समर्थ कलाकार तथा भारतीय समाज के एक संरक्षक के रूप में किया करते हैं। हमने उनकी वाणी को अमर बतलाया है और उन्हें विश्व के अग्रगण्य महापुरुषों तक में गिनने में संकोच नहीं किया है। परंतु क्या कभी कोई केवल भक्त, कवि अथवा सुधारक होने मात्र से ही उस सम्मान का अधिकारी हो सकता है जो उन्हें आज तक आप से आप मिलता आया है ? क्या उन्हें अमर कृतियों का रचयिता कहने अथवा संसार के श्रेष्ठ महापुरुषों में गिनने का कोई और भी कारण नहीं हो सकता ? इसके सिवाय क्या हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हमारे उक्त कथनों की प्रामाणिकता सदा विश्वसनीय रह जायगी ?

आज हम अपने राष्ट्र की जीवन-यात्रा के पथ पर एक महत्वपूर्ण स्थल तक आ पहुँचे हैं। हमारे सामने कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित हैं। आज हमें ऐसा लग रहा है कि हमारा भविष्य जो रूप ग्रहण करने जा रहा है वह हमारे पूर्व परिचित आदर्शों से कुछ विलक्षण भी हो सकता है। आधुनिक युग की भौतिक उन्नति ने जहाँ कई पिछड़े हुए देशों को अधिक आगे ला दिया है, वहाँ वह उन्नत देशों को सबके साथ पैर मिला कर चलने को भी बाध्य कर रही है। आज सभी को इस बात का भान होने लगा है कि पृथक्-पृथक् आदर्शों को अब हम कदाचित् ठीक उनके पूर्व रूपों में ही नहीं रख सकते। प्रत्येक बात जो कभी किसी जाति वा समाज विशेष के मानदंडानुसार परख ली जाती थी, अब किसी 'सार्वभौम तुला' पर भी चढ़ने जा रही है। हमें इस प्रकार देखने का क्रमशः एक अभ्यास पड़ता जा रहा है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमें

कभी अपनी निधि के अमूल्य रत्नों को भी एक बार फिर से परखना होगा। हमें अपने चिर परिश्रम द्वारा अर्जित उपयोगी संबल को भी कम कर देना पड़ेगा और आगे के लिए केवल उसी को अपनाना होगा जो उसके अनुकूल हो। हमारी सभी बातें भावी मानव के आदर्शों का अनुसरण करेंगी और उसी दशा में उनका मूल्य सदा के लिए ठहर भी सकता है। तदनुसार गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों को अब हमें केवल किसी साधारण भक्त वा कवि अथवा भारतीय की ही पंक्तियों के रूप में नहीं पढ़ना है। उनमें कथित विषयों की अब हमें एक नवीन व्याख्या करनी चाहिए और उनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को सार्वभौम विचारों की दृष्टि से देखना चाहिए। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा ही यह समुचित रूप से जाना जा सकता है कि उनके उपर्युक्त सम्मान का रहस्य क्या है और वह फिर कब तक टिकने योग्य भी है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं कि आज तक के आलोचकों ने उनकी रचनाओं का अध्ययन व्यापक रूप में नहीं किया है। कुछ विद्वानों ने ऐसा अवश्य किया है, किन्तु उस दशा में भी उन्होंने जिस मानदंड का उपयोग किया है वह अधिकतर भारतीय ही रहता आया है। जैसे, गोस्वामी तुलसीदास के काव्य की परीक्षा उन्होंने बहुधा भारतीय साहित्य-शास्त्र द्वारा अनुमोदित नियमों के अनुसार जाँच कर की है। उसकी भक्ति को उन्होंने साधारण सांप्रदायिक भक्तिमार्ग के अनुकूल ठहरा कर उसकी उत्कृष्टता सिद्ध करने के यत्न किये हैं। इसी प्रकार, उसके सुधारों की रूपरेखा का अनुमान भी उन्होंने केवल हिन्दू समाज के दृष्टि-कोण से ही किया है जिससे कुछ विद्वानों को उसमें संकीर्णता तक की गंध मिल जाती है। गोस्वामी तुलसीदास एक सच्चे भारतीय थे। उनकी शिक्षा एवं संस्कृति का रूप भी भारतीय था, किन्तु उनकी विचारधारा केवल भारतीय ही नहीं थी। सत्य किसी जाति, धर्म वा देश विशेष की वस्तु नहीं, वह शाश्वत एवं सर्वदेशीय है और उसे किसी भी माध्यम द्वारा

व्यक्त किया जा सकता है। यदि उसका रूप ठीक है और वह सक्षम शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है तो उसके व्यापक होने में कोई भी सन्देह नहीं। संकीर्णता का प्रश्न तब आता है, जब उसका रूप विकृत और एकांगी सा दिखायी देता है और उसे व्यक्त करने वाले में अनुभूति की गहराई की कमी जान पड़ती है। जहाँ कहीं भी सच्ची अनुभूति होगी और उस पर देश-काल के बंधनों का अत्यधिक प्रभाव न होगा, वह टूटे-फूटे शब्दों तक में ग्राह्य हो सकती है। देश-काल के बंधनों द्वारा वह बहुधा सीमित बन जाती है और उस पर अनावश्यक रंग भी चढ़ जाता है। परंतु ऐसा तभी संभव होता है जब उसे व्यक्त करने वाले का व्यक्तित्व निर्बल हो और उसमें इन बातों के स्तर से ऊपर उठने की शक्ति न हो। सबल व्यक्तित्व में न केवल सत्य तक पहुँचने की शक्ति रहती है, अपितु वह उसे शुद्ध अविकृत रूप से उपस्थित भी कर देता है। ऐसे महापुरुष की विचारधारा एकदेशीय सी लगती हुई भी सर्वदेशीय होती है और तात्कालीन सी जान पड़ती हुई भी सर्वकालीन हुआ करती है। वह स्वयं सत्य स्वरूप बन जाता है और उसकी अभिव्यक्ति उसके प्रतिबिंब का काम देती है। इस कारण वह भी सत्य की ही भाँति, देश-काल द्वारा अबाधित और अमर हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों के अमरत्व का कारण समझने के पहले उनके उस व्यक्तित्व का परिचय पा लेना आवश्यक है। इसके लिए केवल उनके भक्त, कवि अथवा सुधारक वाले उपर्युक्त रूपों का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं, न वे तीनों मिल कर भी हमें उनका पूरा पता देने में समर्थ हो सकते हैं। हमें इसके लिए उनके उस मानव-रूप का अध्ययन करना पड़ेगा जो इन तीनों का भी वास्तविक आधार है और जिसके प्रकाश द्वारा ही ये सदा प्रकाशित हुआ करते हैं। मानव तुलसीदास, भक्त कवि अथवा सुधारक तुलसीदास से कहीं अधिक महान है और उसे अपनी दृष्टि में रख कर ही उसकी कृतियों का समुचित

अध्ययन किया जा सकता है अथवा उनके मूल्यांकन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। उसका रूप उनकी प्रत्येक पंक्ति में प्रतिबिंबित है। गोस्वामी तुलसीदास का अभी तक प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रकाशित नहीं है, न उनके ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा हम उन्हें जान ही सकते हैं। जैसे-जैसे हम उनकी रचनाओं को पढ़ते जाते हैं, उनके शब्दों के साथ-साथ उनके अर्थ को अवगत करते चलते हैं इन दोनों के पीछे हमें सदा उस एक व्यक्ति की परछाँई का भी अनुभव होता रहता है जो उनकी पृष्ठभूमि का काम करती है और जिसका अस्तित्व ही हमें उनके भीतर निहित सत्य का पता भी देता है। जिस प्रकार किसी चित्र का निर्माण बिना किसी आधार के नहीं हो सकता और उसके रूप-सौन्दर्य का भी बहुत सा श्रेय उसके चित्रपट को ही दिया जाता है, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के पीछे भी सदा कोई व्यक्तित्व काम किया करता है और उनसे उत्पन्न भाव-सौन्दर्य सदा उसी पर निर्भर रहता है। जो शब्द किसी साधारण कवि द्वारा प्रयुक्त होकर केवल अपनी रूढ़िगत सीमा तक ही काम करते हैं, वे ही किसी सक्षम कलाकार की अभिव्यक्ति का माध्यम बन कर इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि उनका प्रभाव बहुत व्यापक और चिरस्थायी भी सिद्ध होता है।

गोस्वामी तुलसीदास के मानव रूप का विश्लेषण करते समय हमें उनकी कुछ रचनाएँ बहुत सहायता पहुँचाती हैं। अपने 'रामचरितमानस' और विशेषतः अपनी 'विनयपत्रिका' के अंतर्गत उन्होंने कई ऐसे संकेत प्रदान किये हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व की हमें एक स्पष्ट झलक मिल जाती है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने भरत का जो चरित्र-चित्रण किया है, वह कई दृष्टियों से परमोपयोगी है। उसमें उन्होंने भरत को न केवल एक प्रिय बंधु के नाते महत्व दिया है, अपितु उनमें अपने अनुसार एक सच्चे भक्त का भी आदर्श रख दिया है। उन्होंने भरत के विषय में कहते हुए एक स्थल पर यहाँ तक कह डाला है कि "यदि उनका जन्म न हुआ होता अर्थात्

यदि भरत का आदर्श मुझे प्रभावित करने के लिए नहीं मिल पाता तो मेरे जैसे साधारण कोटि के मनुष्य के लिए यह संभव नहीं था कि वह 'राम सम्मुख' हो पाता।" ये भरत उनके इष्टदेव राम के न केवल भाई और भक्त हैं, प्रत्युत उनके प्रति स्वयं राम का भी स्नेह अतुलनीय है। उनसे भी तुलसी ने कहलवाया है कि भरत के समान कोई प्रिय बंधु नहीं हो सकता। भरत में गोस्वामी तुलसीदास ने जिन गुणों को प्रदर्शित किया है, उसमें सर्वप्रमुख हैं अनन्यता और आत्मत्याग। अनन्यता का गुण केवल एक भक्त के लिए ही उपयोगी नहीं है, वह संसार के किसी भी श्रेणी के व्यक्ति के लिए सफलता को सबसे महत्वपूर्ण कुंजी है। अनन्य भक्त भरत अपने इस गुण के अनुसार कहते हैं "मुझे अर्थ, धर्म, काम अथवा निर्वाण की गति की इच्छा नहीं, मैं तो केवल एक ही अभिलाषा रखता हूँ कि जो भी जन्म मुझे मिले उसमें मेरी भक्ति राम के चरणों में बनी रहे। मैं इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता।" भरत ने अपने इस कथन को अपने आचरण द्वारा सिद्ध कर दिखाया जो 'रामचरितमानस' के पढ़ने से विदित होता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने अनन्यतावाले इस गुण को चातक पक्षी के स्वभाव द्वारा भी स्पष्ट किया है। उन्होंने उसके विषय में 'चातक चौंतीसी' के रूप में कुछ दोहे लिखे हैं जिनमें उसके दृढ़ प्रण की प्रशंसा इन्होंने मुक्त कण्ठ से की है। इस सम्बंध में उन्होंने प्रत्येक बात को व्यक्तिगत रूचि द्वारा सरस बना कर कहा है और उस पक्षी के वर्णन में सजीवता ला दी है। उस पक्षी के स्वभाव को अपने ऊपर भी घटाते हुए वे कहते हैं—

एक भरोसो एक बल, एक आस विस्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

अर्थात् जिस प्रकार एक चातक पक्षी के लिए सिवाय जल पूर्ण बादल के, कोई अन्य सहारा नहीं, न वह कोई दूसरी आशा ही करता है उसी

प्रकार मुझे, तुलसी के लिए, भी केवल एक राम ही सब कुछ है। उन्होंने इस बात को अपनी 'विनयपत्रिका' में कई बार दुहराया है और कहा है कि सच्चे अनन्य भाव के अंतर्गत सभी अन्य प्रकार के सम्बंध एक में बट कर उसे दृढ़तर बना देते हैं और फिर इस प्रकार का भक्त अपने इष्टदेव के प्रति पूर्णतः तन्मय हो जाता है। परंतु गोस्वामी तुलसीदास की यह अनन्यता ऐसी नहीं जो उनमें किसी प्रकार के एकांगीपन का दोष ला दे और वे संकीर्ण हृदय बन जायँ। अपने आदर्श की अनन्यता का परिचय उन्होंने स्वयं अपने इष्टदेव राम से दिलाया है और उनसे हनुमान के प्रति कहलाया है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत॥

अर्थात् वास्तविक अनन्य भक्त वह है जो अपने इस गुण के कारण सारे विश्व को ही अपने इष्टदेव के रूप में देखता है और स्वयं अपने को उसका सेवक मात्र मानता है। इसीलिए जहाँ एक ओर ये "भरोसो काहि दूसरो सों करों" से लेकर "अपनो भलो राम नामहिं तें तुलसिंहि समुझि परो", तक कह डालते हैं, वहाँ दूसरी ओर ये "सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी" भी कहते हैं। इन दोनों का सामंजस्य इनमें पूर्णतया मिलता है।

इनके अपने इष्टदेव राम के प्रति अनन्यता के भाव की भी यह पराकाष्ठा है कि वहाँ पर किसी प्रकार की भी सांप्रदायिकता वा संकीर्णता का लेशमात्र भी नहीं है। कुछ लोग इनकी सांप्रदायिकता का पता इनके इष्टदेव राम के रूप में ही पाने की चेष्टा करते हैं। उनका कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अपना इष्टदेव उस राम को चुना है जो महाराज दशरथ नाम के किसी अवध नरेश के पुत्र थे और जो कभी केवल एक मानव मात्र ही रह चुके थे। परंतु स्वयं गोस्वामी तुलसीदास का कथन ठीक इन्हीं शब्दों में नहीं है, न हमें वे इस प्रकार कहते हुए कहीं दीख ही पड़ते हैं। 'रामचरितमानस' के आरंभ से लेकर

अंत तक जब कोई भी उपर्युक्त प्रसंग आया है, उन्होंने इस सन्देह का निराकरण करने के यत्न किये हैं। इस सम्बंध में तो यहाँ तक कह देना भी कदाचित् अनुचित न समझा जायगा कि उस पूरे ग्रन्थ की रचना केवल इसी एक प्रश्न का समाधान करने के लिए की गई थी। उसके अनेक उदाहरण हमें उन संवादों में भी मिल सकते हैं जो शिव एवं पार्वती, भुशुण्डी एवं गरुड़ और याज्ञवल्क्य एवं भारद्वाज के बीच हुए थे। प्रश्नकर्त्ताओं ने सदा इसी एक प्रश्न को महत्वपूर्ण समझ कर अपनी शंकाएँ प्रस्तुत कीं और उत्तर देनेवालों ने भी उसी का समाधान किया। संपूर्ण राम-चरित्र वहाँ केवल एक इसी उद्देश्य से कहा गया है और इसी की सिद्धि उस ग्रन्थ के रचयिता को अभीष्ट भी थी। इस बात का स्मरण उन्होंने उसके कदाचित् प्रत्येक पृष्ठ पर किसी न किसी रूप में दिलाया है और प्रत्येक प्रसंग से उसे उन्होंने चरितार्थ करने की भी चेष्टा की है।

गोस्वामी तुलसीदास परमतत्व के निर्गुण एवं सगुण रूपों में कोई मौलिक अन्तर नहीं मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार जल, हिम एवं उपल सभी एक ही हैं उनमें केवल स्वरूपगत भेद है, उसी प्रकार निर्गुण एवं सगुण को भी एक मान लेना चाहिए। यदि किसी को ईश्वर के प्रति निष्ठा है तो वह उसे किसी भी रूप में अपना कर अपनी साधना में अग्रसर हो सकता है। तात्कालीन निर्गुणिए साधकों के प्रति वे अपना रूक्ष भाव केवल इसी कारण प्रकट करते हैं कि ऐसे लोग उनकी दृष्टि में बिना कुछ समझे-बूझे ही बकते फिरते हैं। इस रहस्य को भलीभाँति स्पष्ट कर लेना नहीं चाहते। सगुण भक्तों में से भी उन्हें ऐसे लोगों के प्रति दया आती है जो वैष्णव, शैव जैसे विभिन्न संप्रदायों को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं। 'रामचरितमानस' के पृष्ठों में उन्होंने बार-बार इस बात की चेष्टा की है कि राम एवं शिव में कोई मौलिक अन्तर न जान पड़े। राम के अनन्य भक्त होते हुए भी उन्होंने शिव के प्रति अपने

कल्याण के लिए प्रार्थना की है और शिव को राम का एक ही साथ 'सेवक', 'स्वामी' और 'सखा' भी कह डाला है। उनके राम 'अशेष कारणों से परे' तथा राम-नामधारी ईश और हरि हैं, किन्तु वे उन्हें 'अवधपति' राम से अभिन्न भी मानते हैं ; जैसे—

सबका परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥

कह कर उन्होंने रामावतार को उस परमतत्व के स्थान पर ला दिया है जो वैदिक धर्म के अनुसार 'परमज्योतिः' और इस्लाम के अनुसार 'नूर' के नाम से विदित है। निर्गुण एवं सगुण में इस प्रकार भी सामंजस्य आ सकता है।

गोस्वामी तुलसीदास ने भरत में जिस 'त्याग' धर्म को दरसाया है वह भी एक असाधारण गुण कहला सकता है। उन्होंने इसका वर्णन भी अपनी रचनाओं के अंतर्गत कई भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया है और इसे उदाहृत भी किया है। उनके राम तथा उनके तीनों भाई त्याग में एक से एक बढ़ कर दीखते हैं और उनमें से कोई भी ऐसा नहीं जिसे हम त्याग की आदर्श मूर्ति न कह सकें। राम यदि अपने युवराजपन का त्याग करते हैं तो भरत उसके साथ-साथ अपने आपका भी त्याग करके उनके विरह में १४ वर्षों का साधनामय जीवन व्यतीत करते हैं और लक्ष्मण यदि 'नींद नारि भोजन' की उपेक्षा कर अपने अग्रज के निकट सदा दासवत बने रहते हैं तो शत्रुघ्न ने अपने को ऐसा भुला दिया है कि उनका कहीं स्वतंत्र पता ही नहीं चलता। हनुमान, अंगद, जटायु, दशरथ आदि भी 'मानस' के ऐसे त्यागी पात्र हैं जिनकी समता करने वाले अन्यत्र बहुत कम मिल सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने इन पात्रों के चरित्रों का चित्रण भी बहुत कुशलता के साथ किया है और उन्हें उच्च कोटि का सिद्ध कर दिया है। त्याग का यह भाव सदा उपर्युक्त

अनन्यता के साथ ही संभव हो सकता है और इसमें कपट तथा छल की कभी गंध तक नहीं आ पाती। गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तिगत जीवन में इस गुण का भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनकी जितनी भी जीवनियाँ अभी तक उपलब्ध हैं, उनमें इसके उदाहरण आदि से अंत तक मिलते हैं और वे उनके सात्विक जीवन को प्रमाणित करते हैं।

इसी प्रकार हम उनकी रचनाओं में एक अन्य ऐसे गुण का भी प्रदर्शन पाते हैं जो किसी से भी कम महत्व का नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास के इष्टदेव राम एक शान्त, संयमी और विवेकशील महापुरुष के रूप में चित्रित किये गए हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। 'रामचरित-मानस' में आदि से अंत तक इस गुण को उनमें उदाहृत किया गया है और इसे महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया है। राम जिस व्रत को एक बार स्वीकार कर लेते हैं उसे अक्षरशः पालन करना वे अपना परम धर्म समझते हैं और वे अपनी प्रचलित परंपराओं की ओर भी सदा ध्यान रखा करते हैं। १४ वर्षों तक किसी नगर में प्रवेश न करने के नियम को उन्होंने उस समय भी निभाया है जब वे लंका पर पूर्ण विजयी बन चुके थे और जब वे अपनी विरहिणी पत्नी को बिना एक क्षण का भी विलंब किये स्वयं जाकर आनन्दित कर सकते थे। उस अवसर पर विभीषण ने भी उनसे बड़ी श्रद्धा के साथ अनुरोध किया है, किन्तु वे अपने व्रत पर अडिग बने रह गए हैं और सीता को एक साधारण स्त्री रूप में वहाँ आना पड़ा है। किस व्यक्ति के प्रति और किस अवसर पर कैसा व्यवहार करना चाहिए इसे राम से बढ़ कर कदाचित् कोई भी नहीं जानता। 'मानस' के अन्य पात्रों में भी हमें इस गुण का यथेष्ट परिचय मिलता है और जिस किसी में इसकी कमी दीखती है उसका पराभव भी निश्चित रहता है। मर्यादा संरक्षण की इस प्रवृत्ति ने गोस्वामी तुलसीदास को परस्पर विरोधी बातों में सामंजस्य बिठाते समय

भी बड़ी सहायता पहुँचायी है। ऐसे अवसरों पर उन्हें कभी 'राम के नाते' की मर्यादा काम दे जाती है, कभी 'रामकाज लगि' उन्हें कोई मार्ग सुझा देता है तो कभी 'परम सनेही राम' ही स्वयं उनकी सहायता के लिए उपस्थित रहते हैं और उनके द्वारा चित्रित क्रान्तिकारी प्रसंग भी नियमित और मर्यादित से लगने लगते हैं। राजकुमार भरत एवं ब्रह्मर्षि विश्वामित्र निषाद से गले लग कर मिलते हैं, गीध जटायु नारी-रक्षा के यत्न में अपने प्राण तक दे देता है और शबरी भीलनी के घर राम स्वयं पहुँच जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास को समाज के बड़े व्यक्तियों के प्रति जितनी श्रद्धा है उससे कम उन्हें छोटों के प्रति सहानुभूति भी नहीं। पक्षियों में महानीच समझे जानेवाले कागभुशुंडी के सामने पक्षिराज गरुड़ को शिष्यवत भेज कर उन्होंने इस बात का एक प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित कर दिया है। इसके सिवाय परोपकार के गुण को उन्होंने बहुत बड़ा महत्व दिया है। जहाँ कहीं भी कोई अवसर मिला है उन्होंने दीन-दुखियों का मार्मिक चित्रण किया है। ऐसे लोगों को वे केवल 'नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं' तक ही नहीं कहते, उनकी क्षुधा को 'आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की' बतला देना चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने एक साधारण विरक्त साधु के वेष में रहते हुए भी लोकधर्म के महत्व की ओर सदा ध्यान दिया। उन्होंने उपयुक्त अनन्य भाव, आत्म-त्याग, समन्वय, मर्यादा-पालन जैसी विश्वजनीन प्रवृत्तियों की इतनी स्पष्ट और सुन्दर व्याख्या कर डाली कि वे साधारण से साधारण व्यक्तियों का भी ध्यान स्वभावतः आकृष्ट करने लगीं और उनके उदाहरण में रचा गया इनका 'मानस' अत्यन्त लोकप्रिय काव्य बन गया। इनकी रचनाओं को पढ़ने से विदित होता है कि उनमें आयी हुई प्रत्येक बात कवि की गहरी स्वानुभूति और सहृदयता पर आधारित है। उनमें कथनी और करनी का वैषम्य नहीं लक्षित होता

और उनके पीछे सर्वत्र एक सुलझा हुआ मस्तिष्क और सच्चा हृदय काम करता हुआ दीख पड़ता है। इस कवि ने 'सीयराममय जग' में अपने व्यक्तित्व को मग्न सा कर दिया है। यही कारण है कि इसकी 'स्वान्तः सुखाय' की गई कविता भी 'सब कर हित' करने योग्य हो हो गई है। गोस्वामी तुलसीदास का एक चरित्रवान मानव होना ही उनकी लोकप्रियता का प्रमुख रहस्य है और इस दृष्टि से पढ़ने पर ही हम उनकी रचनाओं के सदा अमर बने रहने की आशा भी कर सकते हैं।

हिन्दी का पद-साहित्य

हिन्दी साहित्य का इतिहास देखने से पता चलता है कि पद-रचना की परंपरा उसके आदि काल में ही प्रतिष्ठित हो गई थी। जिस समय हिन्दी भाषा का रूप अभी तक पूरा निखर भी नहीं पाया था और वह अभी अपनी अपभ्रंश की दशा में ही थी, उसमें पद्यों की रचना करने वाले बौद्ध सिद्धों ने अनेक चर्यागीतियों का निर्माण किया था जिन्हें चर्यापद भी कहा जाता है। ये चर्यापद, संस्कृत के वर्णवृत्तों में रचे गए न होकर मात्रिक वृत्तों में पाये जाते हैं जिनमें से भी यहाँ प्रधानतः पादाकुलक, पंझटिका, पद्धड़ी एवं चौपई छंद अपनाये गए दीखते हैं। इनकी पंक्तियाँ समतुकान्त रहा करती हैं जिनमें लय की ओर भी ध्यान दिया गया प्रतीत होता है। इसके साथ-साथ इनमें उस देशी संगीत की पूरी गेयता भी आ गई जान पड़ती है जिसे अपभ्रंश भाषा ने सीधे लोकजीवन से ग्रहण कर आत्मसात कर लिया था। इसके सिवाय हमें यहाँ पर यह भी देखने को मिलता है कि इन चर्यापदों के पहले राग-निर्देश कर दिया गया है। इनकी दूसरी पंक्तियों को साधारणतः 'ध्रु' अथवा 'ध्रुवक' ठहराया गया है तथा इनमें अंत तक कहीं न कहीं, इनके रचयिताओं का नाम भी ला दिया गया है। इस प्रकार हमें यहाँ पर प्रायः वे सारी बातें मिल जाती हैं जो मध्ययुगीन पदों की विशेषता समझी जा सकती हैं। संस्कृत साहित्य में 'पद' शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रस्तुत प्रयोग कहीं नहीं मिलता। वास्तव में, पद-रचना की परंपरा बहुत पुरानी जान पड़ती है और प्राचीन तमिल में 'पदम्' शब्द का प्रयोग तक प्रशंसात्मक रचनाओं के लिए किया गया मिलता है। बौद्ध सिद्धों का

आविर्भाव-काल ईसवी सन् की आठवीं से लेकर दसवीं शताब्दी तक माना जाता है जब से यह परंपरा मध्ययुग तक बराबर चलती आई। उस समय के पूर्वार्द्ध वाले भक्तिकालीन कवियों ने इसमें सबसे अधिक योगदान दिया जिसके फलस्वरूप एक विशाल पद-साहित्य प्रस्तुत हो गया। परंतु पीछे जब रीतिकाल आ गया और सवैया एवं घनाक्षरी का विशेष प्रचार होने लगा तो भारतेन्दु-यग तक आते-आते, इसकी प्रगति बहुत धीमी पड़ गई।

चर्यापदों के रचयिता सांप्रदायिक मनोवृत्ति के व्यक्ति हुआ करते थे और वे अधिकतर अपनी साधनाओं में ही लगे रहते थे। परंतु समय-समय पर, वे अपनी इन रचनाओं के आधार पर, प्रायः कुछ ऐसी बातें भी कह जाते थे जिनका सम्बंध मुख्यतः मत-प्रचार से रहता था। तदनुसार वे या तो इनके द्वारा अपनी तांत्रिक साधना का रहस्य बतलाने लगते हैं अथवा कभी-कभी वे अपनी अनुभूति की मस्ती में गाते समय, हमें धार्मिक उपदेश भी देने लग जाते हैं जिनके बहुत से उदाहरण हमें इन चर्यापदों की पंक्तियों में मिलते हैं। बौद्ध सिद्धों की इन रचनाओं का एक संग्रह जो नेपाल में उपलब्ध हुआ है उसे 'चर्याचर्य विनिश्चय' का नाम दिया गया मिलता है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इनकी रचना का प्रमुख उद्देश्य कदाचित् आचरण-सम्बंधी विधि-निषेधों का निर्णय करना तथा उसका दूसरों के लिए निर्देशन करना ही रहा होगा। उदाहरण के लिए इनमें आये हुए—

"साङ्कमत चडिले दाहिण नाम मा होही"
अथवा "अनुभव सहज मा भेलरे जोई"

जैसे अनेक वाक्यों द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इसके सिवाय इन चर्यागीतियों वा चर्यापदों की एक यह भी विशेषता है कि इनमें न केवल बहुत सी आध्यात्मिक तत्व एवं साधना की गूढ़ बातें कही गई रहती हैं, प्रत्युत वे बहुधा ऐसे रहस्य पूर्ण ढंग से कही गई

दीखती है जिससे स्वयं इनके रचयिताओं को भी इस बात का सन्देह रहता है कि सर्वसाधारण इन्हें भली भाँति कभी समझ पा भी सकते हैं वा नहीं। सिद्ध कुक्कुरीपा ने अपनी एक चर्यागीति में कहा भी है—

"अइसणि चर्या कुक्कुरीपाएं गाइउ,
कोड़ि मझें एकु हिअहिं समाइउ ।"

ऐसे आदिकालीन पद-रचयिताओं के अनन्तर समयानुसार नाथपंथी योगियों का आविर्भाव-काल आता है। इनकी भाषा अपभ्रंश की दशा वाली हिन्दी न होकर एक प्रकार की पुरानी हिन्दी है जिसके शब्दों एवं वाक्यों की बनावट में अभी तक पूरा निखार नहीं है। इन योगियों में से कुछ के नाम से जो पद संगृहीत मिलते हैं उनसे पता चलता है कि उनमें बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों से बहुत भिन्नता नहीं आ पायी है और उनकी रचना का भी प्रमुख उद्देश्य, वस्तुतः सांप्रदायिक मत-प्रचार ही प्रतीत होता है। चर्यापदों में जहाँ बौद्ध चर्याओं का महत्व प्रदर्शित किया गया है, वहाँ इनके पदों में नाथपंथी योग-साधना स्थान पाती है और यहाँ पर भी, सर्वसाधारण को लगभग वैसे ही उपदेश भी दिये गए हैं तथा कहीं-कहीं रहस्यमयी रचना-शैली के भी उदाहरण मिलते हैं। नाथपंथियों ने उन सिद्धों की शब्दावली तक भी ग्रहण कर ली है, किन्तु इन्होंने उसका प्रयोग प्रायः अपने ढंग से करने की चेष्टा की है। पदों में प्रयुक्त शब्दों की दृष्टि से भी इन दोनों प्रकार की रचनाओं में विशेष अन्तर नहीं दीखता और इनके पहले भी वैसा ही राग-निर्देश है तथा उसी प्रकार इनके रचयिताओं के नाम भी ला दिये गए दीख पड़ते है, केवल 'ध्रुवक' को 'टेर' वा 'टेक' कर दिया गया है। वास्तव में पद-रचना का यही आदर्श मूलतः मध्यकालीन संत कवियों द्वारा भी स्वीकृत हुआ और इसमें उनके यहाँ भी बहुत कम सुधार हुए।

परंतु आदिकाल के ही पद-कर्त्ताओं में हमें कतिपय ऐसे हिन्दी कवि भी मिलते हैं जिन्होंने अपनी इन रचनाओं में कुछ न कुछ नवीनता

ला दी। इस प्रकार, उन्होंने आगे आने वालों के लिए किंचित् भिन्न रचना-शैली का मार्ग प्रशस्त कर दिया। ऐसे लोगों में विशेषकर अमीर खुसरो एवं विद्यापति के नाम उल्लेखनीय हैं जिन दोनों का आविर्भाव-काल, आदि युग के लगभग अन्तिम दिनों में पड़ता है और जिन दोनों को हम हिन्दी में अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के लिए मूलस्रोत भी ठहरा सकते हैं। इन दोनों कवियों में से अमीर खुसरो की गणना प्रसिद्ध संगीतज्ञों में भी की जाती है और कहा जाता है कि उसने वहाँ भी नयी पद्धति चलायी थी। जहाँ तक हिन्दी भाषा में की गई पद-रचना का सम्बंध है इस कवि के उपलब्ध पदों को देखने से स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उनके निर्माण का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक न होकर संगीत-परक है और इसी कारण उनका उपदेश-दान से भी कोई सम्बंध नहीं है। खुसरो ने अपनी इन रचनाओं में से कुछ में अपने पीर की चर्चा अवश्य की है, किन्तु वहाँ पर भी शृंगारिक रंग ही चढ़ गया है। इनमें उसके आन्तरिक भावों की गीतात्मक अभिव्यंजना मात्र है जिसके लिए किसी उद्देश्य विशेष का रहना वैसा अनिवार्य नहीं है। इन पदों में हमें कदाचित् सर्व प्रथम, शृंगार रस के उदाहरण भी मिलते हैं जो आगे चलकर धार्मिक विषयों तक को भी प्रभावित कर देता है और खुसरो की यह संगीत परक रचना-पद्धति मध्ययुगीन गायकों द्वारा विशेष रूप से अपना ली जाती है।

विद्यापति के पदों में उतना संगीत का स्वर-माधुर्य नहीं, जितना काव्य का पद-लालित्य एवं भाव-सौन्दर्य है। इनकी रचना का प्रमुख विषय राधा और कृष्ण की यौवनोचित क्रीड़ाएं हैं जिसके लिए इनके सामने संस्कृत 'गीत गोविन्द' का आदर्श था। राधा एवं कृष्ण वैष्णव भक्तों की दृष्टि में, इष्टदेव भले ही हों वे यहाँ पर प्राकृत नायक एवं नायिका की भाँति आचरण करते पाये जाते हैं और उनकी विभिन्न केलियों द्वारा शृंगार-परक अनुभूतियों की अति सामान्य अभिव्यंजना

भी कर दी जाती है। विद्यापति ने कुछ पद शान्तरस-परक भावों की अभिव्यक्ति में भी लिखे हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम समझी जाती है। इसके सिवाय इनकी सभी पद-रचनाओं के लिए राग-निर्देश किया गया अथवा 'टेक' दिया गया भी नहीं कहा जाता। इनकी बहुत सी रचनाएँ तो ऐसी हैं जिन्हें हम शुद्ध पद न कहकर गीतिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण ही ठहरा सकते हैं, क्योंकि यहाँ पर काव्य सुलभ सौन्दर्य लाने के लिए जितनी चेष्टा की गई है, उतनी किसी संगीत-पद्धति को भी अपनाने के लिए नहीं हुई है। इनकी पंक्तियों में अधिक से अधिक लयमात्र ही आ सका है और उन अन्य बातों की ओर भी ध्यान दिया गया नहीं जान पड़ता जिनकी चर्चा हम अभी कर आए है। इस रचना-शैली का भी अनुकरण मध्ययुगीन भक्त कवियों द्वारा विशेष रूप से किया गया और इसमें उन्होंने प्रचुर साहित्य-निर्माण किया।

'गीति' नामक एक छंद भी है। आर्या के पूर्वार्द्ध का लक्षण, यदि दोनों भागों में उपलब्ध हो तो यति की शोभा से संपन्न उस छंद को 'गीति' कहा गया है। फिर, यदि आर्या के द्वितीय भाग में कथित लक्षण दोनों भागों में उपलब्ध हो तो उसे 'उपगीति' की संज्ञा प्रदान की गई है। और, यदि आर्या के दोनों भाग विपरीत क्रम से हों तथा आर्या की भाँति यति, अंशादि भेद से युक्त हों तो उसे 'उद्गीति' नाम से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार, यदि आर्या का प्रथमार्द्ध एक अधिक गुरु से समन्वित हो अर्थात् पूर्वार्द्ध में सात गण रख कर दो गुरुओं का निवेश किया जाय तथा उत्तरार्द्ध भी पूर्वार्द्ध की तरह हो तो उसे 'आर्यागीति' सूचित किया गया मिलता है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वर, ताल, वाद्य, वृत्ति, प्रवृत्ति तथा अभिनय आदि की विवेचन करते समय ध्रुवाओं से संपन्न गानों की चर्चा की है। ध्रुवा, गीति का एक विशेष प्रकार है जिसके पाँच भेद हैं— रंग-प्रवेश करते समय की 'प्रावेशिकी', रंग-निष्क्रमण करते समय की

'नैष्कामिकी' और रंगमंच पर अभिनय के बीच गायी जाने वाली आक्षेपिकी, आन्तरा तथा प्रासादिकी। ये काल-सूचक यवनिका के अभाव में परिचय का काम देती थीं। ये गीतियाँ प्रायः प्राकृत भाषा में होती थीं। संस्कृत में इनका प्रवेश परवर्ती कालीन है। संभवतः ये लोकगीतों से सीधे गृहीत हुई थीं। इनकी एक विशेषता वृन्द संगीत के साथ इनके गाये जाने में है। 'नाट्यशास्त्र' में भरत ने इस पर विस्तार पूर्वक विचार किया है।

मध्ययुग के भक्तिकाल वाले पूर्वार्द्ध में एक ओर जहाँ कबीर जैसे संत कवि बौद्ध सिद्धों तथा नाथ योगियों वाली पुरानी पदरचना-शैली को अपना रहे थे, वहाँ दूसरी ओर मियाँ तानसेन जैसे गायक अमीर खुसरो की संगीत-पद्धति को विशेष महत्व प्रदान कर रहे थे। इसी प्रकार, सूरदास आदि भक्त कवियों ने विद्यापति के पदों को अपने लिए आदर्श मान लिया था। संत कबीर के पहले कतिपय अन्य वैसे कवियों के हो चुकने की भी बात कही जाती है जिनमें से लगभग सभी के कुछ न कुछ पद मिलते हैं और इन सबके प्रथम आने वाले संत कवि का नाम 'जयदेव' दिया जाता है। इसलिए, यदि इस जयदेव कवि को प्रसिद्ध 'गीतगोविन्द-कार' से अभिन्न ठहराया जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा में पद-रचना करते समय, उसने भी बौद्ध सिद्धों की चर्यापद-शैली की ओर अवश्य ध्यान दिया होगा। इसके साथ ही, उसने अपनी संस्कृत-रचना के आदर्श को भी अक्षुण्ण रखा होगा और उसी के अनुकरण में उसके अनन्तर आने वाले संत कवि सधना, बेनी एवं नामदेव आदि ने भी अपने पद रचे होंगे। संत कबीर के इन पूर्ववर्ती कवियों की कुछ रचनाएँ सिखों के प्रसिद्ध 'आदि ग्रन्थ' में संगृहीत पायी जाती है, जहाँ स्वयं उनके तथा संत रैदास आदि एवं सिख गुरुओं के पद भी अच्छी संख्या में एकत्र किये गए हैं। इनमें तथा अन्यत्र संगृहीत ऐसे पदों में भी लगभग एक ही नियम का पालन प्रायः शब्दशः किया गया

जान पड़ता है। अन्तर केवल इतना ही है कि बहुत से मध्यकालीन संत कवियों के इन पदों पर जहाँ सगुण भक्ति का भी प्रभाव लक्षित होता है, वहाँ तुलसी साहब जैसे कुछ लोगों द्वारा संगीत-पद्धति को भी प्रश्रय दिया गया दीखता है।

मध्यकाल के पूर्वार्द्ध वाले भक्त कवियों में सूरदास जैसे अष्टछाप के कवि तथा प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास की पद-रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्योंकि इनमें न केवल काव्य-तत्व की ओर ही दृष्टि डाली गई प्रतीत होती है, प्रत्युत यहाँ पर कुछ कथात्मकता भी आ गई है। इनके रचयिता सूरदास आदि जहाँ इनके द्वारा अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तृत वर्णन करने लगते हैं, वहाँ गोस्वामी तुलसीदास उन्हें अपने भगवान राम के चरित-चित्रण का भी आधार बना लेते हैं। इस कारण इस काव्य-रूप की वहाँ पर अपनी मुक्तक वाली वह विशेषता नहीं रह जाती जो सामान्यतः उसकी पूर्वापर पद्य निरपेक्षता के रूप में देखी जा रही थी। जहाँ तक ऐसे कवियों द्वारा विनय-सम्बंधी पदों की रचना करने का सम्बंध है, वहाँ इस प्रकार की कमी नहीं आयी है, न ऐसा वहीं हो पाया है जहाँ इनसे प्रेमा-भाव के प्रकाशन का काम लिया गया है तथा अपने इष्टदेव के प्रति दाम्पत्य-भाव तक का सम्बंध जोड़ते हुए शान्त रस के साथ-साथ शृंगार रस का गठबन्धन करा दिया गया है। इस प्रकार के पदों की रचना करने वालों में भी मीराबाँई का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूरदास एवं तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने जहाँ अपने प्रभु के प्रति दैन्य प्रकाशन करके उसकी कृपा-दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा की है तथा संत कवि कबीर ने जहाँ अपने राम के समक्ष उसकी 'बहुरिया' बनकर अपनापन सिद्ध करने का यत्न किया है, वहाँ मीराबाँई अपने गिरधर लाल द्वारा स्वयं वरण कर ली गई पत्नी के रूप में आत्मोद्गार प्रकट करती हैं और उनके पदों में काव्य-तत्व एवं संगीतात्मकता का पूर्ण सामंजस्य भी आ जाता है।

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध वाले पद-रचयिताओं में कोई वैसे उत्कृष्ट एवं प्रसिद्ध कवि नहीं दीख पड़ते। इस समय के केवल संत कवि ही ऐसे हैं जो अपनी पूर्व प्रचलित परंपरा का पालन करते चले आते हैं तथा उन्हीं को इधर कुछ सफलता भी मिल सकी है। गायक पद-रचयिता अधिकतर अपनी संगीत-पद्धति की शास्त्रीयता की रक्षा तथा उसके विकास की ही ओर दत्तचित्त होते दीख पड़ते हैं और भक्त कवियों का ध्यान विशेषतः रीतिकालीन शैलियों की ओर आकृष्ट हो जाता है। दोनों ही दशाओं में पदों के रूप तथा उनके विषय तत्व में बहुत परिवर्तन आ जाता है और गायक जहाँ पूरा कलावंत होता जाता है, वहाँ भक्त अपने को निपुण काव्य-रचयिता प्रदर्शित करने के यत्न में पुराने आदर्शों का पूरा पालन नहीं कर पाता। यहाँ तक कि दोनों नये-नये माध्यम तक अपनाने लग जाते हैं। परंतु संत कवियों में से कम से कम रज्जब जी, सुन्दरदास, धरनीदास, जगजीवन, चरणदास एवं सहजोबाई आदि बहुत से ऐसे हैं जो अपने वातावरण द्वारा प्रभावित होते हुए भी, अपनी उसी रचना-पद्धति को स्वीकार करते दीख पड़ते हैं जो बहुत पहले से चली आई थी। भक्त नागरीदास एवं महाराज विश्वनाथ सिंह ने भी इस ओर अवश्य यत्न किये हैं, किन्तु उनका वैसा करना अपवाद स्वरूप ही कहा जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक पद-रचना के लिए उपयुक्त वातावरण नहीं रह गया था। इस कारण उनके द्वारा इसका पुनरुद्धार भी सफल न हो सका।

तब से इधर आज तक जो कुछ किया जा सका है उसके विशुद्ध पद-साहित्य की श्रीवृद्धि नहीं हो सकी है। संत कवियों की पद-रचनाओं में क्रमशः अधिकाधिक शिथिलता और नीरसता आती गई है तथा भक्त-कवियों ने अधिकतर इसका उपयोग ही छोड़ दिया है। इन्होंने तथा छायावादी युग के अन्य कवियों ने भी इसके स्थान पर ऐसे काव्य-रूपों को अपनाया है जिन्हें हम गीतों वा गीतिकाव्यों की ही कोटि में रख

सकते हैं। उन्हें वैसे पदों की संज्ञा नहीं दे सकते जो मध्यकाल के पूर्वार्द्ध वाले कवियों की ओर से हिन्दी के लिए अनमोल 'देन' समझे जाते हैं। विशुद्ध पदों की यह विशेषता रही है कि उनका विषय प्रमुखतः धार्मिक होता रहा है और उनकी रचना-शैली पर संगीत-पद्धति का प्रभाव भी रहता आया है। उनका रूप मुक्तक पद्यों जैसा किसी दूसरे से अनिबद्ध रहा करता था और वे प्रायः अपने रचयिताओं के आत्मोद्-गारों अथवा उनके किसी इष्टदेव के प्रति प्रकट किये गए स्तुति-परक भावों का माध्यम बन जाते थे। उनमें न तो गीतों सा स्वर-माधुर्य के प्रति एकांगी आग्रह लक्षित होता है, न वैसा संगीत की शास्त्रीयता का अक्षरशः अनुसरण ही दीख पड़ता है। उनमें गीतकाव्यों सा भाव-सौन्दर्य के लिए किया गया सजग प्रयास भी नहीं पाया जाता, न वैसे यत्न ही किये गए रहते हैं जिनका उद्देश्य प्रधानतः पद-लालित्य का समावेश करना है। पदों को हम इसी कारण, गीतों एवं गीति काव्यों के मूल तत्वों में स्वभावतः सामंजस्य ला देने वाली किसी स्वतंत्र पद्य-रचना अथवा पद्य-शैली के रूप में ही स्वीकार कर सकते हैं। उन्हें इनमें से किसी एक में सम्मिलित कर लेना उनकी उन विशेषताओं का महत्व कम कर दे सकता है जिनके कारण, किसी समय वे अत्यन्त लोकप्रिय बन गए थे।

भारतीय प्रेमाख्यानों की प्रवृत्तियाँ

प्रेमाख्यानों की परंपरा बहुत पुरानी है और ये अपने बीज रूप में, प्राचीन वैदिक साहित्य तक के अंतर्गत पाये जाते हैं। ऋग्वेदीय संहिता के कई सूक्त जिनमें संवादों के प्रयोग आते हैं और जिनमें प्रेम-भाव की भी चर्चा है, इन प्रेमाख्यानों की कोटि में रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए इस संहिता के ९५ वें सूक्त में जो उर्वशी एवं पुरुरवस् का प्रेमालाप आया है अथवा उसके ही १० वें सूक्त में जो यम एवं यमी का संवाद मिलता है, वे दोनों इस प्रकार की रचनाओं के प्रारंभिक रूप की ओर संकेत करते जान पड़ते हैं। उर्वशी एवं पुरुरवस् के इस कथोपकथन को बहुत से विद्वानों ने क्रमशः उषा एवं सूर्य के पारस्परिक सम्बंध के अर्थ में भी समझाने की चेष्टा की है।

परंतु इस प्रसंग के किसी न किसी वृहद् रूप के फिर 'शतपथ ब्राह्मण' तथा 'कृष्ण यजुर्वेद' के 'काठक' में भी आ जाने से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके सिवाय महाभारत एवं पौराणिक साहित्य के रचना-काल तक जब वही उर्वशी पूरी अप्सरा की कोटि तक पहुँच जाती है तथा पुरुरवस् का भी रूप एक राजपुरुष बनकर निखर आता है तो उन लोगों के प्रणय-रहस्य को भली भाँति समझ लेने में विलंब नहीं लगता। हरिवंश, विष्णु पुराण, ब्रह्मपुराण, वायुपुराण तथा वामनपुराण तक तो पुरुरवस् एक प्रसिद्ध क्षत्रिय वंश के पूर्व पुरुष का भी रूप धारण कर लेते हैं। फिर भी यम एवं यमी के संवाद को इस प्रकार विकास पाने का कभी अवसर नहीं आता, जिसका कारण यह हो सकता है कि उसमें बहन यमी की ओर से अपने भाई यम के प्रति यौन-सम्बंध का प्रस्ताव

है जो सुसंस्कृत आर्यों की सामाजिक पद्धति के प्रतिकूल जाता दीख पड़ता है।

महाभारत एवं पौराणिक साहित्य में ऐसे भी अनेक प्रेमाख्यान आते हैं जिनका कोई पता प्राचीन वैदिक साहित्य में नहीं चलता। ये सर्वथा नवीन जान पड़ते हैं और इस प्रकार के साहित्य को यदि विविध आख्यानों का भांडार भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। महाभारत के आदिपर्व में दुष्यन्त एवं शकुन्तला का प्रेमाख्यान आता है और उसके वनपर्व में नल एवं दमयन्ती की कथा आती है तथा इन दोनों की भी चर्चा पीछे विभिन्न पुराणों में की गई पायी जाती है। इसी प्रकार अर्जुन और उलूपी, अर्जुन और उर्वशी तथा अनिरुद्ध एवं उषा आदि से सम्बद्ध अनेक प्रेमाख्यान भी उनमें से कई रचनाओं में उपलब्ध हैं। इन्हें न केवल एक से अधिक बार दुहराया गया है, अपितु इनके आधार पर पीछे बहुत सी सुन्दर काव्य-कृतियों की भी सृष्टि की गई है। उदाहरण के लिए दुष्यन्त एवं शकुन्तला तथा पुरुरवस् एवं उर्वशी के प्रेमाख्यानों का आश्रय ग्रहण कर महाकवि कालिदास ने अपने दो अमर नाटकों की रचना की है तथा नल एवं दमयन्ती की कथा के आधार पर महाकवि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य नैषधचरित का निर्माण किया है। कहना न होगा कि ऐसे कवियों ने मूल कथावस्तु को अपने काव्य-कौशल द्वारा कलात्मक विस्तार दे दिया है और उपयुक्त नूतन घटनाओं के विधान, विभिन्न पात्रों के सफल चित्रण तथा वातावरणादि के सूक्ष्म अंकन द्वारा ये कृतियाँ वस्तुतः सजीव बन बैठी हैं। ऐसे प्रेमाख्यानों के क्रमिक विकास का इतिहास अत्यन्त रोचक है और इसका अध्ययन हमें अपनी संस्कृति के समझने में भी सहायक हो सकता है।

प्रेमाख्यानों का विचित्र साम्य

इस प्रकार के वैदिक, पौराणिक अथवा काव्यात्मक आख्यानों की कई बातों में हमें एक विचित्र साम्य दीख पड़ता है। सर्वप्रथम इनके

प्रेमी एवं प्रेमपात्रों में से या तो दोनों ही किन्हीं राज-परिवारों के सदस्य हुआ करते हैं अथवा इनमें से एक अर्थात् कम से कम प्रेमी का सम्बंध किसी ऐसे परिवार से अवश्य रहता है जो निम्न वर्ग का है। इसके अपवाद प्रायः वहीं मिला करते हैं, जहाँ प्रेम पहले किसी नारी हृदय में अंकुरित होता है। उदाहरण के लिए उर्वशी एक अप्सरा है जो अर्जुन के प्रति पहले आकृष्ट होती है और हिडिंबा एक राक्षसी है जो भीम को चाहने लगती है। इस दूसरी दशा में एक यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ प्रेम-भाव की परिणति का वैवाहिक सम्बंध में भी हो जाना निश्चित नहीं रहता। प्रेमारंभ साधारणतः प्रत्यक्ष भेंट, स्वप्न-दर्शन अथवा गुण-श्रवण से भी हो जाता है और इसके विकास में प्रायः सखी, सखा पक्षियों एवं दैवी शक्तियों तक से सहायता ली जाती है। इसके उलट फेर में कभी-कभी आकस्मिक घटनाओं का भी पूरा हाथ रहा करता है।

इसी प्रकार प्रेमी एवं प्रेमिक के वैवाहिक सम्बंध का रूप अधिकतर गांधर्व का रहता है और इसके पहले बहुधा स्वयंवरों की भी रचना कर दी जाती है। परंतु ऐसे प्रेमाख्यानों में बहुधा ऐसे अवसर भी देखे जाते हैं, जहाँ प्रेमी को प्रेमिकाओं के लिए भीषण युद्ध तक करना पड़ता है। इसके सिवाय ऐसे प्रसंगों का अंत कभी-कभी इस रूप में भी होता है कि इन सुन्दरियों का अनेक विरोधियों के बीच में हरण भी करना पड़ता है। फिर भी जहाँ तक सामाजिक वा परंपरागत सम्बंधों का प्रश्न है, अपनी मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखने की भी भरपूर चेष्टा की जाती है। इस प्रकार के भारतीय प्रेमाख्यानों के उदाहरण हमें वैदिक साहित्य से लेकर प्रान्तीय भाषाओं के मध्यकालीन साहित्यों तक में बराबर मिला करते हैं और उनमें प्रमुख अन्तर केवल कथावस्तु की सरलता से उसकी सजावट की ओर उत्तरोत्तर विकास होते जाने में ही लक्षित होता है।

प्रेमाख्यानों का क्षेत्र

लेकिन हमारे यहाँ उपलब्ध प्रेमाख्यानों का क्षेत्र केवल यहीं तक सीमित नहीं है। बौद्धों के पालि साहित्य एवं जैनियों की प्राकृत तथा अपभ्रंश कथाओं के अंतर्गत बहुत से प्रेमाख्यान मिलते हैं जो इनसे कई बातों में भिन्न प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के प्रेमाख्यान अधिकतर लोकगाथाओं के स्रोतों से आये हैं और तदनुसार उनमें अधिक सरलता एवं निर्व्याजता भी पायी जाती है। उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि उनकी कथावस्तु का सम्बंध विशेषतः राज-परिवारों से ही हो। उनके पात्र बहुधा वैश्यों वा शूद्रादि जाति के लोगों में से चुने गए रहते हैं और उनमें आये हुए राजाओं को भी किसी साधारण वर्ग की स्त्री के प्रति अपना प्रेम-प्रदर्शन करते कोई संकोच नहीं होता। उदाहरण के लिए बौद्धों के कट्ठहारि जातक का राजा ब्रह्मदत्त बन में गा-गाकर लकड़ी चुनने वाली लड़की पर आसक्त हो जाता है और इसी प्रकार उन्हीं के 'मणिचोर जातक' वाला वाराणसी नरेश सुजाता नाम की एक स्त्री पर आसक्त हो उसके पति पर मणि की चोरी का अपराध लगाता है तथा उसका सिर तक कटवा लेना चाहता है, किन्तु उस साध्वी की प्रार्थना पर वह इन्द्र द्वारा स्वयं मार दिया जाता है।

'कट्ठहारि जातक' वाले प्रेमाख्यानों में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसका राजा ब्रह्मदत्त भी अपनी प्रेयसी लकड़हारिन के गर्भ से उत्पन्न पुत्र को लगभग उसी प्रकार अस्वीकार करता है जिस प्रकार शकुन्तला के गर्भ से उत्पन्न बालक को अपनाने से राजा दुष्यन्त आना-कानी करते हैं और वहीं की भाँति यहाँ भी एक अँगूठी दिखलाकर स्मरण दिलाने की चेष्टा की जाती है तथा अंत में सफलता मिलती है।

जैनियों की प्राकृत गाथाबद्ध रचनाओं तथा उनकी अपभ्रंश धर्म-कथाओं में भी हमें अनेक प्रेमाख्यान मिलते हैं। इनमें लीलावती कथा प्रसिद्ध है जिसमें प्रतिष्ठान एवं सिंहल के क्रमशः राजकुमार एवं राज-

कुमारी के प्रेम एवं विवाहादि का वर्णन आता है। इस कथा के अंतर्गत मनुष्य योनि के अतिरिक्त देवयोनि के भी पात्र भाग लेते दीख पड़ते हैं और इसका रूप दिव्य मानवी बन जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश की प्रेमकथा 'पउमसिरी चरिउ' के रचयिता ने उसमें प्रेमी तथा प्रेमिका को उनके पुनर्जन्मों के ही अनन्तर सफल बनाया है।

इन प्रेमाख्यानों में जैन धर्म में विहित साधनाओं के महत्व एवं कर्मवाद के निश्चित प्रभावों पर भी विशेष बल दिया गया मिलता है। इनमें से प्रत्येक के अंतर्गत एक प्रधान कथा में अनेक उपकथाएँ क्रमशः गुंफित होती चली जाती है और अंत में निष्कर्ष निकल आता है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक कथावस्तु जहाँ अपने सीधे-सादे रूप में रहती है लोकगाथा में गिनी जाती है, किन्तु जैनियों के यहाँ उनकी धर्म-कथा का आधार बनकर वही एक विचित्र रूप धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए सदयवत्स सावलिंगा की जो प्रेमकथा राजस्थानी भाषा में मिलती है वह एक शुद्ध प्रेमाख्यान के रूप में प्रचलित है, किन्तु उसी का गुजराती रूपान्तर जैन रचयिताओं के हाथ में पड़कर वृहदाकार धारण कर लेता है और श्रावक धर्म के उपदेश का साधन भी बन जाता है।

इसी प्रकार एक दूसरे ढंग का उदाहरण हमें तमिल साहित्य में मलता है, जहाँ जैन कवि इलंगो द्वारा निर्मित 'शिलप्पधिकारम्' में कण्णकी एवं कोवलन की कथा अपने पूर्वार्द्ध में एक सुन्दर लोकगाथा के रूप में चलती है, किन्तु अपने मणिमेखलै वाले उत्तरार्द्ध रूप में शाह-नार कवि के हाथों में पड़ कर बौद्धधर्म के प्रचार का साधन बन जाती है और उसमें वह सरलता नहीं रह पाती।

लोकगाथाएँ जहाँ कहीं भी अपने विशुद्ध प्रारंभिक रूपों में पायी जाती हैं, अत्यन्त मार्मिक और मनोहर कही जा सकती हैं। राजस्थान गुजरात, पंजाब, कश्मीर तथा अन्य कई प्रान्तों की भाषाओं में ऐसी रच-

नाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। राजस्थानी का 'ढोला मारूरा दूहा' नामक प्रेमाख्यान एक ऐसी प्रेमगाथा के उदाहरण में दिया जा सकता है। इसके प्रेमी एवं प्रेमिका के निश्छल उद्‌गार, उनका निर्विकार भोलापन तथा उनकी आस्था और उत्साह से भरे सरल प्रयत्न हमें अपनी ओर बरबस खींच लेते हैं। हम उनकी जीवन यात्रा में उनके साथ चलने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं और उनकी हल्की से हल्की चेष्टा भी हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहती।

'ढोला मारूरा दूहा' पर अपभ्रंश एवं चारणकाल का प्रभाव स्पष्ट है और यह अपने ढंग की अद्वितीय प्रेमगाथा है। ससि व पूणो, हीर व राँझा, मैनासत, माधवानल कामकन्दला आदि भी प्रायः इसी वर्ग में आती हैं और ये भी अपने अपने क्षेत्रों में उसी प्रकार लोकप्रिय हैं। माधवानल कामकन्दला की प्रेमगाथा के तो अनेक रूप प्रचलित हैं और उसमें कई आवश्यक परिवर्तन भी हो चुके हैं। किन्तु उसकी मूल कथावस्तु को पहचान पाने में विशेष विलंब नहीं लगता और यही बात अन्य अनेक लोकगाथाओं में भी चरितार्थ की जा सकती है। इन लोकगाथा-परक प्रेमाख्यानों में न तो पात्रों का बाहुल्य रहता है, न इसकी विविध घटनाओं में ही कोई जटिलता आ पाती है। इनके कथानक का क्रमिक विकास आप से आप स्वाभाविक ढंग से होता चला जाता है और इनके बीच वाले वर्णन भी अधिक बाधक नहीं होते।

लोकगाथा का प्रभाव

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो बहुत से साहित्यिक प्रेमाख्यानों को भी हम किसी न किसी लोकगाथा से ही प्रभावित पायेंगे। साहित्यिक प्रेमाख्यानों में से जिनकी कथावस्तु काल्पनिक है उनका साँचा इन लोकगाथाओं जैसा निर्मित रहा करता है जो पौराणिक है। उनमें भी सजीवता लाने के लिए हमें इन प्रचलित प्रेमकहानियों का ही रंग भरना पड़ता है। यहाँ तक कि जो प्रेमाख्यान ऐतिहासिक घटना-चक्रों

पर आश्रित हैं और जिनके पात्र कभी जीवित रह चुके हैं, उन पर भी इनके रोमांस की पालिश चढ़ानी ही पड़ जाती है।

बहुत से ऐतिहासिक पात्रों पर इन आख्यानों का रंग इतना गाढ़ा चढ़ जाता है कि वे वास्तविक व्यक्तियों को अपदस्थ से कर देते हैं और सर्वसाधारण के मानस पटल पर उनकी छाप सदा के लिए अमिट बन जाती है। उदाहरण के लिए पद्मिनी के प्रेमाख्यान में हमें जिस अला-उद्दीन के दर्शन होते हैं उसका पता इतिहासकारों की रचनाओं में नहीं चलता। उनमें केवल थोड़े ही संकेत भर मिलते हैं जिनकी प्रामाणिकता के विषय में अभी आज तक विवाद है। पृथ्वीराज एवं संयोगिता की कहानी जिस रूप में गढ़ी जा चुकी है उसका पाना किसी भी इतिहास ग्रन्थ में दुर्लभ है, किन्तु वही रूप हमारे लिए अधिक सजीव है।

प्रेमाख्यानों का एक रूप हमें वीरगाथाकाल की प्रेमकथाओं में भी मिलता है। इसमें कोई राजपुरुष अथवा बादशाह किसी सुन्दरी का वर्णन सुन कर उसकी ओर आकृष्ट होता है और उसे पाने के लिए अनेक यत्न करने लग जाता है। उसके यहाँ दूत भेजना, प्रलोभनों का साधन उपस्थित करना तथा उसके पति एवं पिता को धमकाना आरंभ हो जाता है। इसके लिए अनेक राजनीतिक दाँव-पेंच खेले जाते हैं, धोखेबाज़ी की जाती है और बहुत से भीषण युद्ध भी किये जाते हैं। ये यत्न प्रेमियों के लिए न केवल अपनी मान-मर्यादा के प्रश्न खड़े कर देते हैं, अपितु इन पर जीवन - मरण तक निर्भर हो जाता है और वे अपनी सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपना सभी कुछ बलिदान कर देते हैं।

किन्तु ऐसे प्रेमाख्यानों में सदा एकान्तिक प्रेम ही काम करता नहीं जान पड़ता, न इनका पूरा प्रभाव सदा सभी प्रेमपात्रियों पर एक समान लक्षित हुआ करता है। ऐसे प्रसंगों में शुद्ध प्रेम का स्थान अधिकतर कामुकता ले लिया करती है और प्रेमाख्यान का रूप केवल गौण बन कर ही रह जाता है। मुस्लिम शासकों से सम्बद्ध अथवा

बहुत से राजपूत राजाओं पर आश्रित प्रेमाख्यानों के विषय में यह बात पूरे तौर से लागू होती है।

नवीन पद्धति का सूत्रपात्र

सूफ़ियों के भारत में आकर अपना मत प्रचार करने लगने पर एक किंचित् नवीन प्रेमाख्यान-पद्धति का सूत्रपात्र हुआ। सूफ़ी लोग प्रेम की पीर को प्रश्रय देते थे और वे इश्क़ मज़ाजी में भी इश्क़ हक़ीकी का बीज पाया करते थे। इसलिए उन्होंने भारतीय प्रेमाख्यान की प्रचलित परंपराओं का सूत्र पकड़ कर उसे अपने 'मज़हबी नुक्ते नज़र' के अनुसार मोड़ने के यत्न किये। उन्होंने बहुत ऐसे प्रेमाख्यानों को अपनाना आरंभ किया जो अत्यन्त लोकप्रिय थे और उन्हें उपमिति कथाओं के रूप दे दिए। उन्होंने कई एक ऐतिहासिक एवं अर्द्ध पौराणिक प्रेम-कथाओं को भी लिया और उन पर अपना रंग चढ़ाया।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने प्रेमकथाओं की कथावस्तु का विकास अपनी प्रेमसाधना-पद्धति के समानान्तर करना चाहा। यह एक ऐसा यत्न था जिसमें पूरी सफलता का पाना बहुत कठिन था और इसीलिए वे सभी पूर्णतः कृतकार्य भी नहीं हो सके। फिर भी विरह-यातना, कष्ट-सहन, तथा सौन्दर्यादि के अत्युक्तिपूर्ण वर्णनों द्वारा उन्होंने प्रेम-साहित्य के एक नवीन अंग की पूर्ति कर दी और अपनी इस्लामी विचारधारा के मनोरम चित्रों का अंकन कर उन्हें भारतीय साहित्य में एक गौरवपूर्ण स्थान दिला दिया। उनका अल्लाह को प्रियतमा मान कर चलना, विरह को प्रेम से भी अधिक महत्व देना तथा एक रचना-पद्धति विशेष को अपनाकर उसे अधिकाधिक प्रचलित करने में यत्नशील होना, भारतीय न होने पर भी आज स्थायी रूप ग्रहण कर चुका है।

आदर्श जीवन और संकल्प शक्ति

किसी साधारण से जीवन एवं आदर्श जीवन में एक महान अन्तर यह है कि पहली दशा में जहाँ हमारी इन्द्रियाँ अपना चेतन-व्यापार पूर्व संस्कारों द्वारा बँधी-बँधाई शृंखला में आप से आप करती रहा करती हैं, वहाँ दूसरी के भी सम्बंध में हम ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ पर हमारा काम केवल पिटे-पिटाये मार्गों के ही अपनाने मात्र से नहीं चला करता, न हमें वैसी सुविधाओं का ही सहारा मिला करता है। इसमें नये-नये मोड़ लेने पड़ते हैं, इसका क्षेत्र बहुत कुछ अपरिचित-सा रहता है और यहाँ कभी-कभी दुर्गमता तक का सामना करना पड़ता है।

इसके सिवाय एक साधारण से जीवन में हमें अपने सामने किसी भावी निर्माण का कोई चित्र भी रख लेना आवश्यक नहीं होता, जहाँ आदर्श जीवन का एक प्रारूप हमारे समक्ष सदा उपस्थित रहा करता है। जब इसके लिए हमारी प्रवृत्ति सर्वप्रथम जगती है हम इसके अंगों पर ध्यानपूर्वक विचार कर लिये रहते हैं और तदनुसार हमारे आगे अपनी ही भावनाओं के आधार पर निर्मित किसी सुन्दर एवं सुखद भविष्य की रूप-रेखा भी प्रस्तुत हो गई रहती है।

परंतु जो बातें हमारे भीतर कोरी कल्पनाओं के रूप में उठा करती हैं उनके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे ठीक अपने वास्तविक रूपों में ही सदा बाहर भी प्रकट हों और हम उनसे पूर्व संभावित मात्रा में ही बराबर लाभ भी उठावें। कई बार ऐसा भी होता है कि हम पीछे

उनके केवल कुछ ही अंशों को—और वह भी निरे अधूरे रूप में ही—प्रत्यक्ष कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि हम अपनी भावनाओं के ताने-बाने बुनते समय कभी-कभी उनकी मनोमोहकता में भी आ जाते हैं।

यदि हम कोई सुन्दर से सुन्दर योजना तैयार कर लें, किन्तु उसे सार्थक भी न कर सकें तो यही कहा जा सकता है कि हम केवल अपने मनोराज्य में विचरण करने वाले व्यक्ति हैं अथवा केवल ख्याली पुलाव पकाना मात्र ही जानते हैं। जिस उद्देश्य को लेकर हम चले थे उसका रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया, हम बहक गए और हमारे हाथ से वह मूल तत्व निकल गया जिसकी उपलब्धि के लिए पूरी तैयारी की गई थी। आदर्श, यदि वास्तविक के रूप में उतारा न जा सका तो वह किस काम का हो सकता है।

हमारे लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि हम किसी आदर्श जीवन के अपनाने की इच्छा करें, न यह कि हम उसकी एक पूरी योजना बना कर अपने सामने रख लें तथा उसे स्मरण करके आनन्दित होते रहें। यदि हमें उस जीवन को सचमुच साकार बनाना है तो हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि हम अपनी उस चाह को कभी मन्द न पड़ने दें। अपनी उस भूख में कमी आने देना अथवा उसके लिए जाग्रत उत्साह को ठंडा पड़ने देना—न केवल अपने प्रारंभिक उद्देश्य के महत्व को कम करता है, अपितु उसे नष्ट एवं निर्मूल तक कर देने के समान है जो कदाचित् किसी को भी कभी अभीष्ट नहीं हो सकता।

इसके विपरीत यदि हमारी उस इच्छा में दृढ़ता बनी रहती है तो वह बद्धमूल हो जाती है जिस कारण एक ओर जहाँ हमारे उद्देश्य का संतुलन नहीं बिगड़ने पाता, वहाँ दूसरी ओर हमारे सामने प्रस्तुत हो गए आदर्श वाले चित्र का कभी रंग भी फीका नहीं पड़ने पाता। फिर

बराबर सजगता बनी रहती है, उत्साह में कभी शिथिलता नहीं आने पाती और अपने लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर प्रगति भी होती चली जाती है। हमारी 'चाह' वा 'इच्छा' के इस दृढ़ बन गए रूप को ही बहुधा 'संकल्प' द्वारा भी अभिहित किया जाता है। संकल्प का महत्व छान्दोग्य उपनिषद् और बौद्ध दर्शन के आर्य अष्टांगिक मार्ग में बतलाया गया है। बुद्धि-योग के सतत अभ्यास द्वारा सत्यान्वेषण करने का संकल्प सुदृढ़ हो जाता है। पतंजलि ने भी इसी के आधार पर विभूतियों का रहस्योद्घाटन कराया है।

आदर्श जीवन के लिए संकल्प का एक बहुत बड़ा महत्व इस बात में है कि इसके कारण अपने मार्ग का कोई भी अंग अस्पष्ट नहीं रहने पाता। संकल्प कर लेने पर दुविधा अथवा संशय स्थान नहीं रह जाता, न किसी भ्रम-जाल में फँस जाने का कभी भय ही हुआ करता है। संकल्प की प्रबल शक्ति के सामने किसी प्रकार की बाधा भी नहीं ठहर पाती।

आदर्श जीवन का संकल्प कर चुकने वाले महापुरुषों ने अपने लक्ष्य से कभी मुँह नहीं मोड़ा, न अपनी सिद्धि की प्राप्त के पहले अपने यत्नों से विरत होने का स्वप्न तक देखा। दृढ़ संकल्प की शक्ति उनके भीतर उस 'पावर हाउस' वाले यंत्र का काम करती है जो किसी एक स्थल पर चालू रहते हुए भी, अपने संलग्न सभी कार्यों को पूरा प्रेरणा प्रदान करता रहता है। इस प्रकार एक ही साथ बड़ी से बड़ी योजना तक को सफल बनाने का काम कर देता है।

प्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट का कहना था कि संकल्प करके उस पर दृढ़ बने रह जाने वाले के लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं। उसने स्वयं कई बार अपनी सेनाओं से, केवल दृढ़ संकल्प के ही बल पर दुर्गम से दुर्गम घाटियों तक को पार कराया। आदर्श जीवन की

यात्रा भी उस वीर पुरुष के अभियानों जैसा ही सफल बनायी जा सकती है—केवल संकल्प शक्ति की प्रेरणा मिलनी चाहिए।

गाँधी जी की 'आत्मकथा' से पता चलता है कि एक बार अपने हृदय में आदर्श जीवन की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठने पर उन्होंने उसके भव्य चित्र को अपनी आँखों से कभी ओझल नहीं होने दिया। अपनी सदिच्छा को उन्होंने सदा बनी रहने दिया और अपने दैनिक जीवन की छोटी से छोटी बातों में भी उन्होंने अपने आदर्श के निभाने का वैसी ही दृढ़ता के साथ यत्न किया जिसे वे कभी बड़े से बड़े अवसरों पर तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों को सुलझाते समय ही प्रदर्शित कर सकते थे।

जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में रह कर किसी प्राकृतिक नियम का अनुसन्धान करता है और वह अपने द्वारा किये गए प्रत्येक प्रयोग के अवसरों पर सदा अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि रखा करता है, उसी प्रकार गाँधी जी ने भी अपने सत्य-परक नियम की खोज करते समय किया। उन्हें ऐसा करते समय अपने जीवन में अनेक प्रकार के विघ्नों का सामना करना पड़ा, किन्तु अपने संकल्प के ही कारण वे कभी विचलित नहीं हुए।

उनके आदर्श जीवन की एक यह भी विशेषता थी कि वह आज की बीसवीं शताब्दी के साधारण जीवन के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता था और जिस समाज में उन्हें इसका प्रयोग करना पड़ता था, उससे उन्हें कोई प्रोत्साहन भी उपलब्ध नहीं था। परंतु इन बातों के कारण उन्हें कभी विचलित होते नहीं देखा गया और अपने दृढ़ संकल्प के ही कारण उन्होंने इसकी बहुत कुछ सार्थकता भी सिद्ध कर दी।

आदर्श जीवन के लिए दृढ़ संकल्प कर लेने पर किसी व्यक्ति में उसके प्रति पूरी लगन हो जाती है और उस पर उसकी धुन सवार हो

जाती है। वास्तव में किसी में ऐसी मनोवृत्ति का आ जाना मात्र भी उसकी सफलता में पूरी सहायता पहुँचा देता है। किसी एक बात पर अपने मन को केन्द्रित कर उसे दूसरी ओर से हटा लेना उसे कई गुना बल प्रदान करने के बराबर होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी विषय पर अपना मत स्थिर कर लेता है और उसमें पूरी आस्था रखते हुए उसके प्रचार का पूरा व्रत भी स्वीकार कर लेता है तो उसे दूसरी बातें नहीं भातीं। वह केवल उसकी चर्चा करता है, उसी का स्पष्टीकरण करता फिरता है और उसी पर निरन्तर चिन्तन भी करता रहता है जिसका एक बहुत बड़ा परिणाम यह होता है कि जो अन्य व्यक्ति उससे इस बात में कभी सहमत नहीं रहा करते, उन्हें भी वह कुछ न कुछ प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

कभी-कभी तो यहाँ तक देखा जाता है कि उस व्यक्ति की केवल एकान्तनिष्ठा ही इसे उसका शिष्य तक बना देती है। परमहंस रामकृष्ण एवं नवयुवक विवेकानन्द के जीवनादर्शों में पहले महान अन्तर था। कहा तो यहाँ तक जाता है कि वह पश्चिमी आलोक द्वारा प्रभावित युवा पुरुष उस महात्मा का उपहास करने तक पर भी तुला रहा करता था। परंतु अंत में, एक बड़े कटु आलोचक को भी उस प्रायः अशिक्षित व्यक्ति के सामने अपने घुटने टेक देने पड़े और वह उसका एक सन्देशवाहक बन गया।

कबीरादि संतों का कहना है कि इस दृढ़ संकल्प का रूप केवल बाहरी बातों तक ही सीमित नहीं रहा करता। यह केवल कहने-सुनने अथवा चर्चा भी कर देने की बात नहीं, न वैसी दशा में इसका कोई प्रभाव ही पड़ सकता है। संतों ने अपने आदर्श आध्यात्मिक जीवन की व्याख्या करते समय बतलाया है कि उसकी अनुभूति में कभी अधूरापन नहीं रह सकता। जब कभी उसकी धारणा बनती है, उस पर बारबार चिन्तन किया जाता है और उसे अत्यन्त व्यापक रूप तक दे

दिया जाता है। उसे अपने जीवन के प्रत्येक पक्ष में घटाने की चेष्टा की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह क्रमशः हमारे पूरे जीवन में उतर आता है।

इस प्रकार संतों का संकल्प केवल इसी रूप में स्वीकृत कर लिया जाता है। वह केवल किसी मनोवृत्ति वा दृष्टिकोण मात्र तक ही सीमित न रह कर संपूर्ण जीवन का ही रूप ग्रहण कर लेता है। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि हमारे संकल्प की शक्ति केवल एक ही कोटि की नहीं हो सकती, न एक ही सामान्य मात्रा में वह सदा अपना प्रभाव ही डाल सकती है। इसीलिए 'संकल्प' शब्द के द्वारा पर्याप्त दृढ़ता का बोध होने पर भी, हमें कभी-कभी उसके पहले 'दृढ़' विशेषण भी जोड़ना पड़ता है।

आदर्श जीवन के लिए संकल्प-शक्ति कभी केवल साधारण अवसरों पर भी जागृत हो जाती है। कहते हैं कि स्वामी दयानन्द जिस समय एक साधारण से बालक थे वे अपने माता-पिता जैसे ही मूर्ति-पूजा में विश्वासपरायण थे। उन्हें अपने घर वाले बड़े लोगों की ही भाँति इस बात में आस्था रही कि धार्मिक जीवन के लिए इस प्रकार की उपासना को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। परंतु जिस समय वे अपने माता-पिता के आज्ञानुसार फाल्गुन की महाशिवरात्रि को जागरण कर रहे थे उन्होंने देखा कि जिस शिवलिंग को हम लोग परमेश्वर का प्रतीक मान कर उसका पूजन करते हैं, उस पर चढ़ाये गए अक्षत को खाने के लिए उस पर चूहे दौड़ लगा रहे हैं। इस प्रकार उसकी महत्ता किसी अन्य प्रस्तर खण्ड से अधिक नहीं रह जाती। उसी समय उन्हें वतुस्स्थिति का भान हो गया और उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। इसके परिणाम स्वरूप,उन्हें एक दिन यह संकल्प करना पड़ा कि मैं अपने धर्मवालों को इस प्रकार के अन्धविश्वासों से मुक्त कर दूँगा।

इसी प्रकार सिन्ध के प्रसिद्ध सूफ़ी शाह लतीफ़ के लिए भी प्रसिद्ध है कि वे पहले 'तसबीह' लेकर ज़िक्र करने अथवा माला लेकर ख़ुदा का नाम जपने में बहुत बड़ी आस्था रखते थे और इसी को कदाचित्, आदर्श जीवन के लिए सब कुछ माना भी करते थे। परंतु एक दिन जब वे किसी कुएँ के निकट बैठे अपनी माला फेर रहे थे उन्होंने वहाँ खड़ी दो युवती पनिहारिनों की बातें सुन कर ही अपनी माला फेंक दी। दोनों पनिहारिनें आपस में एक-दूसरी के साथ आत्मीयता का भाव रखती थीं और परस्पर गुप्त बातें भी किया करती थीं। तदनुसार एक ने दूसरी के पूछने पर कि तुम्हारी अपने पति के साथ कितनी बार भेंट हुई होगी, कहा—"अरी पगली क्या इसे भी कभी गिना जा सकता है?" और इस एक सीधे-सादे और निश्छल उद्‌गार की चोट शाह साहब के हृदय पर इतनी गहरी सिद्ध हुई कि उनके जीवन में परिवर्तन आ गया।

इस प्रकार हम देखते है कि संकल्प चाहे वह सारी बातों को सोच-विचार कर तथा उनके परिणामों का भली भाँति मूल्यांकन कर लेने पर किया गया हो चाहे वह अचानक किसी घटना विशेष के आधार पर हो गया हो, किसी व्यक्ति के पूरे जीवन में कायापलट लाने में समर्थ होता है। उसके कारण जीवन-प्रवाह में शीघ्र से शीघ्र परिवर्तन आ जाता है और उस व्यक्ति की यह प्रवृत्ति आदर्श जीवन की ओर उन्मुख रही हो तो इसमें सन्देह नहीं कि वह उस दशा को प्राप्त कर लेने में भी कभी असफल नहीं हो सकता।

संकल्प, वास्तव में आदर्श जीवन की यात्रा में हमारे पाथेय अथवा संबल का भी काम करता है, क्योंकि इसकी अनुपम शक्ति द्वारा संपन्न रहने पर फिर हमें आगे किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं हो पाता। संकल्प के अपने भीतर बने रहने पर हमें बराबर आत्मप्रत्यय की शक्ति

मिलती रहती है। हम अपने निश्चित मार्ग से कभी विपन्न नहीं हो पाते। अंत में उस उद्देश्य को सिद्ध करके ही छोड़ते हैं जिसे लक्ष्य बना कर हमने आगे बढ़ना आरंभ किया था और जो हमारे लिए पुरुषार्थ रूप भी था।

संकल्प की शक्ति का महत्व हमें अपने साधारण जीवन में भी कभी-कभी देखने में आती है। परंतु एक साधारण जीवन में वैसा व्यापक क्षेत्र नहीं रहता, न वैसी आवश्यकता ही पड़ा करती है। आदर्श जीवन एक ऐसी अवस्था है जब हमें बहुत सी अमूर्त धारणाओं को मूर्तत्व प्रदान करना रहता है और जिसमें ऐसे परिवर्तनों की गुंजाइश भी रहा करती है जो नितान्त नवीन हो। अतएव, आदर्श जीवन के लिए संकल्प शक्ति की कहीं अधिक आवश्यकता पड़ती है और इसी में उसका महत्व है।

गंगा-यमुना का धार्मिक महत्व

भारतवर्ष की सात पवित्र एवं प्रसिद्ध नदियों का नाम लेते समय गंगा और यमुना के नाम सर्वप्रथम आते हैं। इस सम्बंध में एक श्लोक भी प्रचलित है जिसमें इन सातों अर्थात् क्रमशः गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु एवं कावेरी को संबोधित करके कहा गया है कि वे उस जल में आकर सम्मिलित हो जायँ जिसे उस मंत्र का उच्चारण करने वाला अपने स्नान में उपयोग करने जा रहा है। इन सातों नदियों का आह्वान किया जाता है कि ये उस जल में प्रवेश करके उसे पवित्र बना दें जिससे स्नानार्थी का कल्याण हो सके। ने सातों नदियाँ किस समय से पवित्र मानी जाने लगीं इस बात का कोई स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। परंतु इनता असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि कम से कम गंगा एवं यमुना के नाम प्राचीन वैदिक साहित्य में भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'शतपथ ब्राह्मण' के अंतर्गत इस प्रकार की चर्चा आती है कि दौष्यन्ति भरत ने गंगा एवं यमुना इन दोनों पर विजय प्राप्त की थी और 'तैत्तिरीय आरण्यक' में तो यहाँ तक भी कहा गया मिलता है कि इन दोनों नदियों के बीच वाले प्रदेश के निवासी विशेष रूप से आदरणीय हैं।

गंगा एवं यमुना इन दोनों में से प्रथम को 'श्रीमद्भागवत पुराण' में द्युधुनि अथवा द्युनदी कहा गया भी मिलता है जिसका अभिप्राय यह है कि यह नदी स्वयं देवताओं की नदी है और इसी कारण, इसका एक नाम सुरसरित् वा सुरसरी भी प्रसिद्ध है। पौराणिक साहित्य का अध्ययन करने पर हमें यह भी पता चलता है कि गंगा हिमवान की पुत्री थी।

इस प्रकार उमा वा पार्वती की भगिनी भी कही जा सकती है। बाल्मीकि 'रामायण' के अनुसार गंगा को देवताओं ने अपने लिए इनके पिता से माँग लिया था। परंतु बंगला के कृत्तिवासी 'रामायण' द्वारा यह भी प्रकट होता है कि गंगा के देवताओं के साथ अपनी माता मेनका से आज्ञा लिये बिना चले जाने पर, उसे शाप हो गया कि "तू जाकर जल में परिणत हो जा" जिसके फलस्वरूप वह एक नदी बन कर प्रवाहित होने लगी और तब से देवताओं की नदी कहलाने लग गई। इस प्रकार गंगा नदी का प्रवाह-क्षेत्र पहले देवताओं के स्वर्ग तक ही परिमित रहा और वे लोग इसमें स्नानादि का लाभ उठा पाते थे। इसके भूतल पर आकर प्रवाहित होने के विषय में प्रसिद्ध राजा भगीरथ की कथा कही जाती है और इसके 'भागीरथी' नाम का समाधान भी किया जाता है। 'मार्कण्डेय पुराण' के ५६वें अध्याय में कहा गया है कि जगत्कारण नारायणके ध्रुवाधार नामक चरण से उद्भूत होकर त्रिपथगा गंगा सर्वप्रथम सोम में प्रविष्ट हुई, जहाँ से रवि रश्मि के संयोग से वह मेरु शिखर पर गिरी, जहाँ से उनकी चार धाराएँ प्रवाहित हुई जो धारा पूरब बही वह सीता, जो दक्षिण बही वह अलकनन्दा, जो उत्तर बही वह स्वरक्षु तथा जो पश्चिम बही वह सोमा नाम से प्रसिद्ध हुई।

पौराणिक साहित्य एवं 'रामायण' तथा 'महाभारत' के भी अनुसार गंगा नदी के स्वर्ग से भूतल पर अवतरित होने की कथा का आरंभ प्रायः इस प्रकार किया जाता है कि यह सर्वप्रथम, भगवान विष्णु के पुनीत चरणों में निवास करती थी, जहाँ से यह ब्रह्मा के कमण्डल में आ बसी और वहाँ से फिर शंकर भगवान की जटा में जाकर प्रवेश कर गई। परंतु उसके अनन्तर मर्त्यलोक में एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण इसे शिव के मस्तिष्क से भी निकल कर संयोगवश, नीचे आ जाना पड़ा। पृथ्वीतल के राजा सगर के साठ सहस्र पुत्र जब उसके अश्वमेध यज्ञ में छोड़े गए घोड़े को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते धरातल को खोद

कर पाताल पहुँच गए और उसे वहाँ तपस्या में लीन कपिल मुनि के निकट बँधा पाकर उन्हें उसकी चोरी का अपराधी समझा, तब वे उन्हें मारने के लिए दौड़े। परंतु वे उनके क्रुद्ध नेत्रों से निकलने वाली ज्वाला में दग्ध होकर भस्मीभूत बन गए तथा इस प्रकार उन्हें नरकगामी तक हो जाना पड़ा। फलतः सगर कुल के राजा भगीरथ ने धर्मराज के परामर्श द्वारा उन्हें तारने के लिए गंगा को भूतल पर लाने के उद्देश्य से घोर तप किया। उन्होंने अपने अनेक यत्नों के फलस्वरूप, किसी प्रकार शंकर भगवान को प्रसन्न किया और तब इसे उनसे प्राप्त करने में कृतकार्य हो सके। शंकर भगवान की जटा से निकल कर गंगा, राजा भगीरथ के पीछे चल निकली और इस प्रकार, भस्मीभूत सगर पुत्रों तक पहुँच कर इसने उनका उद्धार किया।

गंगा के मूलतः देव नदी होने तथा इसके राजा भगीरथ की तपस्या के अनन्तर स्वर्ग से भूतल पर आने की यह कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि क्यों इसे इतना धार्मिक महत्व प्रदान किया गया है तथा इसे क्यों आराध्य देवताओं में एक प्रमुख स्थान तक दिया जाता आया है। इसकी ऐसी स्वर्गीयता ने न केवल इसे परम पवित्र और पूज्य बना दिया है, प्रत्युत धार्मिक विश्वासों वाले व्यक्तियों की दृष्टि में इसे एक ऐसा अनुपम पद भी दे डाला है जिसकी सहायता से मनुष्य के चरम लक्ष्य वा परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। तदनुसार 'गंगा' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने वाले अनेक धार्मिक विद्वानों ने उसे, "गम्यते ब्रह्मपद मनया" अर्थात् इसके द्वारा ब्रह्मपद प्राप्त किया जा सकता है के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है तथा उसके स्मरण तक को भी फलदायक मान लिया है। ऐसे लोगों की दृढ़ धारणा है कि—

गंगा गंगेति यो ब्रूयात्, योजनाणां शतैः स्थितः।
सोऽपि मुच्येत पापेभ्यः, किमुगंगाभिषेकवान्॥

अर्थात् गंगा में स्नान करने वाले की कौन कहे, सैकड़ों योजन पर रहते हुए केवल 'गंगा', 'गंगा' मात्र कहने वाला भी सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इसलिए गंगा की इतनी महिमा कही गई है, इसकी स्तुति गायी गई है तथा इससे प्रार्थना तक भी की गई पायी जाती है।

यमुना के सम्बंध में लिखते समय कुछ विद्वानों ने इसके नाम का अर्थ 'जुड़वा' बतलाया है और उन्होंने अनुमान किया है कि इसके ऐसा नाम, इसके गंगा नदी के समानान्तर प्रवाहित होने के कारण पड़ गया होगा। परंतु कतिपय अन्य लोगों का कहना है कि यमुना वास्तव में, सूर्य की पुत्री है और प्रसिद्ध यमराज वा मृत्यु का राजा इसका अपना निजी भाई है। इस प्रकार की धारणा के लिए भी कई पौराणिक उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं और इस प्रकार इस नदी के भी देवतुल्य और आराध्य होने की कल्पना की जाती है। कार्त्तिक मास की यमद्वितीया के दिन यमुना में स्नान करने का माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है कि ऐसा करने वाले को कभी इस नदी के भाई यमराज के घर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ा करती और उसकी मुक्ति तक हो जाया करती है। परंतु यमुना की सबसे अधिक प्रसिद्धि एवं धार्मिक महत्व का कारण इसका श्रीकृष्णावतार की विविध लीलाओं से सम्बद्ध होना है। पुराणों के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण का जन्म यमुना नदी के तटवर्ती मथुरा नगर में हुआ था और इसी के तीर पर बसे गोकुल एवं वृन्दावन वाले क्षेत्रों में उन्होंने अपने बाल्यकाल का सुखमय जीवन व्यतीत किया था। इस नदी के किनारे उनका गोपियों के साथ रास रचाना, इसके भीतर स्नान करने वाली गोपियों के सम्बंध में चीर-हरण की लीला करना, इसमें रहने वाले कालिय का दमन करना तथा इसके तीर पर अनेक अन्य प्रकार के नृत्यों और खेलों में अपना समय देना उनके भक्तों के लिए चिरस्मरणीय हैं। इसके ही निकट वह सारा ब्रजमण्डल क्षेत्र भी आ जाता है जो उनकी सीमा के अंतर्गत रह कर अपने जीवन

के केवल अल्प समय तक का भी व्यतीत करना किसी धार्मिक व्यक्ति के लिए परम सौभाग्य की बात है।

गंगा एवं यमुना इन दोनों नदियों के तट पर अनेक ऐसे तीर्थ-स्थान वर्त्तमान है जिन्हें धार्मिक लोगों द्वारा बहुत बड़ा महत्व दिया जाता आया है तथा जिनके लिए यात्रा करते समय इन दोनों में स्नान करना भी किसी प्रकार कम श्रेयस्कर नहीं समझा जाता। गंगा हिमालय में अवस्थित गंगोत्री से निकल कर हरद्वार होती हुई आगे बढ़ती है और प्रयाग एवं काशी जैसे तीर्थस्थानों के निकट से प्रवाहित होती हुई अंत में गंगा सागर के पुण्यस्थल पर समुद्र में जा मिलती है। इसी प्रकार यमुना भी हिमालय के ही एक स्थल विशेष यमनोत्री से निकल कर प्रवाहित होती हुई उन मथुरा, वृन्दावन जैसे तीर्थों के निकट से बहती चली जाती हैं जो श्रीकृष्ण के लीलाक्षेत्र कहलाते हैं और अंत में, प्रयाग तक आकर गंगा नदी में मिल जाया करती है। इस प्रकार विभिन्न तीर्थ-स्थानों का इनके तीरों पर अवस्थित होना इनके धार्मिक महत्व की वृद्धि में सहायक बनता है और स्वयं उनका भी महत्व इनके कारण बढ़ जाता है। जो कोई तीर्थ-यात्री वहाँ जाते है उनके लिए इनमें स्नान करने का कार्यक्रम सर्वथा प्रमुख माना जाता है। इनके तीरों पर निवास करने तथा वहाँ रह कर अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में प्रवृत्त होने अथवा सत्संग करने की प्रवृत्ति बराबर देखी जाती आई है और इसके अनेक उदाहरण हमें न केवल हिन्दुओं के पुराणों, प्रत्युत बौद्धों की धार्मिक पुस्तकों तक में भी मिला करते हैं। श्रावस्ती के एक भिक्षु को हम प्रव्रजित होने के अनन्तर गंगा तीर पर निवास करते हुए पाते है, जिस कारण वह 'गंगातिरीयो भिक्खु' कहलाते हैं तथा 'दूत जातक' के अंतर्गत हम यह भी देखते है कि स्वयं बुद्ध ने भी अपने बोधिसत्व के समय, कभी काशी के एक ब्राह्मण के रूप में गंगा नदी के तट पर ही ध्यान किया था जिसका उल्लेख "गंगातीरस्मिंझायतो" द्वारा किया गया मिलता है।

गंगा एवं यमुना नदियों के धार्मिक महत्व का पता हमें कुछ अंशों तक योगियों द्वारा किये जाने वाले उस वर्णन से भी चलता है जिसके अनुसार ईड़ा एवं पिंगला नामों द्वारा अभिहित होने वाली दो शरीर स्थित नाड़ियों को क्रमशः गंगा एवं यमुना की संज्ञा दी गई मिलती है और जिनमें परिवृत्त होकर सुषम्ना नाड़ी का ऊपर की ओर अग्रसर होना बतलाया जाता है। ये दोनों नाड़ियाँ भी लगभग उसी प्रकार समानान्तर प्रवाहित होती हुई कही जाती हैं, जिस प्रकार गंगा और यमुना की प्रगति पायी जाती है और ये दोनों भी ठीक उसी प्रकार अंत में सुषुम्ना के साथ मिल जाती है जिस प्रकार गंगा एवं यमुना का सरस्वती के साथ मिलना समझा जाता है तथा जिस प्रकार गंगा, यमुना एवं सरस्वती के संगम को 'त्रिवेणी' कहा जाता है, उसी प्रकार इन तीनों के भी मिलन को यही नाम दिया जाता है। इसके सिवाय जिस प्रकार इन तीनों नाड़ियों के मिलन को मोक्ष का आधार माना जाता है, उसी प्रकार उन तीनों नदियों के संगम को भी महत्व प्रदान किया जाता है जिससे स्पष्ट है कि ये तीनों शरीरस्थ नाड़ियाँ उन तीनों के लिए एक दूसरे की प्रतीक भी मानी जा सकती हैं।

गंगा एवं यमुना को इस प्रकार महत्व देने की प्रवृत्ति बहुत दिनों से दी जाती हुई जान पड़ती है। बौद्धधर्म के उदय एवं विकास काल सम्बंधी ऐसे विभिन्न उदाहरण उनके अनुयायियों द्वारा मान्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं और इसके कई उल्लेख हमें उन विदेशी यात्रियों द्वारा दिये गए विवरणों में भी मिलते हैं जिन्हें उन्होंने यहाँ समय-समय पर आकर प्रस्तुत किये हैं। ऐसे ही कई प्राचीन यात्रियों के उपलब्ध लेखों के आधार पर डॉ० आर० सी० मजुमदार ने कहा है कि भारतीय लोग गंगा नदी की पूजा लगभग उसी प्रकार किया करते हैं, जिस प्रकार इन्द्र अथवा अन्य देवताओं की जाती थी। इसी प्रकार ईसा की चौदहवीं शताब्दी में यात्रा करने वाले इब्नबतूता के यात्रा-विवरणों से भी

पता चलता है कि गंगा नदी के लिए भारतीय लोग तीर्थयात्रा किया करते थे उसमें डुबकियाँ लगाते थे और उसमें मृतकों की राख भी प्रवाहित कर दिया करते थे। इब्नबतूता के अनुसार उस काल के भारतीयों का कहना था कि यह नदी स्वर्गीय नदी है तथा इसमें डुबकी लगाना अथवा डूब जाने का भी उद्देश्य कोई सांसारिक लाभ उठाना न होकर स्वयं परमात्मा को उपलब्ध कर लेना है जिसे वे अपनी भाषा में 'कुशय' का नाम देते थे। इस प्रकार डूब जाने के अनन्तर उसका शव जल से बाहर लाया जाता था और उसे जलाकर उसकी राख को फिर गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता था जिससे विदित होता है कि यह यात्री किसी 'जल समाधि' की ओर संकेत कर रहा है। गंगा के प्रति प्रकट की जाने वाली इस प्रकार की श्रद्धा वर्त्तमान काल में भी पायी जाती है, किन्तु इसके उदाहरण अधिकतर वहीं मिलते हैं जहाँ आधुनिक शिक्षा एवं संस्कृति का प्रभाव अत्यन्त अल्प लक्षित होता है। इस प्रकार की बातें बहुधा प्रचलित प्रथाओं के रूपों में भी दीख पड़ती हैं और उन्हें हम जितना सामाजिक संस्कारों तथा अन्धविश्वासों द्वारा प्रभावित कह सकते हैं, उतना धार्मिक महत्व नहीं दे सकते। इसके सिवाय गंगा एवं यमुना इन दोनों नदियों में से प्रथम का महत्व द्वितीय से कहीं अधिक जान पड़ता है, क्योंकि उसके लिए किसी ऐसे देवता अथवा अवतार के सम्बंध का भी बना रहना आवश्यक नहीं जैसा द्वितीय के प्रसंग देखा जाता है।

भाषा का स्वरूप

'बोली' का जब संस्कार एवं परिष्कार हो जाता है तो वह 'भाषा' बन जाती है। बोलचाल का माध्यम मात्र न रहकर वह शास्त्र तथा विज्ञान को स्थायित्व प्रदान करने का साधन बन जाती है। एक ऐसी स्थिति भी आती है, जब पंडितों द्वारा उसे परिनिष्ठित रूप भी दे दिया जाता है। परंतु भाषा जनमती ही नहीं, मरती भी है, बदलती भी है। इसी प्रकार विकसनशील भाषा हमारी सभ्यता और संस्कृति की कसौटी बन जाती है।

'भाषा' हो अथवा 'बोली' प्रत्येक का अपना नियम होता है, व्याकरण होता है। किन्तु वह ऐसी रेखा नहीं जो अनुल्लंघनीय हो। जो लोग भाषा को किसी चौखटे में कस कर फला-फूला देखना चाहते हैं वे कदाचित् मोहग्रस्त अधिक हैं, भाषा की प्रकृति से परिचित कम। पारिभाषिक शब्दावली विशेष प्रयोगों की हो सकती है। वैज्ञानिक शब्दावली की भाँति पहले भी धर्म-साधना के क्षेत्र में पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता रहा है।

परंतु सामान्य बोलचाल अथवा लिखने-पढ़ने की भाषा की प्रकृति किंचित् भिन्न होती है। उसका कोश शब्द-निर्माण द्वारा नहीं, शब्द-चयन द्वारा तैयार होता है। उसका स्रोत शास्त्र से बढ़कर जनता है जो नित्य नये-नये संपर्कों तथा अनुभवों द्वारा नये-नये शब्द-प्रयोग काम में लाया करती है जो राष्ट्रीय होकर भी संकुचित नहीं।

इस प्रकार सतत प्रवाहशील भाषा अपने भांडार की वृद्धि किया करती है। हमें ऐसी ही भाषा का स्वागत करना है। लिपि का प्रश्न भी भाषा की समस्या का एक अंग है। इसका भी समाधान यंत्र युग के सन्दर्भ में पाया जा सकता है। परंतु बात यहीं पूरी नहीं हो जाती। बर्तनी (वर्ण-विन्यास) की एकरूपता की ओर भी हमारा ध्यान, कम से कम मुद्रित साहित्य के सम्बंध में जाना चाहिए।